ॐ श्रीमते वायु-नन्दनाय नमः

मीमांसा-दर्शन

प्रस्तावना

आर्यावर्त्त प्रकृति नटी की रमणीय लीला-स्थली है। महादेवी प्रकृति को अपने उन्मुक्त स्वरूप में विहार करने का यहाँ स्वर्णिम सुयोग मिला है। नगराज हिमालय इसकी उन्नतता, सुदृढ़ता, अभेद्यता, देव-भूमिता एवं संपन्नता का परिचय दे रहा है, तो गंगा, यमुना व सरस्वती अपने कल कल निनाद के साथ इसकी पवित्रता, सरसता व शस्य-श्यामलता का संदेश पहुँचा रही हैं। इसी महामाया की असीम छत्र-छाया ने यहाँ के निवासियों को अमर शान्ति प्रदान की है व उनकी अविकसित आवश्यकताओं की पूर्ति करने का पावन प्रयोग यह सदा ही से करती आ रही है। भारत का वह स्वर्णिम युग—जिसका मानव आज के मानव के समान प्रतिक्षण विवृद्धि-शील आवश्यकताओं का क्रीतदास न था, इसी के साम्राज्य से प्रभावित था। इसके वरदहस्त से तत्कालीन मानव ने जीवन-संघर्ष पर विजय प्राप्त करली थी एवं उसके चारों ओर समृद्धि का साम्राज्य था। प्रकृति की निरंकुश प्रभुता के कारण ही इस देश को विश्व का पथ[१]-प्रदर्शक बनने का श्रेय प्राप्त था एवं इसकी गुण-गरिमा के संमुख संपूर्ण संसार नत-मस्तक था। अतएव देवता भी

१—एतद्देशप्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्या सर्व-मानवाः ॥
(मनु-स्मृतिः २ पृष्ठ।)

इसमें अवतरित होकर स्वयं को कृतकृत्य समझते थे। बौद्धिक और नैतिक बल का ही एकमात्र आधिपत्य था। विभव तो यहाँ मूर्तिमान् हो कर नृत्य कर रहा था—जिसके आधार पर आज भी इसे सोने की चिड़िया कह कर पुकारा जाता है। यहाँ की प्रजा अत्यन्त सभ्य, सुशिक्षित, सच्चरित्र और नैतिक-बल-संपन्न थी कि जिसके संबन्ध में कोई भी शासक गर्व कर सकता था—

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

इस मंगलमय वातावरण में मानव-मस्तिष्क की धारा का परम विकसित होकर लोक की ओर से पराङ्मुख हो जाना असंभव व अस्वाभाविक न था। मस्तिष्क की गति वैयक्तिक लाभ एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की सीमा पार कर चुकी थी-क्योंकि इनकी न आवश्यकता थी व न इनके लिए कोई क्षेत्र ही रह गया था। आज के राजनैतिक रोड़ों की तो कल्पना तक न थी। ऐसी स्थिति में केवल आत्मिक उत्थान ही एक प्राप्तव्य था-जिसकी ओर मानव अपने बौद्धिक एवं ऐन्द्रिक सामर्थ्य के साथ अग्रेसर हुआ। उसकी यह अग्रगति पर्याप्त कुशलता एवं दृढ़ता के साथ बढ़ी-जिससे इसे शीघ्र ही एक परिपाटी का स्वरूप प्राप्त हो गया। मानवीय इन्द्रियों की वृत्तियां बहिर्मुखता का त्याग कर [1]अन्तर्मुखी हो गई-जहाँ उनका कार्य केवल आत्म-निरीक्षण ही रह गया। वस्तुतः यही [2]आत्म-निरीक्षण मानवीय विकास की पराकाष्ठा और भारतीय परंपरा का परम प्राप्तव्य (मोक्ष) है।

१—पराञ्चि खानि व्यतृणत्। (कठोपनिषद्)

२—तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

(यजुर्वेद-रुद्राष्टाध्यायी २-१८)

आत्म-दर्शन के इस युग ने हमारी स्वतंत्र चिन्तन-शक्ति को प्रेरित किया। भारतीय दर्शन इसी के प्रतिफलन एवं हमारे प्राकृतिक वैभव, सामाजिक जागृति, विचार-स्वातंत्र्य, लौकिक-उच्चता, उद्भट विद्वत्ता एवं विकसित [1]वृत्तियों के प्रतीक हैं। इस प्रकार का साहित्य किसी भी राष्ट्र के लिए गौरव की वस्तु होता है एवं वह उसके स्वर्णिम युग एवं विवृद्ध वैभव का महान् साक्षी है। मैक्समूलर के शब्दों में "यही राष्ट्र इस दिशा में सबसे अधिक गवेशील है और इसकी यह ज्ञान परंपरा अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, दृढ़, प्रभावशील, अनुभव और सत्य[2] के अधिक निकट है"।

तत्वज्ञान की इस साधना का प्रवाह उत्तरोत्तर प्रगति की ओर बढ़ा। सामान्य सीमाओं को पार करते करते जब उसे लोक में अवतरित होने की आवश्यकता हुई, तो कर्म को अपना मूल माध्यम बनाना पड़ा। क्योंकि

---

1 (a)-It was only in a country like India, with all its physical advantages and disadvantages, that such a rich development of philosophical thought as we can watch in the six systems of philosophy."

(भारतीय दर्शन प्राक्कथन पृष्ठ ७ मैक्समूलर)

(b)-"But at a time when people could not yet think of public applause or private gain, they thought all the more of truth and hence they perfectly independent and honest character at most of their philosophy."

(भारतीय दर्शन प्राक्कथन पृष्ठ ८, मैक्समूलर)

2-"Hindu philosophers seldom leave us in doubt on such important points, and they certainly never shrink from the consequences of their theories. They never equivocate or try to hide their opinions where they are likely to be unpopular."

(भारतीय दर्शन प्राक्कथन पृष्ठ ९ मैक्समूलर)

इसके विना ज्ञान क्रियात्मकता से शून्य हो कर केवल मस्तिष्क की संपत्ति मात्र रह जाता। यहाँ आकर उसे व्यावहारिक स्वरूप मिला और वह अब आध्यात्मिकता को लेकर लौकिकता में प्रविष्ट हो गया। संक्षेप में हम इसे लोक और अध्यात्म का समन्वय कह सकते हैं।

कर्म इस समन्वय का माध्यम है और वेद प्रवर्त्तक। सैकड़ों को मात्रा में वेद ने कहीं लौकिक तो कहीं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समन्वयात्मक भावना के लक्ष्य से "यज्ञ, होम" की उपाधि देकर ये मार्ग निर्दिष्ट किये-जिनका इतना अतिशय प्रचार हुआ कि ये तत्कालीन गार्हस्थ्य-जीवन के अनिवार्य अंग बन गये। इनकी प्रतिष्ठा यहाँ तक बढ़ी कि इन्हें ही सर्वोत्तम धर्म[1] और इनके अनुष्ठाताओं को ही "धार्मिक अथवा धर्मात्मा[2]" कहा गया।

संक्षेप में ये ही यज्ञ याग प्राकृतिक महोत्सवों व नित्य-काम्य-विधियों के विभिन्न प्रकारों से मानवजीवन के एक नियत कार्यक्रम थे। इनकी इन्हीं नियत तिथियों एवं नियमित व्यवस्थाओं के आधार पर तो मैक्समूलर ने इनको प्राचीन भारत का "तिथि-पत्र" (कलैण्डर) कह कर संमानित किया है। प्राणी-मात्र के जीवन के साथ इनका संबन्ध ही नहीं था, अपितु वह इन्हीं पर एक-मात्र निर्भर था। यहाँ तक कि उसकी दैनिक जीवन-चर्या के अनिवार्य जीवनीय तत्त्व अन्न, जल व स्वच्छ वायु की प्राप्ति का भी यही एक भंडार था। इसी लिए इसी को संपूर्ण उत्पत्तियों[3] का केन्द्र घोषित किया और कर्म-योग के महान्

१—"यज्ञेन यज्ञमयजन्ता देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" (यजुर्वेद रु० ३-१६)

२—"यो हि यागादिकमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते"

(शाबर-भाष्य पृष्ठ २)

३—अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यः, यज्ञः सर्व-समुद्भवः॥

उन्नायक श्री कृष्ण ने इसे कामधेनु[१] की उपाधि दी। इसकी प्रभुता और सार्वदेशिकता के लिए ये ही निदर्शन पर्याप्त हैं।

विधि के इस महत्त्व-संपन्न विधान पर असंख्य जन-समुदाय जब जीवन तक समर्पित किये बैठा था, तो फिर इसके विकास में भला कौन रोड़ा अटका सकता था। इसकी व्यापकता यहाँ तक बढ़ी कि यह इस लोक की विभव-प्राप्ति ही का क्या, असीम आनन्द (मोक्ष) की संपत्ति तक का मापदंड बन गया। जीवन में यह सर्वशः व्यापृत हुआ। इसके बिना हमारी [२]अवस्थिति तक असंभव हो गई। जीवन के प्रत्येक भाग में इसके दर्शन हुए। किसी समय वाणी में प्राणों की आहुति तो कभी प्राणों में वायु की आहुति ने इसे शाश्वत और स्वाभाविक बना दिया। हमारा भोजन भी इसी के एक प्रकार के रूप में आहृत हुआ, उसे हमने अपने आस्वाद का साधन नहीं माना। वैदिक वाङ्मय इसका प्रत्यक्ष साक्षी है। हमारे अध्ययन अध्यापन भी इसीके निमित्त हुए। संक्षेप में ये यज्ञ-याग भारतीय जीवन के सर्वस्व थे एवं हमारी संपूर्ण जीवन-चर्या इन्हीं पर निर्भर ही क्या, अपितु इन्हीं के लिए थी। इससे हम इसकी गरिमा का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

यह एक सर्व-संमत तथ्य है कि विचारकों के विविध समुदाय अथवा असंख्य जनता के संपर्क में आने वाली विकास-शील प्रवृत्ति कभी भी एक रूप नहीं रह सकती। बारह बारह कोश के अंतर में जब भाषा और उच्चारण के प्रकार ही परिवर्त्तित हो जाते हैं, तो फिर इसके लिए तो कहना ही क्या है। इसका क्षेत्र तो अतिशय विशाल था। वास्तविक तथ्यों की निर्विवादता के रहते हुए भी इसके अनुष्ठान की धाराओं का

१—सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम्, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (गीता ३-१०)

२—"जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता)

इतस्ततः प्रवाहित हो जाना सहज था। धीरे धीरे ज्ञान के विकास के साथ साथ इतनी अधिक मात्रा में अनेक सरणियों में यह प्रवाहित हुआ कि जिनका नियंत्रण अनिवार्य हो गया। कर्म की इसी विश्रृंखलित प्रणाली को श्रृंखलित करने के लिए ही ब्राह्मण भाग एवं कल्प-सूत्रों का उदय हुआ।

किन्तु यह कार्य उतना सहज नहीं था। वेद की भिन्न भिन्न शाखाओं के प्रचार एवं याज्ञिकों की विभिन्न सरणियों के प्रसार से इस ओर नियत मार्ग निर्धारित करना दुर्भर कार्य था। उस काल की परिस्थिति ने तो इसे और भी प्रपंचमय बना दिया था। इसी में धारण, निष्पादन एवं परिरक्षण की क्षमता अंगीकृत थी। अनादि साहित्य से इसका समुद्भव था, इसीलिए इसकी अनादिता, अनन्तता और अटलता निर्विवाद थी। इसकी धारणा-शक्ति के कारण ही इसे धर्म और संप्रदान-[१] शीलता के आधार पर ही "यज्ञ" कहा जाता है। इसी की विभिन्न प्रणालियां ब्राह्मण-भागों में निर्दिष्ट की गई, किन्तु उनके वैविध्य को एकता की ओर व विभिन्नताओं को समन्वितता की ओर अग्रसर करने का एक महत्त्वपूर्ण कार्य न उनसे व न कल्प-सूत्रों से ही पूरा हो सका। जिसे हठ और आग्रह के साथ नहीं, किन्तु विचार के साथ पूरा करना था।

संक्षेप में इन्हीं यज्ञीय-परंपराओं का विकास मीमांसा-दर्शन की प्रस्तावना है। यह आवश्यकता ही इसके आविष्कार की जननी है और उन पद्धतियों को शास्त्रीयता व स्थायिता प्रदान कर दार्शनिकता की ओर ले जाना ही मीमांसा-दर्शन का ध्येय है।

१—"यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (पाणिनि-व्याकरण भ्वादि-गण)

सामान्य-परिचय

मीमांसा का शब्दार्थ :-

व्याकरण के प्रचलित स्वरूप के प्रवर्तक आचार्य पाणिनि "मान्" धातु से सन् प्रत्यय का विधान कर "मीमांसा"[1] शब्द को निष्पन्नकराते हैं। यह मान् धातु[2] पूजा एवं विचार दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है। महर्षि कात्यायन इसी धातु से होने वाली सन् प्रतीति की "मानेर्जिज्ञासायाम्" (३-१-६) कह कर जिज्ञासार्थता प्रकट करते हैं। विद्वत्समुदाय को इसी सन् की विचारार्थकता अभिप्रेत है और इसी अभिप्राय में वह इसे प्रयुक्ति पथ पर ला रहा है।

शाब्दिक महत्त्व:-

आर्थिक समानता के रहते हुए भी कुछ एक शब्द अपने पर्यायों से निजी विशिष्टता रखते हैं। आभिप्रायिक दृष्टि से नूतनता न रहने पर भी उनमें एक विशिष्ट शक्ति अंतर्हित रहती है, जिसे शब्द गत या शब्द विशेष पर आधारित रहने के कारण "शाब्दिक महत्त्व" के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। शब्द की यही अन्तर्हित शक्ति काव्य के क्षेत्र में शब्दालंकार की जननी है। प्रस्तुत शब्द भी एक उसी प्रकार की शक्ति का निधान है, जिसका विद्वद्वर्ग अपरिमित काल से स्वागत करता हुआ आ रहा है। अनुसन्धान, परीक्षण, विचार, वितर्क, विवेचन आदि अनेक अभिप्राय इस एक शब्द में अविरोधपूर्वक एक साथ निहित हैं।

१—मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य (पाणिनि ३-१-६)

२—मान-पूजायाम्, भ्वादिः, मान विचारे, चुरादिः।

अतएव वाङ्मय के विभिन्न अंग इस शब्द के महत्त्व से प्रभावित हुए विना नहीं रहे। भगवत्पादाचार्य श्री शंकर ने तो इसी के साथ अपनी अक्षय्य ज्ञानराशि को (ब्रह्ममीमांसा) संबन्धित किया। उनके क्षेत्र में यह शब्द विचारार्थकता तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु साधारण विचारात्मकता की सीमा से समपेत हो कर पूजित विचारों का वाचक[1] बन गया। इतना ही नहीं, जहाँ अधिकरण की कसौटी पर रख कर विवेचना पूर्वक विषय का निर्णय किया गया, वहाँ यही शब्द परीक्षण, विचार, वितर्क विवेचन आदि उपयुक्त अनेक अभिप्रायों को एक साथ लेकर प्रयुक्त हुआ। जहाँ समन्वयकी समस्या उत्पन्न हुई, वहाँ इसका पदार्पण युक्ति अथवा न्यायात्मकता[2] को लेकर हुआ। सारांशतः जहाँ तक गंभीरतर विषयों के सूक्ष्मतम विवेचन का प्रश्न है, वहाँ उस विशाल आशय को संक्षेप में अभिव्यक्त करने के लिए इससे उत्कृष्ट कोई शब्द प्रयुक्तिपथ पर नहीं, यह एक निर्विवाद सत्य है जो इसके "शाब्दिक महत्त्व" का साक्षी है।

प्रायोगिक इतिवृत्त :–

वाङ्मय के प्रथम विलास से आज तक इस शब्द का प्रयोग अनवरत होता आ रहा है। आधुनिक समीक्षकों की समीक्षा के अनुरूप वैदिक साहित्य की पौरुषेयता अंगीकृत करने पर भी उसे सृष्टि के आदि-साहित्य मानने में तो किसी को कुछ विप्रतिपत्ति नहीं है। उस आदि वाङ्मय के विभिन्न भागों में इस शब्द का समाम्नान है–जिसका काल वस्तुतः गणनातीत है। यदि विश्व के उस विभवशाली वाङ्मय को भारतीय पद्धति के अनुसार अपौरुषेय मान लिया जाता है, तब तो कहना

१—पूजितविचारवचनो मीमांसा-शब्दः।
(ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ४६ पृष्ठ बाम्बे संस्करण)

२—सा न्यायात्मिका मीमांसा (ब्र. शां. भा. ४६ पृष्ठ कल्पतरु)

हो क्या, इस शब्द का प्रायोगिक इतिवृत्त और भी महत्त्व-संपन्न हो जाता है। उसको ईश्वरकृति के रूप में अपनाने पर तो इस शब्द को भी उस ऐश्वर्यमयी विभूति के मुखारविन्द से निःसृत होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। तैत्तिरीय [१] व काठक[२] आदि संहिताओं एवं ब्राह्मण[३] भाग में भी इस प्रकार के प्रयोग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। वेद के अंतिम अथवा ब्राह्मण-भाग के अनुवर्ती परिच्छेद में (उपनिषद्) अनेक स्थलों को इस शब्द ने सुशोभित[४] किया है। अनुशीलन यह भी बताता है कि संहिता एवं ब्राह्मण भाग में यह शब्द जिस प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुआ, उपनिषद् भाग में नहीं। मध्यकालीन साहित्य ने भी इस शब्द का पर्याप्त आदर किया–१० वीं शताब्दी के साहित्य-महारथी राजशेखर यायावरीय ने साहित्य शास्त्र की सूक्ष्मतर समीक्षाओं से संपन्न अपने ग्रंथ को काव्य-मीमांसा के नाम से संबोधित किया। अपने ग्रंथ के प्रतिज्ञा वाक्य में भी उसने विचारात्मकता के अभिप्राय में "मीमांस्य"[५] शब्द का उपादान कर अपनी अतिशयित आस्था का परिचय दिया। वेदांत शास्त्र भी उत्तर मीमांसा अथवा "ब्रह्ममीमांसा" के नाम से व्यवहृत होने लगा। आज के युग में भी समीक्षात्मक ग्रंथ सूत्र रूप में अपना आशय अभिव्यक्त करने के लिए "साहित्य-मीमांसा" ज्वर-मीमांसा" आदि विभिन्न प्रकारों से इस शब्द का आश्रय लिये हुए हैं। ये सब इसके सोपपद प्रयोग हैं–जिनका जन्म मध्य-युग में हुआ है। वैदिक साहित्य के अनन्तर आने वाले समय

१—इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः (तैत्तिरीय-संहिता ५-७-१)

२—उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते (काठक–संहिता–३-३-७)

(A) इति मीमांसन्ते (मैत्रायणीय-संहिता १-८-५)

३—उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यम् (कौषितकी–ब्राह्मण

(A) ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसेत (तांड्य-महाब्राह्मण ६-५-६।

४—सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति (तैत्तिरीयोपनिषद् ८ अनुवाक)

५—इयं नः काव्य-मीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्।

इयं सा काव्य-मीमांसा मीमांस्यो यत्र वाग्लवः॥

में "मीमांसा" शब्द का निरुपपद प्रयोग विचार की एक नियत परिपाटी के रूप में होने लगा। फिर भी जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से विस्पष्ट है, वाङ्मय के विभिन्न वर्ग उसके महत्त्व से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रहे और उनने उसे आदरणीय स्थान दिया। यही उसका संक्षिप्त प्रायोगिक इतिवृत्त है—जो इसको गौरव और प्रतिष्ठा के परिचय के लिए पर्याप्त है।

मीमांसा का उदय

मानव विचार-प्रधान प्राणी है, उसकी यही चिन्तना-जिसका आधार बौद्धिक शक्ति है, उसे पशुता से पराङ्मुख करती है। विचार की पूर्णता ही में मानवता है। विचार-हीन मानव पशुता से भी बढ कर दानव बन जाता है। आहार विहार व्यवहारों की समानता होते हुए भी मनुष्य इतर प्राणियों की अपेक्षा अपनी विवेक-बुद्धि के ही द्वारा महनीय बना है। इतिहास हमें बताता है कि विवेक-शून्य मानव अपने उस आदि-काल में एक प्रकार का पशु था। ज्यों ज्यों विवेक-बुद्धि का उदय हुआ, मानव अपने अन्य सहयोगी जीवों से उत्कृष्टता प्राप्त करने लगा, यही उसका विकास मार्ग है। इस ओर प्रगति करने में उसे संख्यातीत संवत्सरों को सीमाएँ पार करनी पड़ीं। ज्यों ज्यों उसकी इस शक्ति की समृद्धि हुई, वह प्रगतिशील बना और आज तक भी वह उसको पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच सका है। केवल यही एक ऐसा माध्यम है-जिसने उसके प्रत्येक कार्य में विलक्षणताओंकी सृष्टि की है। आज हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा हमारी आहार-विहार क्रियायें भी—जो किसी काल में सर्वथा समान थीं—कितनी सुसंस्कृत होगई हैं। मानवीय जीवन के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश पर इसकी अमिट छाप है। वस्तुतः मानव बुद्धिवादी पशु है और उससे जब यह बुद्धि या विचार का अंश अदृश्य हो जाता है, तो उसमें और पशु में कोई तात्त्विक अंतर नहीं रह जाता।

अतएव विचार का आरंभ ही मानवता का श्री गणेश, व विचार का इतिहास ही मानवता का इतिहास है। विचार के उत्थान में ही मानवता

का उत्थान निहित है। यही विचार जब सहस्त्रों वर्षों की अनुभूतियों से परिपक्व, दृढ़ एवं नियत स्वरूप प्राप्त कर लेता है, तो आचार के रूप में परिणत हो जाता है–जिसे प्रथम[१] कर्तव्य के रूप में भारतीय परंपरा स्वीकार करती है। विचार ही की सत्य-समन्वित पराकोटि आगम के क्षेत्र में मीमांसा शब्द से वाच्य है, व विचार प्रधान प्रस्तुत आगम मीमांसा-शास्त्र रूप से।

इसी विचार प्रमुखता के आधार पर अन्वेषण करने पर विचार-शास्त्र की प्रवृत्ति, अथवा मीमांसा के उदय का इतिवृत्त महर्षि जैमिनि से अनेक परंपराओं पूर्व तक पहुँच जाता है। भारतीय वाङ्मय की प्रथम विभूति वेद में अनेक स्थानों पर विचार प्रवर्तित हैं। मीमांसा-दर्शन के मन्तव्य की थोड़ी देर के लिए उपेक्षा कर केवल आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा करने पर निम्न परिणाम प्रतिभासित होता है। यजुर्वेद के ज्योतिष्टोम प्रकरण में समाम्नात—

> "प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्, स तपोऽतप्यत, तस्मा-
> त्तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त, अग्निः, वायुः, आदित्यः।
> ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त-
> अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेद इति"

इन वाक्यों पर समालोचनात्मक दृष्टि डालने पर वेदों के पौर्वापर्य का समय संकेतित हो जाता है। वेदत्रयी में ऋग्वेद का आविर्भाव सर्वतः पूर्व व यजुर्वेद का उसके अनतर हुआ, यह हमारे प्रतिदिन के प्रायोगिक अनुभव से भी सिद्ध हैं। इसी प्रकार उपनिषदों की शैली उन्हें सबसे अर्वाचीन प्रमाणित करती है, व उन्हीं के आधार पर प्रवर्त्तित "वेदांत-शास्त्र" भी उनकी वेदांतता की साक्षी दे रहा है। ऋग्वेद हमारे वाङ्मय

१—आचारः प्रथमो धर्मः।

को प्रथम लहर है, तो यजुर्वेद द्वितीय। ऋग्वेद का मानव कुछ मुग्ध सा जान पड़ता है; वह कहीं अनेकदेववादी तथा अधिदेववादी बन कर प्रस्तुत होता है। किन्तु उस युग के अंतिम चरण में मानव की विवेक-शक्ति कुछ विकसित सी प्रतीत होती है—जहाँ वह दृढ़ता के साथ एक[1] देववादी बन जाता है। यजुर्वेद में विहित कर्मों का भंडार तत्कालीन मानव को कर्मानुष्ठान में लीन बताता है—और वही मानव उपनिषद्-काल में आकर प्रचुर दार्शनिक और आत्मचिंतन में तत्पर दिखाई[2] देता है। फिर भी कर्म के प्रति एक स्वाभाविक विवेक उसमें है। वह क्रमशः प्रतिभाशाली सुशिक्षित और विवेक-शील प्रतीत होता है। इसीलिए ऋग्वेद के अंतिम व यजुर्वेद के प्रारंभ का यही संक्रमणकाल वस्तुतः विचार का प्रारंभ है। जिसका समय आधुनिक ऐतिहासिक[3] ईसा से ७००० वर्ष पूर्व अनुमानित करते हैं।

यजुर्वेद के प्रारंभ ही (१-५-६) में विचार प्रवर्त्तित हैं जिन्हें देखने से यह अवगत होता है कि उस काल का मानव विवेकशील एवं प्रतिभाशाली था। विवेक का यह विकास क्रमशः बढता गया, ब्राह्मण भाग तक तो उसे एक नियत स्वरूप भी प्राप्त होगया। ब्राह्मण भाग के

१—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति. अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋग्वेद)

(A) "In the hymns of Rigveda we can trace the various phases of the development of philosophy from the stage of Polytheism to henotheism and later on to Monotheism.

२—When we come to Upanishadas we find there sources of all systems of Philosophy both orthodox and heterodox.

(Notes on six system of Indian Philosophy,
by Prof. Kuppuswani Sastri.)

३—भारतवर्ष का इतिहास, (भगवद्दत्त पृष्ठ ७८)

अनेक प्रकरणों में विचार की यह प्रणाली "मीमांसा" के नाम से व्यवहृत की गई। शैली के परिशीलन से ब्राह्मणों में भी मैत्रायणीय एवं तैत्तिरीय शाखाओं की प्राचीनता व ऐतरेय आदि की अर्वाचीनता स्पष्ट है, क्योंकि उनकी वर्णन-प्रणाली शब्द-शास्त्र के नियमों से अनुबद्ध, लौकिक संस्कारों से संस्कृत, कथावस्तुओं पर आधारित तथा काव्य के अनुरूप है, अतः उनकी अर्वाचीनता युक्ति-सिद्ध है। मैत्रायणीय एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों की अभिव्यंजना शैली वैदिक-पद्धति के अनुरूप है। अत एव उनकी प्राचीनता प्रतीतिगम्य है। प्रसिद्ध विचार शास्त्री ए. बी. कीथ महोदय ने भी इसी तथ्य को अपनी कर्म-मीमांसा में इन शब्दों में प्रकट किया है:—

"Not rarely in the Brahmanas, especially in later texts like the Kausitaki the term Mimansa occurs etc" (page 18)

मैत्रायणीय[1] तथा तैत्तिरीय[2] शाखामें विभिन्न स्थानों पर विचार प्रवर्त्तित किये गये हैं। इन दोनों शाखाओं में भी विचार की प्रमुखता तैत्तिरीयकी अर्वाचीनता, एवं विचार की अल्पता मैत्रायणीय की प्राचीनता प्रतिपादित करती है। विचार की इसी धारावाहिक परंपरा का विकसित एवं नियत स्वरूप मीमांसा है—जिसका ऐतिहासिक उदय ब्राह्मणभागसे है। अतः यही ब्राह्मणकाल वस्तुतः मीमांसा के उदय का काल है—जहाँ से इसकी धारा एक अविच्छिन्न प्रवाह के साथ शाश्वत बहती चली आरही है।

१—ब्रह्मवादिनो वदन्ति—यदेको यज्ञः चतुर्होताथ कस्मात् सर्वे चतुर्होतार उच्यन्ता इति। (मैत्रायणीय-संहिता-१-६-६ एवं-१-४-४)

२—तैत्तिरीय-संहिता-१-५-६, ५-५-१, ५-५-३, ६-१-४, ६-१-८, ६-५-६ आदि।

मीमांसा की अनेक रूपता

(क) समयविद्या

उदय होने के साथ ही इसके विकास में भी अधिक समय नहीं लगा, क्योंकि यह एक इस प्रकार के मूल को लेकर चली थी, जो जीवन का मूल था। जीवन के उस अनिवार्य अंग के विवेचन का प्रमुख कार्य यद्यपि इस काल में कल्पसूत्रों पर था, किन्तु वे भी मीमांसा-न्यायों के प्रभाव से सर्वथा अनुप्राणित थे। उनके मंतव्यों में मीमांसाके न्याय अनूस्यूत थे। प्रयोग के संबन्ध में उन सूत्रकारों ने जो क्रम या निर्णय प्रस्तुत किये हैं, वे वस्तुतः मीमांसा-न्यायों के निकष पर कसे हुए हैं। इस मंथनसे उनका अच्छी तरह विलोडन किया गया है, व वे उसी विलोडन से निकले हुए नवनीत हैं। यही कारण है, कि कल्पसूत्रों तथा मीमांसा का परस्पर आधाराधेयभाव है। कल्पसूत्र एक प्रकार के प्रयोग शास्त्र हैं। जिस प्रकार आयुर्वेद के विचार और प्रयोग ये दो रूप हैं और वे दोनों विभिन्न होते हुए भी एक हैं-विचार जो निर्णय देता है, वही प्रयोग में लाया जाता है-प्रयोग चरक आदि के द्वारा प्रस्तावित विचारों पर ही आधारित रहता है-वही स्थान उसी रूप में मीमांसा शास्त्र को प्राप्त है। मीमांसा-शास्त्र ने जो निर्णय दिया, कल्प-सूत्रोंने उन्हें ही प्रायोगिक रूपसे स्वीकृत किया-जिससे उनकी प्रयोग शास्त्रता उतपन्न हुई। किन्तु विचार की यह परम्परा-जिसका पर्याप्त विकास ग्रंथों के रूपमें न होकर व्यावहारिक रूप में होगया था-उस काल में मीमांसा नामसे व्यवहृत नहीं थी। इसने समय समय पर भगवान विष्णु की तरह स्वयं को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। सूत्रकाल में यही परिपाटी "समय" शब्द से प्रचलित थी। आपस्तंब महर्षि ने[1] अपने श्रौत-सूत्र के

१— अथातः सामयिकाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः।

(A.) धर्मज्ञ—समयप्रमाणम्। (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १–२)

प्रारम्भिक दो सूत्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। इनमें प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए उज्ज्वला-टीकाकार आचार्य हरदत्त ने[1] इसी व्यवस्था व विचार की उपर्युक्त पद्धति के अभिप्राय में समय शब्द को प्रमाणित किया है। वहाँ तक जाने की कोई आवश्यकता नहीं-स्वयं सूत्रकार (आपस्तंब) द्वितीय सूत्र में "धर्मज्ञ-समय" को प्रमाण रूपसे स्वीकृत कर मीमांसान्यायसिद्ध अर्थों में अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त करते हुए इस व्यवस्था को परंपराप्राप्त सिद्ध कर रहे हैं। इतर स्थानों में भी समय-विद्या के नाम से (रूप से) इन न्यायों को स्वीकृत किया गया है। यही मीमांसा का प्रारंभिक एवं प्रथम स्वरूप है।

(ख) न्याय अथवा तर्क विद्या

प्रारंभिक युग के अनन्तर काल में इसी युक्ति कलाप को अनेक संवत्सरों तक "न्याय[2]" के नाम से व्यवहृत किया गया। वस्तुतः यह संगत भी था। न्याय के लिए जितनी सामग्री इस शास्त्रने प्रस्तुत की, आज के प्रचलित न्यायशास्त्रने नहीं। इसके विभिन्न न्यायालयों (अधिकरणों) द्वारा घोषित न्याय लोक व शास्त्र दोनों क्षेत्रों में समान रूपसे आहृत हैं। जिस प्रकार एक न्यायालय (कोर्ट) में प्रतिवादी की पुष्टि करने वाला वाध्कील इतर न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय को उद्धृत कर न्यायाधीश को तदनुरूप निर्णय देने के लिए बाध्य करता है-उसी तरह इसके न्याय भी निर्णयका आग्रह करते हैं।

१— समयः पौरुषेयी व्यवस्था तन्मूला आचाराः, तत्र भवाः सामयाचारिका धर्माः। (उज्ज्वला २ पृष्ठ)

२— अंगानांतु प्रधानैरव्यपदेशइति न्यायवित्समयः।
(आपस्तंब सूत्र II, ४. ८. १३.)

(A) अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदः।
(आपस्तंब सूत्र II, ६, १४, १३,)

इनकी प्रामाणिकता एवं महत्त्व सर्वानुमोदित हैं। "हिन्दू न्याय" (ला) इन्हीं का परिष्कृत रूप है। वस्तुतः इस शब्दका प्रयोग इसी वाङ्मय के लिए संगत है, न जाने क्यों इसे प्रचलित वाङ्मय की शब्दज्ञानप्रधान धारा के साथ संलग्न कर दिया है। मीमांसा के अनेक ग्रन्थों में इस शब्दका उपादान हुआ है-और इसीके साथ संयुक्त कर अनेक ग्रन्थों का नामकरण भी[१] किया गया है।

जिस धारावाहिक गति के साथ गोतम प्रवर्त्तित न्याय शास्त्र का प्रचार बढता गया, मीमांसाशास्त्रियों ने इस शब्द से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना प्रारम्भ कर दिया। न्याय समाख्या के साथ इन विचारों के परिणाम की संगति में किसी भी मनीषी मनुष्य को संशय नहीं है, अत एव इसका न्यायविद्यात्व अपरिहार्य है।

धर्मजिज्ञासा के इन्हीं उपकरणों को कतिपय स्थलों पर "तर्क" के नाम से भी उद्घोषित किया गया है। हिन्दू विधान के प्रवर्त्तक आचार्य मनु[२] ने धर्म-ज्ञाता को परिभाषित करते हुए इन्हीं विचारों का तर्क के नाम से उपादान किया है। यह एक अभिख्या ही हो सकती है। वस्तुतः जिस अप्रतिष्ठा[३]-कार्यकारिता में आज यह शब्द प्रचलित है—उसके साथ तो धर्मका काल्पनिक संबन्ध भी अशक्य है। हो सकता है-न्याय के अभिप्राय में आज की प्रचलित प्रणाली की तरह इस शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया हो। किन्तु न्याय शब्द की जितनी संगति उपर्युक्त

१— मंडन मिश्र के विधि-विवेक की व्याख्या "न्याय कणिका" (वाचस्पति मिश्र)

(A) न्यायरत्नमाला (पार्थसारथि मिश्र)

(B) न्यायमाला-विस्तर (आचार्य माधव)

२—यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः। (मनुस्मृति)

३—तर्कोऽप्रतिष्ठः।

विचारधारा के साथ है, तर्क की लेशमात्र भी नहीं। यही कारण है कि इसे व्यावहारिकता प्राप्त नहीं हो सकी।

(ग) मीमांसा

आचार्य शंकर के शब्दों में पूजित[1] विचारों की निधि यह विचार-सरणि सर्वसंमतरूप से "मीमांसा" नाम से बोध्य हुई। जब कि चतुर्विध पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ पर यह अपने दृष्टिकोण प्रकट करती है, उसे नियमित बना कर उसके क्रम पर शास्त्रीयता की मोहर लगाती है—तब फिर इसके विचारों की पूज्यता में भला किसे संदेह हो सकता है। अत एव काल की गणनातीत परिधि से इन पूजित विचारों का इसी महत्त्व-पूर्ण शब्द से समाख्यान होता आ रहा है। पार्थ-सारथि मिश्र ने अपने श्लोक-वार्तिक के व्याख्यान में मीमांसा की अनादिता सिद्ध करते हुए निम्नलिखित परंपरा[2] उद्धृत की है:—

"ब्रह्मा ने प्रजापति को मीमांसा का उपदेश दिया, प्रजापति ने इन्द्र को, इन्द्र ने आदित्य को, आदित्य ने वशिष्ठ को, वशिष्ठ ने पराशर को, पराशर ने कृष्ण द्वैपायन को एवं द्वैपायन ने जैमिनि को शिक्षा दी। जैमिनि ने अपनी शिक्षा के अनन्तर इन न्यायों को ग्रंथ के रूप में उपनिबद्ध किया"।

आचार्य कुमारिल[3] भी इस गुरु-पर्वक्रम की ओर संकेत करते हैं। पर्याप्त अनुसन्धान करने पर भी यह विदित न हो सका कि पार्थसारथि

१—पृष्ठ ८ की टिप्पणी देखिये।

२—"ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, सोऽपींद्राय, सोऽप्यादित्याय, स च-वशिष्ठाय, सोऽपि पराशराय, पराशरः कृष्णद्वैपायनाय, सोऽपि जैमिनये, स च स्वोपदेशानन्तरमिमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवानिति" (नायकरत्न पृष्ठ २)

३—"क्रियानन्तर्यरूपोवा गुरुपर्वक्रमोऽपि च" (श्लो० वा०)

मिश्र ने यह क्रम किस आधार पर प्रस्तुत किया है, एवं कहाँ से उद्धृत किया है। फिर भी इस वाक्य की प्रामाणिकता में संदेह करना परंपरा के साथ अन्याय करना है। इसी क्रम पर आस्था रखते हुए शास्त्रदीपिका के प्रथम व्याख्याता आचार्य रामकृष्ण[1] ने उपर्युक्त क्रम को कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। क्रम की प्रामाणिकता के संदिग्ध होने पर भी इतना तो इससे निश्चित किया जा सकता है कि जैमिनि ने जिन न्यायों को ग्रन्थ के रूप में ग्रथित किया, वे ही न्याय अथवा सिद्धान्त प्राचीन काल से ही "मीमांसा" नामसे अभिहित थे - यह सिद्ध करना ही इस प्रसंग के लिए पर्याप्त है।

(अ) मध्य कालः—पूर्वार्द्ध

यह तो प्रत्यक्ष है कि महर्षि जैमिनि ने अपनी लेखनी से निज प्रवर्त्तित विचार-धारा के लिए मीमांसा शब्द का प्रयोग नहीं किया, यदि इतस्ततः कहीं किया भी हो, तो वह अप्रत्यक्ष अथवा अप्राप्त है। इस शब्द में जो अभिप्राय अंतर्हित थे, उनके लिए जैमिनि ने अपने प्रतिज्ञा सूत्र में "जिज्ञासा" पद का सांकेतिक प्रयोग किया है। इसी अधार पर आचार्य शबर[2] भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुये विचार की अभीप्सित पद्धति को जिज्ञासा-शब्द से संबोधित करते हैं।

आचार्य शंकर[3] पर भी इसका प्रभाव पडे विना नहीं रहा-अत एव उनने भी अपनी विचार की शैली के लिए मीमांसा के सांकेतिक अभिप्राय में जिज्ञासा शब्द ही का प्रयोग किया। इतना ही क्या ब्रह्म-मीमांसा

१—सिद्धान्त चंद्रिका ४ पृष्ठ, १२ पंक्ति, निर्णय (सागर सत्करण)

२—"अविचार्य प्रवर्तमानः किंचिदेव उपाददानः विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत, तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः" इति। (शावर भाष्य १ पृष्ठ)

३— ब्रह्म जिज्ञासितव्यं न वा। (ब्रह्म-मीमांसा भाष्य १-१)

के प्रवर्त्तक बादरायण[१] एवं वैशषिक दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य कणाद[२] पर भी इस शब्द का प्रभाव स्पष्ट है। उपर्युक्त विवेचना से प्रत्यक्ष है कि विचार की यह परंपरा किसी समय में "जिज्ञासा" पद से भी व.-य थी। शब्द-शास्त्र द्वारा परिगणित धातुपाठ में पठित मान् धातु की जिज्ञासार्थता भी इसी की साक्षी है।

(आ) उत्तरार्द्ध

मध्यकाल के पूर्वार्द्ध ने जिस शब्द को आदर के साथ अपनाया, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर उत्तरार्द्ध ने उसको स्थान नहीं दिया। उसने "मानेर्जिज्ञासायाम्" सुनकर अंधविश्वास नहीं किया। अपितु इस संबन्ध में आवश्यक विश्लेषण[३] भी किया। आत्मा की वह प्रथम प्रक्रिया-जिसके द्वारा वह इन्द्रियों को ज्ञानके लिए प्रेरित करती है-जिज्ञासा है-जो एक प्रकार से ज्ञानेच्छा-रूप है। इससे पराकोटि मीमांसा है-जिसमें प्रवृत्ति कराने का कार्य जिज्ञासा का है। जिज्ञासा यदि प्रथम स्थिति है, तो मीमांसा उसका विकसित रूप। वह तो एक प्राणि-मात्र में रहने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अचानक घंटारव को सुनकर

---

१ — अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र० मी १-१)

२ — अथातो धर्मजिज्ञासा (वै० द० १-१)

३ — जिज्ञासापदस्य ज्ञानेच्छारूपक्रियावाचकस्य मीमांसापर्यायत्वाभावात्,— श्रोतृक्रिया हि ज्ञानेच्छारूपा जिज्ञासा, वक्तक्रिया तु विचारात्मिका मीमांसा, कुतस्तयोरैक्यम्" (शास्त्रदीपिका—सिद्धान्त चंद्रिका पृष्ठ ४)

(A) "ज्ञानेच्छावाचकत्वात् जिज्ञासापदस्य, प्रवर्त्तिका हि मीमांसायां जिज्ञासा स्यात्। नच प्रवर्त्यप्रवर्त्तकयोरैक्यम्।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (भामती पृष्ठ ४८)

(B) जिज्ञासैकोपनीतस्य द्वितीया पठितश्रुतेः।
ज्ञातविद्यान्तरस्यान्या या मीमांसापुरस्सरा॥

(न्या० र० पृष्ठ ६)

चलता हुआ वृषभ भी भौंचक्का होकर इधर उधर देखता है, यह जिज्ञासा मानव की तरह उसमें भी उसके आत्मिक सामर्थ्य के अनुकूल है। किन्तु मीमांसा पशु में अथवा साधारण मानव में नहीं रह सकती। प्राणिमात्र जिज्ञासा का अधिष्ठान हो सकता है, किन्तु मीमांसा का नहीं। उसके अधिष्ठान बनने के लिए तो विद्याविकास संपन्न होना अनिवार्य है। इसी मौलिक अंतर के आधार पर उत्तरार्द्ध के उन्नायकों ने पर्याप्त विश्लेषण के पश्चात् जिज्ञासा शब्द का प्रयोग समाप्त सा कर दिया और उसे विचार अर्थ बताने में असमर्थ मान कर लाक्षणिक घोषित कर दिया।

स्वयं आचार्य शबरने यद्यपि मीमांसा शब्द का प्रयोग नहीं किया, पर इसमें कोई संशय नहीं कि इस विचार-भंडार को उनने "मीमांसा" ही के नाम से परिगृहीत किया था। उनके भाष्य ही को सर्वसम्मति से मीमांसा सूत्रों पर प्राप्त प्रथम ग्रंथ माना जाता है। उनके अनुवर्ती लेखक कुमारिल भट्ट ने अपनी रचनाओं में इस शब्द पर पर्याप्त विश्लेषण किया है-जिसकी समीक्षा करने पर निश्चित हो जाता है कि उस काल तक इस आगम के लिए "मीमांसा" शब्द का प्रयोग व्यापक हो गया था। भट्ट ने इसे शास्त्र और विद्या आदि संमान-सूचक पदों के साथ प्रयुक्त किया है। वे इसे एक उत्कृष्ट शास्त्र और विकसित विद्या[१] सिद्ध करते हैं। उनके समय से इस शब्द का प्रयोग और आदर दिनों दिन विकसित होता गया।

(घ) तंत्रविद्या

महर्षि जैमिनि की इस विचार-धारा को संबोधित करने के लिए दूसरा अधिक व्यापक आख्यान तंत्रविद्या अथवा तंत्रशास्त्र है। व्यावहारिक रूप में चाहे न हो, पर शास्त्रीय रूप में इस शब्द का प्रयोग प्रचुर

१—मीमांसाख्यातु विधेय बहुविद्यान्तराश्रिता।

(श्लो० वा० ३८)

मात्रा में हुआ है। कोशकार[१] इस शब्द का प्रयोग प्रधान सिद्धान्त के साथ करते हैं। मेदिनीकार ने[२] इसे शास्त्र-भेद, इति-कर्तव्यता, सिद्धान्त एवं शाखांतर के अभिप्रायों में संगृहीत किया है—जिससे यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि मेदिनीकार के काल तक यह शब्द मीमांसा के प्रचलित न्यायों के अर्थ में रूढ हो गया था। वस्तुतः शास्त्र से संबन्धित जितने विभेद अथवा प्रकार मेदिनीकार ने उपस्थित किये हैं, मीमांसा उन सब की निधि है। कोशकार के सिद्धान्त के अनुसार उसके सिद्धान्त प्रधान हैं। वह समय ऐसा था—जब कि मीमांसा के मंतव्य सर्वतः शिरोधार्य एवं हृदयगम थे, इसी प्रधान-सिद्धान्तता के आधार पर इस परिपाटी को तंत्र शब्द से संबोधित किया गया। यह सिद्धान्त-प्रमुखता मीमांसा के महत्त्व को अनुमानित करने के लिए पर्याप्त है। मेदिनीकार ने इतिकर्तव्यता के अर्थ में भी तंत्र शब्द को व्यवहृत किया है—वस्तुतः मीमांसा ही धर्म के लिए इतिकर्तव्यता-रूप है। आचार्य भट्ट[३] ने इसी अभिप्राय को स्वीकृत कर "मीमांसा" की इतिकर्तव्यता को सिद्ध किया है। संक्षेप में तंत्र शब्द मीमांसा-न्यायों, श्रुति की प्रधान-प्रतिपादकता, इतिकर्तव्यता-भाग, शास्त्रीयता आदि संपूर्ण आशयों का आगार है, उसे ये सब गुण मीमांसा शास्त्र

१—"तंत्र प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवैक्ये सपरिच्छदे"

(अमरकोश तृ० कांड नानार्थवर्ग २८४)

२—तंत्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात्, सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
प्रधाने तन्तुवाये च शास्त्रभेदे परिच्छदे॥
श्रुतिशाखांतरे हेतावुभयार्थप्रयोजने,
इतिकर्तव्यायां च··· ······ ········ ·· ······ ·················(मेदिनी)

३—धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्तव्यताभागं, मीमांसा पूरयिष्यति॥
(श्लोक वार्तिक प्रस्तावना)

के अतिरिक्त और किसी एक आगम में प्राप्त नहीं हो सके, अत एव विचार शास्त्र की वाचकता प्राप्त कर इसने स्वयं को सौभाग्यशाली माना। उ-क सी आशयनिधिता के आधार पर विचारशास्त्रियों ने इसे आदर के साथ अपनी विचार धारा की अभिख्या के रूप में अपनाया।

सबसे पूर्व निज निर्मित शाबरभाष्य की व्याख्या के मध्य-भाग को "तंत्रवार्तिक" के नाम से आख्यात कर कुमारिल भट्ट ने उस शब्द में अपनी आस्था प्रमाणित की। धीरे धीरे इस शब्द का प्रयोग बढ़ता गया व आजतक भी यह शब्द मीमांसा-शास्त्र के अभिप्राय में प्रयुक्त होता आरहा है। विख्यात व्याख्याकार मल्लिनाथ[1] ने अपना परिचय देते हुए अपनी मीमांसा शास्त्र संबन्धित विज्ञता को तंत्रशब्द से अभिहित किया है। बीसवीं शताब्दी के मीमांसकशिरोमणि श्रीचिन्नस्वामी शास्त्री ने विचार-शास्त्र की अपनी परिचयात्मक पुस्तक का नामकरण "तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि" इसी शब्द की प्रमुखता को लेकर किया है। संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है कि बौद्धिक क्षेत्र से संबन्धित जितने अभिप्राय तंत्र शब्द में अन्तर्हित हैं—मीमांसा ही एक ऐसा शास्त्र है—जिसमें वे एक साथ समाविष्ट हैं।

(ङ) पूर्वमीमांसा

विचार की यही उत्कृष्ट कोटि जिसे "मीमांसा" आदि नामधेयों से संमानित किया गया था—समय की विस्तृत सीमा के समपेत होने पर व्यावहारिक क्षेत्रमें "पूर्वमीमांसा" के नाम से व्यवहृत होने लगी। व्यवहार सर्वदा स्पष्ट-प्रतिपत्ति चाहता है। वह अपने ज्ञान को सर्वथा

१—अंतस्तंत्रमरंस्त पन्नगगवीगुंफेषु चाजागरीत्"

—(रघुवंश संजीवनी का मंगलाचरण)

अवितथ बनाने की चेष्टा करता है'। वस्तुतः इसी स्वाभाविक नियम के कारण "मीमांसा" के साथ पूर्व विशेषण लगना अनिवार्य हुआ। यह सार्वत्रिक एवं निर्विवाद सत्य है कि इतर व्यावृत्ति के लिए ही विशेषणों का उपादान किया जाता है। "मीमांसा" के पूर्वप्रतिपादित शाब्दिक महत्त्व को लेकर ब्रह्मविचारकों ने अपने शास्त्र को भी इसी आख्या से अभिहित करना प्रारंभ किया।

इसके महत्त्व से वे प्रचुर मात्रामें प्रभावित हुए और उनने बहुत थोडे समय में ही अपने विचारों पर महत्ता की मोहर लगाने के लिए इस शब्द के प्रयोग क्षेत्र को विस्तृत बना दिया। उनके इसी विस्तार के कारण एक समस्या उत्पन्न हो गई-कि "मीमांसा" नाम से कौन से विचार नियत अवस्था में परिगृहीत किये जायें? इस परिस्थिति में अपने व्यवहार की अबाध प्रतिपत्ति, एवं उत्तर मीमांसाके ब्रह्मसंबन्धित विचारों की व्यावृत्ति के निमित्त पूर्वप्रवर्त्तित व प्रसृत तंत्रविद्या के साथ व्यावहारिकों के लिए पूर्व विशेषण का उपादान अनिवार्य हो गया—यही एक मनोवैज्ञानिक तथ्य पूर्व-मीमांसा शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है। फिर भी यह परिवर्तन केवल व्यवहार परिधि तक ही सीमित रहा। शास्त्रज्ञों ने निरुपपद मीमांसा शब्द से उसी वैदिक ज्ञानराशि को अपनाया।

मीमांसा नाम के साथ ब्रह्मविचारकोंने ठीक उसी प्रकार का व्यवहार किया— जो देवताओं ने असुरों के साथ किया था। देवताओं की विजय से पूर्व देव शब्द असुरों का वाचक था और उसमें असुरों की सपूर्ण शक्ति ऐश्वर्य आदि के अभिव्यक्त करने की क्षमता थी। जब देवताओं ने अगाध परिश्रम के अनन्तर असुरों पर विजय प्राप्त की, तो उनके अपार वैभव के हस्तगत करने के साथ साथ उन्हें सर्वशक्तिसंपन्न 'देव' शब्द भी लालायित किये विना नहीं रहा। उनकी लोलुपता यहाँ तक बढ़ गई कि वे शाब्दिक महत्त्व से भरित "देव" शब्द का परित्याग नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि जो देव शब्द असुरों के अर्थ में प्रचलित था,

विजयी देवता उसके महत्त्व पर आकर्षित होकर हठात् उसे अपने अभिप्राय में प्रयुक्त करने लगे। तभी से देव शब्द आज के इन देवताओं के लिए रूढ हो गया। किन्तु व्यवहार की उपपत्ति के लिए तत्कालीन व्यावहारिकों के संमुख वही समस्या उत्पन्न हुई कि 'देव' शब्द से असुरों का ग्रहण किया जाये, अथवा देवताओं का। ऐसी परिस्थितिमें राक्षसों की व्यावृत्तिके लिए उनके साथ पूर्व विशेषण लगाना प्रारंभ कर दिया गया। वे पूर्वदेव कहलाये। विख्यात कोशकार अमरसिंह का-"पूर्वदेवाः सुरद्विषः (अ०को) यह वचन उपर्युक्त तथ्य एवं मीमांसाशब्द के साथ लगा हुआ पूर्वशब्द मीमांसा के महत्त्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

लौकिक अनुभव भी इसका साक्षी है— जब एक स्थान रिक्त होता है और उस पर नियुक्ति प्राप्त करने के लिए केवल एक ही व्यक्ति उपस्थित होता है, तो उसके लिए विभिन्न योग्यताएँ विस्तृत नहीं की जातीं। किन्तु जब उसी स्थान के लिए अनेक प्रार्थना-पत्र प्रस्तावित होते हैं, तो उन पर बड़ी गंभीरता एवं विस्तृत योग्यताओं के निर्देश के साथ विचार किया जाता है। बहुत से घोड़ों में से जब अन्यों की व्यावृत्ति कर एक ही को ग्रहण करना होता है, तो उसे "काला" आदि विशेषणों से विशिष्ट बनाना होता है। यही लौकिक तथ्य "पूर्वमीमांसा" के साथ संलग्न है।

(च) पूर्व-तंत्र

वस्तुतः ऐसी कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय आवश्यकता नहीं थी— जिसके आधार पर मीमांसा शास्त्र की अभिधेयता के लिए तंत्रके साथ पूर्व विशेषण का उपादान अनिवार्य होता। प्रामाणिक रूप से नहीं, फिर भी मीमांसा के अभिप्राय में पूर्वतंत्र शब्दका उपयोग इष्ट है। मेरे मंतव्य में यह अनुकरण मात्र है। मीमांसा के साथ पूर्व शब्द को संलग्न देखकर अनुयायियों ने तंत्र के साथ भी पूर्व विशेषण को प्रयुक्त करना प्रारंभ कर दिया—इसके अतिरिक्त और कोई विशेष रहस्य तंत्र की अपेक्षा "पूर्वतंत्र" के प्रयोग में नहीं हैं।

(अ) इतर उपपद

केवल पूर्व ही नहीं, विद्वत्समुदाय ने कहीं धर्म[1]-मीमांसा व कहीं अनीश्वर[2]-मीमांसा आदि विभिन्न इतर उपपदों के साथ भी इस शब्द का उपादान किया है। संक्षेपतः ज्यों ज्यों ब्रह्ममीमांसा का विकास हुआ, जैमिनि का यह विचार शास्त्र विभिन्न उपपदों के सहित प्रयुक्त होने लगा। फिर भी मीमांसा के आचार्यों ने अथवा इतर शास्त्रियों ने प्रायः इन उपपदों का उपादान नहीं किया—यदि कहीं किया भी है, तो वह नहीं के बराबर है। अत एव "पूर्वमीमांसा" आदि सोपपद प्रयोग वस्तुतः विचार शास्त्र की मौलिक अभिख्या नहीं है, ये तो केवल व्यावहारिक रूप हैं। वेदांत के साथ संलग्न "उत्तरमीमांसा" यह अभिख्या भी इन्हीं की देन है।

(छ) विचार शास्त्र

मीमांसा की विचारात्मकता में किसी को भी संशय नहीं है, अत एव इसे विचार—शास्त्र कहना कोई आश्चर्यजनक नहीं। विचार प्रधान इस आगम के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने के लिए बाह्य व्यवहार में यद्यपि "विचारशास्त्र" इस अभिख्या का उपयोग नहीं हुआ, किन्तु अवान्तर व्यवहारों में अनेक स्थानों पर हुआ है। आचार्य माधव के काल तक इस शास्त्र की विचारात्मकता निश्चित एवं सर्वसंमत हो गई थी, अत एव उनने इस शास्त्र के लिये "विचारशास्त्र" शब्द का उपयोग

१—"धर्ममीमांसावत् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसाप्यारब्धुं शक्यते।

(ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—वाचस्पति मिश्र कृत भामतीटीका १—१—१—पेज ७८)

२—'कृतानां कर्मणां कालान्तरभाविफलदाने अदृष्टं कारणमिति अनीश्वर—मीमांसकाभिमतम्। (ललिता त्रिशती भाष्य, आचार्य शंकर)

किया। वे अपनी न्यायमाला के जिज्ञासाधिकरण में इस शास्त्र को विचारशास्त्र[१] कह कर पुकारते हैं। उन्हें इस शब्द से पर्याप्त स्नेह जान पड़ता है, इस एक ही अधिकरण में उन्होंने कई बार इस शब्द को दुहराया है। संगत भी है—वस्तुतः इस शास्त्र के लिए यह अभिख्या रोचक सरस एवं सार्थक है।

माधव ने यह प्रयोग संभवतः अपनी पूर्वज-परंपरा की पुष्टि के आधार पर किया। अनेक शास्त्रियों[२] ने अपने ग्रंथों में स्थान स्थान पर विचार का साम्राज्य विस्तृत किया व मीमांसा शास्त्र को विचार का आगार एवं पथप्रदर्शक सिद्ध किया। तब माधव के लिए उसे विचार शास्त्र कहना शोभास्पद, व्यावहारिक एवं अनिवार्य हो गया। किन्तु यह प्रयोग अवान्तर व्यवहार तक ही सीमित रहा—सार्वदेशिक न हो सका।

(ज) अध्वर–मीमांसा

अधिक तो नहीं, पर विद्वानों के व्यवहार में मीमांसा के साथ कहीं कहीं अध्वर विशेषण भी प्रयुक्त होता है। अध्वर अर्थात् यज्ञ के साथ मीमांसा का क्या संबन्ध है? और मीमांसा उस दिशा में क्या क्या उपकार करती है? यह सर्वविदित तथ्य है। आचार्य वासुदेव ने इसीलिए अपनी कुतूहलवृत्ति के साथ "अध्वर–मीमांसा कुतूहलवृत्ति" नाम का उपयोग किया है। धर्म—विवेचन की प्रमुखता के कारण कहीं कहीं इसे "धर्म–शास्त्र" भी कह दिया गया है।

१—स्वाध्यायो ऽध्येय इत्यस्य विधानस्य प्रयुक्तितः।
विचारशास्त्रं नारभ्यमारभ्यं वेति संशयः॥
[जैमिनीय न्यायमाला ३० वाँ पद्य]

२—विचारोपायभूतन्यायनिबन्धनं मीमांसाशास्त्रम्
[प्रकरणपंचिका, शालिकनाथ मिश्र १२ पृष्ठ]

(झ) वाक्य शास्त्र

मीमांसा संस्कृत साहित्य की एक प्रकार से वाक्य-रचना की शिक्षा देने वाली प्रणाली (SYNTEX) है। वाक्यार्थ का निर्णय करने के लिए जितने साधन हमें यह शास्त्र बताता है और कोई नहीं। इसने प्रकरण आदि के द्वारा वाक्यार्थ को नियमित किया और तात्पर्य के निर्णय के लिए उपक्रम,[१] उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति और लिंग के ज्ञान की अनिवार्यता प्रतिपादित की। इसी लिए इसकी वाक्य-शास्त्रता सर्वथा उपयुक्त है। किन्तु इस नाम का व्यवहार आंतरिक सीमा तक ही सीमित रहा। पूज्यपाद पट्टाभि[२] राम शास्त्री ने स्थान स्थान पर इस अभिख्या को प्रमाणित किया है।

सारांशतः विचार-शास्त्र की ये अभिख्याएँ जहां हमें उसकी अनेक-रूपता का परिचय कराती हैं—वहाँ उसकी व्यापकता और प्रगति का भी संदेश देती हैं। भारत के किसी भी आगम को इतने अधिक नामों से कीर्तित नहीं किया गया-इसी से हम इसके निजी महत्त्व का सहज अनुमान कर सकते हैं।

१—उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता-फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥

२—(तंत्र सिद्धान्त-रत्नावलि-प्राक्कथन पृष्ठ ३)

विचार की प्रणाली

विचारशास्त्र की यह विचार प्रणाली एक स्वतंत्र दृष्टिकोण लेकर चलती है। वह किसी भी विषय का निर्णय हठ पर नहीं, अपितु परीक्षण पर आधारित करती है। परीक्षण एवं यथार्थ ज्ञान करने के लिए यह एक न्यायालय रखती है-जिसकी आख्या अधिकरण है। नियत प्रकरण प्राप्त विषय पर जब संदेह होता है, उस पर वादी प्रतिवादी अपनी अपनी युक्तियां देकर अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। वादी द्वारा प्रतिपादित तर्कों का खंडन होने पर जो अंतिम निर्णय सिद्ध होता है, वह विचार की कसौटी पर कसा हुआ हीरा है। प्रत्येक अधिकरण-जो कि एक न्यायालय है—अपने इन पांच अंगों[1] से परिपूर्ण रहता है:—

१-विषय, २-संशय, ३-पूर्वपक्ष, ४-उत्तर-पक्ष, ५-प्रयोजन।

किसी भी निश्चित परिणाम पर पहुँचने से पूर्व अपने विचारों के विपरीत संभाव्य आरोपों का विवरण पहले उपस्थापित किया जाता है-इसलिए इसकी पूर्वपक्ष वस्तुतः अन्वर्थ आख्या है। पूर्वपक्ष के द्वारा प्रस्तावित संपूर्ण आपत्तियों का निराकरण एवं प्रस्तावित प्रश्नों के उत्तर देने का कार्य वहन करने ही के कारण विचार की द्वितीय शृंखला को उत्तरपक्ष कहा गया है। इस विलोडन से निकला हुआ सिद्धान्त स्वच्छ

१—विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
प्रयोजनंच पंचांगं, प्राञ्चोऽधिकरणं विदुः।

एवं पवित्र[1] नवनीत है। विचार की प्रणाली के इसी महत्त्व को स्वीकृत करते हुए आचार्य[2] खंडदेव ने सभी विपरीत संभावनाओं व भावनाओं की निवृत्ति के साथ साथ प्रतिपाद्य विषय को दृढ बनाना ही विचार का उद्देश्य बताया है।

विचार की इस शैली की शालीनता जैमिनि व उनके अनुगामियों ने ही नही, आगम की विभिन्न धाराओं के अनुयायियों ने भी स्वीकृत की। अनेक पीढियों तक इसी परंपरा से विचार विनिमय होता रहा। स्पष्टीकरण, असंभावना व विपरीतभावनाओं की निवृत्ति से बौद्धिक शक्ति की विवृद्धि आदि गुणों के साथ साथ इस प्रणाली में परिणाम की प्रचुर दूरता एक महान् दोष है, जो कहीं कहीं इसे अरुचिकर एवं दुरूह बना देता है। कारण कहीं से प्रारंभ होता है और कार्य कहीं अवस्थित रहता है।

इस असंगति को व्यावृत्ति के लिए विचारशास्त्रियों द्वारा अनेक संगतियां उद्भावित की गई–एक विचार को दूसरे विचार से शृंखलित करने का कार्य उन पर सौंपा गया, जिससे कि विचार की परंपरा कहीं विच्छिन्न न हो पाये। एक छोर जहाँ समाप्त होता है–वहीं से दूसरा प्रथम को, तीसरा दूसरे को व चौथा तीसरे को ग्रहण करता रहता है। इससे यह प्रणाली सतत एवं अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है।

१—निर्मथ्य निगमसिन्धून् विविधन्यायाभिधानमन्थानैः।
धर्मसुधामुद्धरते भूयो मुनये नमोऽस्तु जैमिनये॥
(कु० वृ० पृ० १)

२—"असंभावनाविपरीतभावनानिवर्तनेन विषयदृढीकरणम्"
(मीमांसा कौस्तुभ–१–३–स्मृत्यधिकरण)

आचार्य जैमिनि के अनुयायियों में इसका विकसित स्वरूप सबसे पूर्व आचार्य शबर में प्राप्त होता है। पार्थसारथि मिश्र के काल तक तो यह परिपाटी सर्वथा समृद्ध होगई–जिसका परिणाम यह हुआ कि आचार्य माधव को अपने न्यायमालाविस्तर के प्रारंभ में इसके स्वरूप तक का विवेचन करना पड़ा। माधव ने प्रमुख रूप से तीन संगतियां स्वीकृत कीः–

१ शास्त्रसंगति, २ अध्यायसंगति, ३ पादसंगति।

शास्त्र–संगति

धर्म मीमांसा शास्त्र का प्रतिपाद्य है, प्रमाण उसके प्रथम अध्याय एवं विधिविवेक उसी अध्याय के प्रथमपाद का विषय है। प्रथम अध्याय प्रथमपाद के द्वितीय "धर्मलक्षण" अधिकरण में धर्म के लक्षण और प्रामाण्य का सद्भाव सिद्ध किया गया है। यह अधिकरण भी मीमांसा-शास्त्र के ध्येय धर्म पर विचार करता है। अत एव विचारैक्य इन दोनों में शास्त्रसंगति प्रमाणित करता है। प्रतिपाद्य की एकता पर आधारित होने के कारण यह संगति सब में प्रमुख है। मीमांसा शास्त्र का कोई भी अधिकरण इस अंकुश के कारण निरर्गल प्रलाप नहीं कर सकता। सहस्र संख्या में परिगणित अधिकरणों में इसके प्रतिपाद्य की प्रमुखता अन्तर्हित है।

अध्याय–संगति

प्रमाण परीक्षा प्रथम अध्याय का विषय है। प्रस्तुत अधिकरण में भी प्रमाण का अनुचिन्तन प्रस्तावित है। अत एव प्रामाण्य चर्चा की एकता के कारण अध्याय के समान इस श्रृंखलित विचार धारा को अध्याय संगति कहा जाता है। विषयों को एक सूत्र में गूंथने का यह दूसरा प्रकार है–जिससे उनका तांता विच्छिन्न नहीं हो पाता। संपूर्ण आगम अध्यायों के रूप में बिभाजित रहता है और एक एक अध्याय अपने अपने विषय की चर्चा के लिये स्वतंत्र रहती है।

पाद-संगति

इससे भी संकुचित अथवा सीमित स्वरूप पाद-संगति है,-जिससे संक्षिप्त परिधि में संबन्धित विचारों को संकलित कर दिया जाता है। प्रथम अध्याय का विषय जिस प्रकार प्रामाण्यचिन्तन है-उसके एक देश प्रथम पाद का विधिचिन्तन इसी प्रामाण्य से उपर्युक्त प्रकार से ही शृंखलित है। प्रामाण्यचिन्तन में गणना के अवसर में विधि विचार सबसे पूर्व प्रस्तुत है। उसी विधि वाक्य का उपन्यास इस अधिकरण में धर्म के प्रमाण रूप से किया जाता है, अत एव पाद के साथ इस अधि-करण के विषय की संगति उपपन्न हो जाती है।

ये तीनों प्रमुख संगतियां इसी रूप में सर्वत्र प्रचलित होकर विषय को शृंखलित करने का कार्य करती हैं। इनका संबन्ध-जैसा कि अभिख्या से अभिव्यक्त है, केवल शास्त्र, अध्याय एवं पादों तक ही सीमित है। किन्तु विचार-शास्त्रियों ने एक अधिकरण के साथ दूसरे अधिकरण के विचारों को संबद्ध करने के लिए अनेक अवान्तर संगतियां भी उपकल्पित की हैं। उनमें १ "आक्षेप संगति, २ दृष्टान्त संगति, ३ प्रत्युदाहरण संगति, ४ प्रासंगिक संगति, ५ उपोद्घात संगति, व ६ अपवाद संगति" ये प्रमुख हैं।

आक्षेप-संगति

प्रथम अध्याय प्रथम पाद के दूसरे अधिकरण में-(धर्मलक्षणा-धिकरण) धर्म लक्षण और प्रमाण से रहित है, क्योंकि वह लौकिक आकारहीन है, अत एव प्रत्यक्ष एवं तन्मूलक होने के कारण इतर प्रमाणों का भी उसमें प्रवेश दुश्शक है, इस प्रकार आकाश कुसुम की तरह धर्म जैसो निराधार वस्तु को विचारशास्त्र का विधेय बनाना अनुप-युक्त है, ये विचार प्रवर्त्तित हैं-जिनमें धर्म की विचारशास्त्रविधेयता पर आक्षेप किया गया है-जिसका समाधान उत्तरपक्ष ने किया है। इस

प्रकार के आक्षेपमूलक विचारों का पूर्व विचारों के साथ जो संबन्ध होता है—वह वस्तुतः आक्षेपसंगति के नाम से व्यवहृत किया जाता है।

दृष्टान्त-संगति

प्रथम अध्याय के प्रथम अधिकरण में नियमविधि के रूप में विचार शास्त्र को विधि-प्रयुक्तता सिद्ध की गई है। उसी के द्वितीय अधिकरण में जब धर्म लक्षण प्रमाण से रहित प्रतीत हुआ—तो उसके लिए भी प्रामाण्य रूप में प्रथम अधिकरण की तरह विधि की शरण लेना अनिवार्य होगया। यह विधिका अनुचिन्तन जब पूर्व अधिकरण की तरह प्राप्त होता है, तो विचारों का यही बिम्बप्रतिबिम्बभाव दृष्टान्तसंगति का रूप धारण कर लेता है।

प्रत्युदाहरण-संगति

किन्तु उपर्युक्त द्वितीय अधिकरण का पूर्व अधिकरण के साथ पूर्ण साम्य व्यवस्थित नहीं हो पाता। उस उदाहरण में "विचार शास्त्र को विधेयता के लिए" जितने "नियमविधित्व" आदि सशक्त कारण प्राप्त थे, द्वितीय अधिकरण में वैसे प्राप्त नहीं है। अत एव पूर्व विचार के साथ जब पूर्ण समता नहीं होती, तो फिर ऐसे विचारों का गठन प्रत्युदाहरण के रूप में होता है। यही गठन प्रत्युदाहरणसंगति के नाम से व्यवहृत है।

प्रासंगिक-संगति

प्रथम अध्याय प्रथम पाद के पंचम अधिकरण में विधि का स्वतंत्र प्रामाण्य प्रतिपादित है। विधि एक वाक्य है, इसी लिए वाक्य के प्रसंग से यदि शब्द पर विचार किया जाता है, तो वह प्रसंग पतित है। इसके आधार पर षष्ठ अधिकरण में "शब्दनित्यत्व" का विचार किया गया है, इसीलिए पंचम अधिकरण के साथ षष्ठ अधिकरण की प्रासंगिक संगति है।

उपोद्घात–संगति

सप्तम अध्याय चतुर्थपाद द्वितीय अधिकरण में सौर्य[१] आदि विकृतियों में संपूर्ण प्राकृतिक वैदिक अंगों का अतिदेश विचारार्थ प्रस्तावित है। उस अतिदेश की उपपत्ति के लिए उससे पूर्व के अधिकरण में अतिदेश की धर्म-सापेक्षता साधित की है। द्वितीय अधिकरण में जो सिद्ध करना होता है, उसी का उपोद्घात प्रथम अधिकरण करता है। अत एव प्रथम अधिकरण की द्वितीय अधिकरण के साथ उपोद्घात संगति है।

अपवाद–संगति

प्रथम अध्याय तृतीयपाद प्रथम अधिकरण में "अष्टकाः कर्तव्याः" आदि स्मृतियों का वेदमूलकत्वेन प्रामाण्य प्रतिपादित है—उसी के अग्रिम न्यायालय में पूर्व प्रस्तुत विचार का अपनोदन किया जाता है। "औदुम्बरी-सर्वा वेष्टयितव्या" इस सर्ववेष्टनस्मृति का वैदिक मूल की अनुपलब्धि में लोभमूलकत्व सिद्ध कर अप्रामाण्य स्वीकृत किया जाता है। प्रथम अधिकरण में प्रतिपादित मंतव्य से सर्वथा विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत करने के कारण उस प्रथम अधिरण के साथ इस अधिकरण की अपवाद संगति है। इसके प्रकरण में सर्वदा पूर्व-प्रस्तुत विचार धारा का अपनोदन कर विलक्षण एवं विपरीत विचार उपस्थित किये जाते हैं।

ये सब प्रकार इतने वैज्ञानिक सिद्ध हुए कि जिनका मीमांसा के प्रत्येक आचार्य ने आश्रय लिया। आचार्य माधव तक इनने शास्त्रीयता भी प्राप्त कर ली थी। इसीलिए उसने संक्षेप में उपर्युक्त प्रकारों का संकलन[२] किया,

---

१—सौर्यं चारुं निर्वपेद्ब्रह्मवर्चसकामः ।

२—उद्दिश्य संगतां स्तिसस्तथावान्तरसंगतिम्
ऊहेताक्षेपदृष्टान्तप्रत्युदाहरणादिकम् ॥

विचार की इस परिपाटी को एक सूत्र में गूंथने के लिए ये प्रकार उपकल्पित हैं। आवश्यकता एवं उपयोगिता के आधार पर इन प्रकारों में विवृद्धि करने के लिए भी विस्तृत क्षेत्र छोड़ दिया गया है। विषय की अवान्तर संगठना के लिए "कृत्वा चिन्ता" के नाम से एक और उपाय उपयोग में लाया जाता है-जिसमें पूर्व-पक्षी के तर्क को (चाहे वह असंगत ही हो) उसी रूप में मान कर उसमें भी दोष उद्भावित किये जाते हैं। पूर्वपक्षी को नतमस्तक करने का यह श्रेष्ठ साधन है। पार्थ-सारथि मिश्र ने अपनी शास्त्र-दीपिका में कई स्थानों पर इस उपाय का प्रयोग किया है।

संक्षेप में विचारों की असंबद्धता एवं अनर्गलता की व्यावृत्ति के लिए ये उपाय समाश्रित हैं, किन्तु तार्किक दृष्टि से नहीं, अपितु व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस परिपाटी की दुरूहता एवं परिणाम की दूरता अनुभवगम्य सत्य है – जिसका निराकरण तर्क के माध्यम से सभव नहीं।

विचार कांड

१–मीमांसा की शास्त्रीयता

चराचर जगत् स्थूल और सूक्ष्म इन दो प्रमुख स्वरूपों में विभाजित है। उसकी स्थूलता चर्मचक्षु एवं सूक्ष्मता ज्ञानचक्षु से गम्य है। प्रत्यक्ष होने के कारण उसकी स्थूलता ही सर्वस्व प्रतीत होती है, पर वस्तुतः वही सब कुछ नहीं है। उसका सूक्ष्म स्वरूप उसके स्थूल स्वरूप से भी अधिक महत्त्वशाली है। संसार के इन्हीं दोनों रूपों में एक को हम अन्तर्जगत् कह सकते हैं, तो दूसरे को बाह्यजगत्। इन दोनों का संकलित स्वरूप ही वास्तविक जगत् है– और इनके इस संकलन में ही जगत् की पूर्णता है। अन्तर्जगत् के स्वरूपवहन का कार्य बाह्यजगत् करता है। उसके विकास, समृद्धि एवं पुष्टि के बिना बाह्यजगत् की उन्नति की आशा बिना नींव के भवन की स्थायिता के समान है। मानव इसी अन्तर्जगत् के विकास का प्रतीक है, इसीलिए जगत् की जीवकोटि में उसकी सर्वोत्कृष्ट परिगणना है। स्थूल शरीर एवं व्यवहार में अन्य जीवों की समकक्षता के रहते हुए भी वह इसी के बल पर विश्वका नियामक बना हुआ है। मानवता इसी के विकसित स्वरूप की विचारमय अभिख्या है। आत्मा, मस्तिष्क और हृदय तीन इसके प्रमुख अंग है–जिन में प्रथम अंगकी पुष्टि ही नैतिकता, द्वितीय का विकास विद्वत्ता एवं तृतीय की उन्नति सहृदयता की पराकाष्ठा है। किन्तु इन तीनों अङ्गों के विकास की भी एक सीमा है, एक नियत पथ है। उस सीमा और पथ से उत्पथ होने पर उसका नियंत्रण भी आवश्यक है। अन्यथा अन्तर्जगत् की यह उच्छृंखलता (वह चाहे किसी अङ्ग की हो) मानव को कहीं का नहीं रहने देती। बाह्य-जगत् के नियंत्रण के लिए एक शासक रहता है–वह उसकी स्वच्छता व्यवस्थिति और विकास का पूरा २ ध्यान रखता है, उसके किसी भी जीव की उच्छृंखलता उसे सह्य नहीं होती। उसी प्रकार अन्तर्जगत् के

नियामक की भी पर्याप्त आवश्यकता और किन्हीं क्षेत्रों में उस नियामक से भी अधिक महत्ता है। जगत् की जितनी व्याधियां हैं—औपरिक स्वच्छता ही से वे निवृत्त नहीं हो सकती, एवं यहाँ की जितनी दुष्ट वृत्तियां हैं, शारीरिक दंड मात्र उन्हें नहीं मिटा सकता। अत एव शारीरिक स्वच्छता से अधिक महत्त्व आंतरिक स्वच्छता का, एवं शारीरिक यंत्रणा से अधिक गौरव आंतरिक यंत्रणा का है। मनोविज्ञान इसका साक्षी है कि अंतः करण की स्वस्थता का कितना गहरा प्रभाव शारीरिक स्वास्थ्य पर द्रुत गति से पड़ता है, एवं न्यायालय और कारागर इसके प्रमाण हैं कि अन्तर्जगत् की अनियन्त्रितता प्रतिवर्ष अपराधियों की कितनी संख्या बढ़ा रही है, शारीरिक नियंत्रण का कोई प्रभाव नहीं पड़ने देती। अन्तर्जगत् सर्वतः सशक्त है। यदि उसकी गति नैतिकता की ओर है, तो संसार की कोई शक्ति उसे नत नहीं कर सकती। पूज्य बापू इसके प्रत्यक्ष प्रतीक हैं, और यदि उसकी धारा अनैतिकता की ओर चल पड़ी है, तो औपरिक यातना उसे रोक नहीं सकती। जिस वस्तु की उत्पत्ति जहाँ से होती है—वहीं आघात करने से उसका सर्वतोमुख विनाश संभव है। चोर की ताडना अथवा हत्या की अपेक्षा उसकी जननी का उन्मूलन अधिक श्रेयस्कर है - यह लौकिक उक्ति है। अन्तर्जगत् ही भावलोक है, इसी से उद्गत भाव क्रिया के रूप में परिणत होते हैं। प्रत्येक क्रिया का इसीलिए इससे साक्षात् संबन्ध है। यदि संसार को सर्वथा व्यवस्थित, समुन्नत एवं नैतिकबलसंपन्न बनना हो, तो इस भावलोक पर अधिकार एवं नियन्त्रण प्राप्त करना होगा। उसे एक इस प्रकार के नियामक की शरण लेनी होगी-जो इसे सुशोभित कर सकता हो। यही एक आवश्यकता है-जिसने शास्त्र के आविष्कार की प्रेरणा दी। इसी अन्तर्जगत् का शासन इसका प्रमुख कार्य हुआ-जिसके आधार पर "शास्यते अनेन" इस शाब्दिक व्युत्पत्ति ने उसकी अभिख्या को अन्वर्थता प्रदान की। इस शासक ने अपने संयत शासन से अपनी प्रजा को व्यवस्थिति, समृद्धि, सुरक्षा एवं पवित्र भोजन सामग्री दी-जिससे उस युग का मानव

आत्मबल का भंडार, मस्तिष्क का अधिकारी और सहृदयता का भाजन बन सका। इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ उसकी इस देन से रंजित है।

जिस प्रकार नियामक अपनी नियति को नियंत्रित करने के लिए नियमजाल को माध्यम बनाता है, उसी प्रकार प्रस्तुत शासक को भी अन्तर्जगत् के शासन के लिए धर्म को माध्यम रूप से अंगीकार करना होता है। जिस प्रकार शासक का साम्राज्य विधान की शालीनता और उच्चता पर निर्भर है. उसी तरह शास्त्र की शास्त्रीयता भी धर्म की प्रतिपादकता पर आधारित है। शासक को शक्ति का स्रोत पूर्वजपरंपरा अथवा प्रजा से प्राप्त करना होता है, अन्यथा उसका शासन सर्व संमत नहीं होता। उसे अपने विधान पर भी इन दोनों में किसी एक को मोहर लगानी होती है। शास्त्र को भी शासन की योग्यता और सामर्थ्य अपनी अनादि निधि वेद से प्राप्त करना होता है, और अपने विवेच्य विषय अथवा विधान पर वेद का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना अनिवार्य होता है। आदि काल की यही एक कसौटी है-जिस पर कसने से मीमांसा शास्त्र की शास्त्रीयता सर्वोत्तम रूप से प्रमाणित होती है।

धर्म इसका प्रतिपाद्य है। वेद इसका आधार है-जिस पर खड़े होकर यह उसे अपने प्रभाव से अधिक चमत्कृत[१] करता है। साक्षात् संबद्ध होने के कारण उस अलौकिक ज्ञान राशि ने भी इसमें मुक्तहस्त होकर शक्ति और योग्यता का जितना संचार किया है, और किसी विचार धारा में नहीं। अत एव इसकी शास्त्रीयता सबसे अधिक विकसित और परिपुष्ट है, एवं इसकी यही महत्ता "शास्त्रप्रमुख"[२] के नाम से आचार्य शंकर द्वारा भी आदृत है।

१—' मीमांसाशास्त्रतेजोभिर्विशेषेणोज्ज्वलीकृते "।

(आचार्य भट्ट—श्लोकवार्तिक १ पृष्ठ)

२— ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे (शांकर भाष्यं ३-३-५३, ८४९पृ०).

२—दर्शन और मीमांसा

दर्शन की परिभाषा

मानव उस अमर शक्ति का अंश है, अत एव अमृतत्वप्राप्ति उसकी स्वाभाविक और सर्वोत्तम एषणा है—जिसकी पूर्ति के लिए वह सदा सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है। उसके प्रत्येक कार्य इसी भावना से प्रारब्ध होते हैं, यही भावना उनके श्री गणेश में अंतर्हित रहती है। संसार की असारता से चिर परिचित भारतीय मानव इस एषणा से अधिक प्रभावित रहा है। उसके जीवन का यही प्रमुख प्राप्य है, एवं इतर प्राप्य इसके पूरक हैं—अत एव उसका यह परम धर्म भी बन गया है। भारतीय वाङ्मयने पर्याप्त गवेषणाओं के अनन्तर इस एषणा की पूर्ति के लिये विभिन्न मार्ग निर्धारित किये हैं—जो इसी उद्देश्य से सृष्टि, उसकी उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय के संबन्ध में अपने दृष्टिकोण रख कर मानव को इस ओर प्रेरित करते हैं। वह इस स्वरूप के साक्षात्कारके लिये लौकिकता से परावृत्त होकर अलौकिक क्षेत्र में उतरता है, जहाँ उसे इनकी वास्तविकता का परिचय मिलता है। अमृतत्वप्राप्ति की आकाङ्क्षा से परिपूर्ण मानव की यही साधना जो अनुभूत तथ्य प्रस्तुत करती है—उन्हीं तथ्यों का संकलित रूप वस्तुतः दर्शन शास्त्र है—जिसे मानव के चरम प्राप्य का विवेचक होने के कारण संपूर्ण कर्मों की उपायता एवं संपूर्ण विद्याओं का प्रकाशकत्व प्राप्त है।

दर्शन का दृष्टिकोण

ज्ञान ही में मानव की पूर्णता है। जगत् के दो विभिन्न रूपों में मानव का बाहरी ज्ञान उसके बाह्य जगत् का एवं आंतरिक ज्ञान उसके अन्तर्जगत् का पोषक है। इसी आधार पर उसकी जिज्ञासा के पूरक उपकरण भी दो मार्गों से चलते हैं। उसका वह मार्ग जिसमें उनकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है, उसे लौकिक दर्शन तक पहुँचाता है, एवं

उसका दूसरा वह मार्ग जो उसे श्रेयप्राप्ति तक पहुँचाता है-आत्मदर्शन कराता है। इस आत्मदर्शन में संपूर्ण शास्त्रों एवं विद्याओं का आशय अन्तर्हित रहता है, और जगत् की चराचरता विविक्त रहती है। इस इन्द्रियों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के विना आत्मदर्शन जिस प्रकार असंभव है, उसी प्रकार आत्मदर्शन के विना अमृतत्वप्राप्ति भी स्वप्नमात्र है। इस माध्यम से मानव का ज्ञान सर्वतः पूर्ण हो जाता है, एवं स्वयं के विज्ञान से वह ज्ञान के अधिकरण में लीन हो कर अमर[१] बन जाता है। उसका यह दिव्य दर्शन दिव्य दृष्टि पर निर्भर है। उसके विना अर्जुन जैसे बलबुद्धिशाली को भी वह दिव्य दर्शन प्राप्त नहीं हो सका, और उसके सखा श्री कृष्ण[२] को दिव्य दृष्टि देनी पड़ी। दर्शन इसी दिव्य दर्शन का साधन है। वह उन अनुभवों का भंडार है-जो शाश्वत अपि च अप्रत्यक्ष हैं। अन्तर्जगत् इसकी प्रयोगशाला है, जहाँ पर निर्मित आध्यात्मिक प्रयोगों के आधार पर यह सत्य के साक्षात्कार करने का दृष्टिकोण रखता है। उसकी यही सत्य के साक्षात्कार करने की विधा उसे अध्यात्म-शास्त्र प्रमाणित करती है, एवं "दृश्यते[३] अनेन" यह शाब्दिक व्युत्पत्ति उसे चरम ज्ञान का चरम साधन सिद्ध करती है।

दर्शन का विकास

मानव के बुद्धि-बल को उत्कृष्ट देन दर्शन शास्त्र है, व उसी के विकास के साथ दर्शन का विकास संलग्न है। वस्तुतः दर्शन शास्त्र की मूलतः उत्पत्ति का कोई समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। उसमें जो

१—ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति (उपनिषद्)

(A) तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजुर्वेद)

२—न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ (गीता-११-८)

३—' दृश् धातु (पाणिनि)

विषय विविक्त हैं, अनादिकाल से उन पर कुछ न कुछ विवेचन होता आ रहा है, अत एव विषय विवेचन की दृष्टि से दर्शन की उत्पत्ति का समय निर्धारित करना आकाश को शृंखलित करना है। आदि काल में दर्शन अमृतत्व प्राप्ति को लेकर चलता है, किन्तु जब उसका विकास होने लगता है, उसका क्षेत्र भी विस्तृत बन जाता है। अनेक विचारक दर्शन से संबन्धित विषयों पर विकास के पूर्वभाग में श्रुति का प्रमाण रूप से उन्नयन कर सर्वथा स्वतंत्र रूप से विचार प्रकट करते हैं। किन्तु वेद की मर्यादा का पर्याप्त पालन एवं अनुशासन उन्हें मान्य है, और यही उनकी स्वतंत्रता का निरपेक्ष मापदंड है। विकास की दूसरी धारा पर्याप्त प्रगतिशील बन कर प्रवाहित होती है। विषय मूलतः वे ही रहते हैं, जिन्हें प्रथम धारा ने स्वीकृत किया है। पर एक मौलिक अन्तर यह आजाता है कि वह स्वतन्त्रता-जो पहली धारा को शिरोधार्य थी, इस धारा के द्वारा पददलित कर दी जाती है। वह कहीं स्वच्छन्दता और बहुत से स्थानों पर तो उच्छृंखलता तक के रूप में भी परिणत हो जाती है। प्रथम धारा द्वारा जो मर्यादा पालित थी, द्वितीय धारा उस बाँध को तोडने के लिए लालायित हो कर आती है। इन दोनों धाराओं के पारस्परिक संघर्ष से विचार परिपक्वता प्राप्त करते हैं. और यही विचारों की परिणति का युग वस्तुतः दर्शन के विकास का युग है। विकास की यही प्रथम धारा "आस्तिक दर्शन" एवं द्वितीय धारा "नास्तिक दर्शन" के नाम से अभिहित है।

दृष्टिकोण की विभिन्नता

यहाँ आने पर दर्शन के दृष्टिकोण में भी विभिन्नता उपस्थित हो जाती है। वह अमृतत्व प्राप्ति का साधन नहीं रहता, अपितु विचारों का संकलन मात्र रह जाता है। ऐसी स्थिति में सृष्टि एवं उसकी सर्वतोमुख वास्तविकता के संबन्ध में प्रस्तुत किये हुए विभिन्न विचारकों के एकतो-मुख विचार ही नियत एवं परिणत अवस्था में दर्शन कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार अनेक प्राणियों के एक ही क्षेत्र से आवागमन होने पर वह

सकता है। किन्तु उस काल का यह विचार स्वातंत्र्य आज की तरह अस्थिरता और भावुकता से समन्वित नहीं है। विचारक जो विचार लेकर चलता है, गंभीरता, विद्वत्ता और बुद्धिबल से उन विचारों को सिद्धान्त और आचार के रूप में परिणत कर देने के लिए वह सतत सचेष्ट रहता है। अत एव वे विचार समृद्ध. विभिन्न उपकरणों से परिपुष्ट, एवं व्यावहारिक वृत्तान्तों से प्रमाणित होते हैं। उनकी वास्तविकता पर छाप लगाने के लिए कहीं शास्त्र को शरण ली जाती है और कहीं लोक की। इन विचारों की स्पष्टता और पूर्णता एक अद्वितोय संपत्ति है- जिससे प्रभावित होकर प्रख्यात दार्शनिक आचार्य मैक्समूलर[1] ने इन विचारकों में अपनी अगाध आस्था प्रकट की है-एवं उन्हें पाश्चात्त्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक विस्पष्ट और पूर्ण सिद्ध किया है।

इन्हीं विचारों की नियत एवं परिणत अवस्था के आधार पर दर्शन के विविध विभाग उपकल्पित हैं। दर्शन की उत्पत्ति ही के समान इन विभागों का भी विषय के आधार पर इतिवृत्त प्राप्त होना दुश्शक ही नहीं, असंभव भी है। जो विचार इन विभागों के द्वारा विश्लिष्ट हैं-आंशिक रूप से उनका उपादान पूर्व के वाङ्मय में इतस्ततः होता रहा है। उनके पौर्वापर्य विनिश्चय में भो यही एक प्रबल बाधा है। फिर भी विभागों का पौर्वापर्य विचारकों के समय के अनुसार निश्चित करने का ऐतिहासिक परंपरा कुछ साहस अवश्य करती है-विचारों की स्पष्टता और सर्वाधिक पूर्णता को भी वह इस निर्णय का माध्यम बनाती है। बुद्ध और बृहस्पति इन अवान्तर कालवर्ती आचार्यों द्वारा प्रवर्तित विचारों के अतिरिक्त-इस धारा के १ सांख्य, २ योग, ३ न्याय, ४ वैशेषिक ५ पूर्वमीमांसा, ६ उत्तरमीमांसा ये छ विभाग सर्वतः परिपुष्ट और विद्वत्समुदाय द्वारा शिरसा समादृत हैं।

१—पृष्ठ ३ की टिप्पणी देखिये।

मौलिक एकता

इस विभाजनके अनन्तर भी दर्शनों की मौलिक एकता सतत अक्षुण्ण रहता है । प्रतिपादन शैलीको विभिन्नता के रहते हुए भी ये सभी पथ एक ही ओर उन्मुख हैं । उपनिषद्[१] इन सब की उद्गम-स्थली है, जहाँ से इनकी धाराएँ मूलतः उद्भूत हो कर मस्तिष्क के माध्यम से विहार करती हैं, अत एव इनमें से किसी का भी प्राथम्य अथवा आनन्तर्य प्रतिपादित करना असंभव प्रत्यय है । "सर्व-दर्शन-संग्रह" के लेखक श्रीयुत सायण माधवाचार्य ने वैदिक एवं अवैदिक इन दो प्रमुख धाराओं में अवैदिक धारा का विवेचन सबसे पूर्व प्रस्तुत किया है- इससे नास्तिक दर्शन के कतिपय अंगों का विकास प्रथम कोटि में हुआ प्रतीत होता है । दर्शनों के विकास का चरम स्वरूप ब्रह्ममीमांसा सभी को सादर स्वीकृत है । इनमें प्रथम उदय और द्वितीय विकास की परिचायिका है ।

विचार की इस शृंखलाका उदय संसार की सत्यता को लेकर होता है, और उसका चरम विकास उसे सर्वथा असत्य सिद्ध करता है । विभिन्न विभागों के फेरे में न पड़ कर यदि बृहस्पति से लेकर शंकर तक के विचारों को एक ही क्षेत्र में माना जाये, तो इससे दर्शन का लक्ष्य और विकास सुस्पष्ट हो जाता है । मध्य काल के विभिन्न दार्शनिक विचारों के इस संघर्ष में उतरते हैं, और अपनी देन सदा के लिए दे जाते हैं । शंकर इन सभी तत्त्वों का संकलन कर अपने विचार प्रस्तुत करता है, इसीलिए इस मौलिक एकता के आधार पर दर्शन की यहीं पराकाष्ठा है । यह तथ्य अंगीकृत करने पर दर्शन का नास्तिक स्वरूप प्रारंभिक आकार है, और आस्तिक उसका विकास । नास्तिकता पूर्वपक्ष है, और आस्तिकता सिद्धान्त । वह प्रथम असत्य मार्ग है, जो इस सत्य के साक्षात्कार तक

१—पृष्ठ १२ की टिप्पणी देखिये ।

अभ्यास[1] द्वारा पहुँचाता है। इससे आस्तिक धारा का महत्त्व भी प्रमाणित है–इसकी उत्कृष्टता एवं प्रगतिमयता ही इसका प्राथम्य है। जिस प्रकार अयथार्थ के पीछे यथार्थ छिपा रहता है, उसी प्रकार नास्तिकता के पृष्ठदेश में आस्तिकता विराजमान है। सत्ता के विना निषेध निराश्रय है, और निषेध के विना सत्ता माहात्म्यहीन है। यह तो विचारों की एक अटूट शृंखला-मात्र है–जिससे इनकी एकता अटल बनी रहती है।

विचार की इस सरणि का तांता सर्वदा अक्षुण्ण रहता है–उसके विकास की विभिन्न धाराएँ ही वस्तुतः विभाजन के मूल कारण हैं, किन्तु उसका अभिप्राय उसकी एकसूत्रता में बाधा पहुँचाना नहीं है। स्थूल से प्रारंभ हो कर सूक्ष्म तत्त्व तक उसे पहुँचना है–इस लंबे चौड़े मार्ग में जहाँ थोड़ा सा आश्रय उसे मिलता है, वही अवस्थान-स्थान "स्टेशन" बन जाता है–ये विभाग यही तथ्य रखते हैं। श्रुति भी इसकी साक्षी है।

जिस प्रकार किसी शिशु को हितकारक अपितु कड़ी दवा पिलाने से पूर्व दवा के नाम से शहद चटाकर उसे उसकी ओर आकर्षित किया जाता है, उसी प्रकार उस सूक्ष्मतत्त्व तक पहुँचाने से पूर्व स्थूल और संपर्क में आने वाली प्रिय वस्तुओं को ही उस रूप में बताया जाता है। कभी अन्न को आत्मा सिद्ध किया जाता है, कभी शरीर को, कभी इन्द्रिय को कभी प्राण को, कभी मन को। एक से एक की सूक्ष्मता, महत्ता और उपादेयता स्पष्ट[2] है। अधिकारी की योग्यता भी इस तत्त्व–ज्ञान के शिक्षण का मापदंड है। अन्धे को जब हाथी का परिचय देना होता है–उसकी श्वेतता अथवा श्यामता के माध्यम से नहीं, अपितु त्वाच स्पर्श

१—उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, ततः सत्यं समीहते।।

(वाक्यपदीय–भर्तृहरि)

२—तैत्तिरीयोपनिषद् (१८–१)

से ही दिया जाता है-इसी आधार पर अवैदिक दर्शन आस्थित हैं। वे स्थूल के अधिक निकट हैं, सूक्ष्म के कम। उनमें भी अनन्तरकालिक दर्शन जिनमें-बौद्ध-प्रमुख है-स्थूलता से बहुत आगे बढ जाते हैं।

सूक्ष्मतर तत्त्व तक पहुँचने का यही एक मार्ग है-उदय और विकास इन दोनों के मध्य में आने वाली संपूर्ण परिस्थितियां उस मार्ग के श्रेष्ठ पथिकों की प्रगति की द्योतिका है। वस्तुतः वैदिक, अवैदिक विभाग कल्पना मात्र हैं, जो इनकी अवान्तर स्थिति के परिचायक हैं। यह तो सब एक ही साधना के लिए किये गये विभिन्न प्रयत्न और सफल प्रयोग हैं-जिनकी सफलता के प्रति संसार आकर्षित है? एवं इस इतने लंबे लक्ष्य को पूर्णता में सहयोग देने वाले और इस सरणिको यहाँ तक पहुँचाने में जीवन तक व्यतीत करदेने वाले साधकों का संपूर्ण विश्व सदा के लिए ऋणी है।

दर्शन की देन

१. राग-द्वेष का बहिष्कार

यथार्थता का परिचय दर्शन की प्रमुख देन है। वह हमें हमारी वास्तविकता का ज्ञान करता है। संसार क्या है, और उसमें हमारा कितना स्थान है, दर्शन हमें इसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन करा देता है। जीवन की क्षण-भंगुरता का उपदेश कर वह हमें प्रेरणा देता है कि इसमें ऐसी कोई वस्तु नहीं. जिससे मोह करना शांतिदायक हो। वह हमें निर्लोभ, संतुष्ट. शांत, अहिंसक और विचारशील बनाता है। इसी विचारशीलता के आधार पर हम राग द्वेष की सीमा से निकल कर "विश्वबन्धुत्व" की भावना को मूर्तिमान् बना सकते हैं। जिस प्रकार एक ही पत्थर से दो प्रतिमाएँ निर्मित हों, एक राम के आकर की हो, दूसरी रावण की। राम की आकृतिवाली प्रतिमा को देख कर एक आस्तिकजन को उसमें राग

उत्पन्न होजाता है, और रावण की प्रतिमा में द्वेष। वह इन दोनों मूर्तियों को देखते हुए यह दृष्टि नहीं रखता कि इन दोनों में पत्थर नामक वस्तु समान है – अपितु वह उनके नाम और आकार विशेष मात्र पर दृष्टि डालता है–जिससे एक में राम की भावना से अनुराग, और दूसरी में रावण भावना से द्वेष उत्पन्न हो जाता है। मानव इसी भावना–जगत् के द्वारा शासित है–इसलिए इसके शासन से मुक्त होना उसके लिए असंभव नहीं, तो दुश्शक अवश्य है। इसके शासन को उच्छिन्न करना दर्शन का प्रमुख कार्य है। वह भावना जगत् की छाप भावुकता को मिटा कर मानव के अन्तस्तल में निजो देन निष्ठा का निवेश करता है। दर्शन की इस देन से मनुष्य अन्धानुयायी नहीं रहता–वह अच्छी तरह जान लेता है कि जिस वस्तु में राम के कारण अनुराग और रावण के कारण द्वेष की भावना को जा रही है, वह न राम है न रावण। वह तो एक पत्थर है, जो दोनों में समान है। उसकी यही विवेकशीलता उसे निष्ठावान् बना देती है, जहाँ नाम और रूप के कारण उत्पन्न होने वाले संपूर्ण रागद्वेष उच्छिन्न हो जाते हैं, और साम्यकी भावना अपना साम्राज्य स्थापित कर लेती है। इस राग द्वेष को भावना के नष्ट हो जाने पर चित्तवृत्ति निश्चिन्त, एकतोमुख और सतत प्रसन्नता प्राप्त कर साम्यावस्था धारण कर लेती है, जहाँ उसके लिए न कोई प्रिय है, और न अप्रिय। न कोई स्वीय है, न अपर–यही मानवता की पराकाष्ठा है। इसीलिए वाल्मीकि को सीता जब स्वयं को राम के दुःख से आक्रान्त समझती है, तो अपने आप में हीनता का अनुभव करती है। वह उन महात्माओं को आदर्श व धन्य मानती है–जिनके प्रिय और अप्रिय[1] दोनों समान है।

१—"धन्यास्तु ते महात्मानो येषां न स्तः प्रियाप्रिये"

प्रियान्न संभवेद्दुःखमप्रियादधिकं सुखम्।

ताभ्यां हि ये वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम्॥ (सुन्दरकांड)

वस्तुतः उनकी नमस्करणीयता में किसी को भी संशय नहीं है, ऐसी स्थिति में पहुँचने पर तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है। उसमें और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यह दर्शन ही की प्रमुख देन है–जो हमारी दैनिक वृत्तियों में परिवर्त्तन कर हमें इतनी उच्चता की पराकाष्ठा पर पहुँचने का संकेत करती है।

२. विश्व–बन्धुत्व

आत्मा को विभुता के द्वारा वह मानव को उदारता की शिक्षा देता है, और उस व्यापक तेज के स्फुलिंग को भी वह जहाँ से निकलता है, उसी की तरह व्यापक बनने की ओर प्रेरित करता है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" के प्रतिपादन से वह संपूर्ण जीवों की एकता प्रमाणित कर "उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्" इस सूक्ति को जीवन में उतारना चाहता है। यहाँ आकर उसकी सांप्रदायिक और धार्मिक कट्टरताएँ नष्ट होजाती हैं–ऐक्य और साम्य की भावना उस कट्टरता के स्थान को ग्रहण कर लेती है। उस विभु के दिव्य अंश होने के कारण न उसको किसी के सामने दैन्य दिखाना उचित है, और सबके समान अस्तित्व रखने के कारण न उसके लिए अभिमान में फूलना ही योग्य है। इसी आधार पर उसके आत्मतत्त्व का विकास होता है–जिसकी सबसे पहली देन करुणा है। यह ऐसा सूत्र है–जिससे एक, दो, चार ही क्या, असंख्य जीव शृंखलित होकर ऐक्य प्राप्त कर सकते हैं। उदारता इसीका विकसित रूप है और मानवता इसी की उत्कृष्ट विचार समन्वित कोटि। इसकी महत्ता सर्वानुमोदित है। आत्मा के विकास की प्रमुख देन होने के कारण सब गुणों में इसकी कोटि उन्नत है। विद्वत्ता की प्रौढ़ अवस्था से भी इसका स्थान प्रथम है। इसी सूत्र से पिरोने पर वसुधा की एक-परिवारता सहज–गम्य सत्य है। हमारे लौकिक अनुभव इसके साक्षी हैं कि शोक के समय एक दूसरे की सहायता करने वालों में आत्मीयता का विकास कितना अधिक हो पाता है। मनुष्यता के परीक्षण ही का समय यही होता है:—

धीरज, धरम, मित्र अरु नारी, आपत्काल परखिये चारी।

कविका यह कथन प्रयोग-सिद्ध है। ऐसे ही समय मनुष्य को अपनी वास्तविकता का परिचय मिलता है। वह स्वभावतः अपनी हीनता का अनुभव कर उस चरम तत्त्व की ओर आकर्षित होता है—यदि ऐसी दशाएं मनुष्य पर नहीं आयें, तो वह स्वयं को परमात्मा से भी बढ़ कर अदम्य समझ बैठे-इसीलिए कबीर ने कहा है—

"दुख में सुमिरण सब करैं, सुख में करै न कोय"

महादेवी[१] भी तो इसी लिए विरह को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानती है। संक्षेप में एकता का यह सूत्र उस आत्मिक तत्त्व की देन है-जिसके विकास की प्रेरणा दर्शन शास्त्र देता है। इस प्रकार मनुष्य सहज ही वसुधा के जीवों से तादात्म्य स्थापित कर सकता है, और आजकी यह विश्वबन्धुत्व की भावना इसी प्रायोगिक अनुभव से मूर्त्त हो सकती है। केवल शास्त्रीय प्रतिपादन से नहीं, प्रयोग की दृष्टि से देखने के लिए संत कबीर का उदाहरण पर्याप्त है। भारतीय दर्शन की इस देन को अपनाकर कबीर ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य का नारा बुलंद किया। दर्शन के एकात्मवाद के आधार पर उसने राम और रहीम की एकता को प्रचारित कर अपने काल का प्रतिनिधित्व प्राप्त किया। कट्टरताओं और सांप्रदायिक भावनाओं का निराकरण कर उसने हिन्दू और मुस्लिम दोनों प्रकार के जन-समूह में निजी श्रद्धा स्थापित की। यह दर्शन ही की देन है।

३. जीवन की विशालता

दर्शन हमारी चित्तवृत्तियों को संयत और विस्तृत बनाता है। जीवन के लिए वह एक विशाल क्षेत्र प्रस्तुत करता है—जिससे हमारी एषणाएँ अलौकिक बनती हैं। उसके मंतव्य में दृश्य जगत् ही पूर्ण नहीं है-

१—"मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ"।

उसके अतिरिक्त एक विभुलोकका अस्तित्व भी उसे संमत है। इसीलिए वह जीवन को इस दृश्य लोक की सीमा से ऊँचा उठाता है-ऐसी स्थिति में लोक का स्वार्थ उसे बाँध नहीं पाता। इस विशाल क्षेत्र में दर्शन का प्रभाव मनुष्य को इधर उधर भटकने से बचाता है। यहाँ आकर उसकी संपूर्ण वृत्तियां एवं शक्तियां विकसित हो उठती हैं। उन्हें इस विशाल क्षेत्र में विहार करने की निर्बाध स्वतंत्रता होती है। इन्द्रियों की गति भी तीव्र और प्रगतिमय बन जाती है, उनके आराध्य एक और विस्तृत हो जाते हैं। जिस प्रकार एक खुले और साफ सुथरे मैदान में घोडा अपनी त्वरित गति से स्वच्छन्द दौड़ता है और शीघ्र प्राप्य स्थान तक पहुंच जाता है, वही स्थिति इन्द्रियों की होती है। उनका क्षेत्र लोक की तरह अपवित्र नहीं रहता, उनकी वृत्ति स्वच्छ और पूत हो जाती है। लोक की छोटी छोटी आवश्यकताऐं और बन्धन उन्हें नहीं रोक पाते। वृत्तियों की इस विशालता में मनुष्य के संपूर्ण सुख दुःख विलीन होजाते हैं। वृत्तियां जितनी संकुचित होंगी, मानव उतना ही अधिक दुःख से आक्रान्त होगा। एक साधक परमात्मा की छोटी से छोटी वस्तु को देखकर आनन्दित होता है। एक खिले हुए फूल को देखने पर उसे उतना ही उल्लास होता है, जितना कि एक पिता को अपनी पुत्रपरंपरा को बढ़ते देखकर होता है। नदी और झरने का कल कल निनाद उसके लिए वीणा से भी अधिक आनन्द दायक है और प्रकृतिक लीलाऐं उसे चित्रपट से भी अधिक आह्लादित करने के लिए पर्याप्त हैं। इस प्रकार उसका आनन्द स्वाभाविक और असीम बन जाता है। उसे संसार का कोई कष्ट अधीर नहीं बना सकता। वृत्तियों की विशालता से जिस प्रकार सुख बढ़ता है, उसी प्रकार उससे भी अधिक मात्रा में दुःख नष्ट होता है। हम अनुभव करते हैं- कि आपत्ति के समय जब हमसे हमारे सहज मित्र सहानुभूति प्रकट करने आते हैं-हमारा कष्ट एक प्रकार से विभाजित हो जाता है। इसी प्रकार सुख भी अकेले भोगने की वस्तु नहीं, वर को अपनी वरयात्रा में अधिक संख्या में निजी व्यक्तियों को संमिलित देख कर जितना आह्लाद

होता है, एकाकी जाकर परिणय संस्कार करने में नहीं। अतएव यह सर्वसंमत है कि वृत्तियों की विशालता से सुख जितनी अधिक मात्रा में बढता है—दुःख उतना ही कम होता है:—

"सुख बढ जाता, दुःख घट जाता, जब है वह बँट जाता"

किसी पारखी की यह उक्ति वस्तुतः संगत है।

जीवन की इस विशालता से सुख भी विस्तृत होजाता है-वह इस क्षणभंगुर सुख को ही सुख नहीं मानता ? इसके लिए न वह प्रयत्न ही करता है। वह स्वयं को अमर शक्ति का अंश समझने लगता है। इसी लिए वह अविनश्वर वस्तु की ओर ही आकर्षित होने का स्वभाव बना लेता है। विशालता से ममत्व की भावनाएँ या तो सर्वथा लुप्त ही हो जाती हैं, यदि रहती भी हैं, तो ये भी इतनी विस्तृत बन जाती हैं कि संपूर्ण विश्व उस ममता[1] में समा जाता है। कामिनी[2] और कनक ही क्या, संपूर्ण विश्व का एकच्छत्र साम्राज्य उसे प्रिय नहीं लगता। अपने लक्ष्य के संमुख संपूर्ण प्रयोग मार्ग[3] भी उसे विचलित नहीं कर पाते ? अत एव यह व्यापकता उसे व्यापक और निरतिशय आनंद की अवाप्ति के लिए प्रेरित करती है। जिस श्रेयोमार्ग से उसकी विशालता विभुता की पराकाष्ठा में लीन होकर कृतकृत्य होजाती है ।

४. साहित्य की स्थायिता

आचार्य रामचंद्र[4] शुक्ल के शब्दों में" साहित्य जनता की चित्त-वृत्तियों का संचित प्रतिबिंब है"। वह जंगम जीवन का एक स्थिर कला-

---

१—त्यक्तव्यो ममकारस्त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्तव्यो ममकारः परं स सर्वत्र कर्तव्यः॥

२—वस्तुतस्तदनिर्देश्यं, न हि वस्तु व्यवस्थितम्।
कामिनीकनकेभ्योऽपि, न सुखं शान्तचेतसाम्॥

३—"प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते (काठकोपनिषद् २–२)

४—हिन्दी साहित्य का इतिहास १ पृष्ठ।

त्मक लेखा है। जीवन से संबन्धित सुन्दर एवं असुन्दर, यथार्थ और आदर्श इसमें संकलित होते हैं, किन्तु उसका असुन्दर सौन्दर्य की सुन्दरता बढ़ाने के लिए आता है। उसके लिए स्वतंत्र रूप से साहित्य में कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार उसका असत्य भी सत्य की परिपुष्टि के लिए होता है। महाकवि तुलसी का राम आदर्श और रावण यथार्थ का नग्न रूपक है। राम सत्य और रावण असत्य का संकलन है। उनका राम और रावण का संघर्ष सत्य और असत्य का संघर्ष है और उसमें रावण की पराजय असत्य की पराजय है एवं राम की विजय वस्तुतः सत्य की विजय है।

रावण के बल वीर्य का विस्तार राम के माहात्म्य गान के लिए है। इस प्रकार साहित्य सत्य के सात्तात्कार से मानव को शिव पथ की ओर आकर्षित करता है—वह वस्तुतः "सत्यं शिवं सुन्दरम्" का सुन्दर लेख है, अत एव वह नश्वर संसार को अमर स्वरूप देने में सफल होता है। यही उसकी स्थायिता है।

साहित्य-समीक्षकों ने साहित्य को दो पक्षों में विभाजित किया है—१ भावपक्ष, २ कलापक्ष। भावपक्ष उसका मूल आधार है, और कलापक्ष उसके अभिव्यक्त करने की कलात्मक पद्धति। माहात्म्य और स्थायिता के आधार पर साहित्य का भावपक्ष दो रूपों में आता है। आत्मिक भावपक्ष साहित्य को स्थायी रागात्मक तत्त्व प्रदान करता है—जिससे वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक बन पाता है। भौतिक भावपक्ष इस महाभूतमय प्रपंच से ऊंचा नहीं उठाता, केवल ऐन्द्रिक तत्त्वों को गुदगुदाने में ही उसकी क्षमता है। इस पक्ष पर आधारित साहित्य देश और काल की संकुचित परिधि में सीमित रहता है, उसे सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता नहीं प्राप्त हो सकती। इसी लिए उस कोटि का साहित्य अपूर्ण रहता है। वह साहित्य के उद्देश्य की पूर्ति में निम्न साधन बन कर आता है। साहित्य में स्थायिता, पूर्णता, मौलिकता एवं महत्ता का यदि संचार होता है, तो

वह आत्मिक भावपक्ष दर्शन ही की देन है-जिससे साहित्य की स्थायित सुरक्षित रहती है।

उदाहरण से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है:- तुलसी व सूर हिन्दी साहित्य के अमर महाकवि हैं। कालिदास संस्कृत साहित्य हो क्या, संसार के सर्वोत्कृष्ट कवि के रूप में परिगणित किये जाते हैं। तुलसी और कालिदास की रचनाएँ विश्व के साहित्य में आज भी महान् आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं, क्यों कि उनमें प्रतिपादित सत्य शाश्वत है। विशेषता यह है कि वह सत्य दिनों दिन नवीन बनता जाता है। अनुसन्धाता उस सत्य के अनुसन्धान में जितनी अधिक मात्रा में प्रवृत्त होकर उसका अनुसन्धान करते हैं, वह उतना ही अगाध बनता जाता है। यही कारण है कि ये रचनायें केवल ऐन्द्रिक तत्त्वों को जागृत कर ही अपना लक्ष्य पूर्ण नहीं कर लेतीं, अपितु जीवन पर अपना एक सत्य, शाश्वत प्रभाव छोडती हैं। तुलसी का रामचरितमानस अपनी इसी मौलिकता के आधार पर कई शताब्दियों से जन मन का शासन कर रहा है। उसकी रचना स्थान स्थान पर दार्शनिक सिद्धान्तों से ओतप्रोत है, अतएव उसे स्थायिता प्राप्त है, और वह विद्वानों की संपत्ति बनी हुई है।

कालिदास का काव्य निगम आगम के अभिप्रायों की निधि है। रागात्मक तत्त्वों के जागृत कर देने में ही उसकी इतिकर्तव्यता पूर्ण नहीं होती। वह परिपक्व दार्शनिक विचारों को आचार के अभिप्राय से प्रस्तुत करता है। उसकी ऋषिकल्पता[१] पर सबसे प्रथम आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री ने अनुसन्धान कर स्पष्ट किया है कि कालिदास का साहित्य क्यों सत्य और शाश्वत बना हुआ है।

इससे अतिरिक्त कोटि का साहित्य-जिसमें आत्मिक भावपक्ष के स्थान पर भौतिक भावपक्ष रहता है-वस्तुतः स्थायी नहीं होता। उसमें

१—देखिये —"ऋषि-कल्पः कालिदासः (पट्टाभिराम शास्त्री)

इस प्रकार के तत्त्व नहीं आ पाते-जिससे वह सत्य और शाश्वत बन सके। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की विद्वत्ता में किसी भी मनीषी को संशय नहीं है-फिर भी उनका साहित्य उस काल की सीमा से बाहर आदर नहीं पा सका। देश की सीमा से बाहर संमानित होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकी। या तो वह उस परिवार की संपत्ति के रूप में रहा, जिसके पूर्वजों पर वह आधारित था, अथवा अधिक से अधिक उसका विकास हुआ, तो इतना हुआ कि वह इने गिने पुस्तकालयों में अथवा पढ़े लिखे व्यक्तियों की दृष्टि में स्थान पा सका। उसे अखिल-भारतीयता ही प्राप्त नहीं हो सकी, तो फिर इतर देशों में उसके संमान की तो कल्पना ही आकाश में फूल लगाने के समान है। पर्याप्त विद्वत्ता, उत्कृष्ट लोकशास्त्रकाव्यनिपुणता, विकसित उद्भावनाशक्ति, एवं मनोरम अभिव्यंजना-पद्धति के रहते हुए भी उनका साहित्य इसलिए संमानित और सार्वदेशिक नहीं हो सका, क्यों कि उसका मूल (भावपक्ष) सत्य और शाश्वत नहीं था। इसके अभाव में उसको स्थायिता, महत्ता और उपादेयता तो दूर रही, उसे असंख्य प्राणियों की दृष्टि में हेयता का भाजन और होना पड़ा। आचार्यशुक्ल[१] ने इसीलिए रसिकशिरोमणि, बिहारी के साहित्य की सर्वगुणसंपन्नता स्वीकृत करते हुए भी उसकी गति का स्तर निम्न सिद्ध किया है। वस्तुतः इस प्रकार का साहित्य जो इस दर्शन की अनुपम देन से वंचित रहता है, मानव को उच्च स्तर पर ले जाने की क्षमता नहीं रखता।

उपर्युक्त विवेचन से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साहित्य में यदि स्थायिता नाम की कोई वस्तु रहती है, तो वह दर्शन ही की विकसित देन है। इस प्रकार जब साहित्य पर दर्शन का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है, तो फिर साहित्य से अनुप्राणित होने वाला समाज अथवा उसका जीवन दर्शन के विना किस प्रकार जीवित रह सकता है। समाज पर इसी दर्शन का प्रभाव कभी सुधार के रूप में, और कभी उच्छृंखलता

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास।

व अव्यवस्था के रूप में पडता है। यह दर्शन की पवित्र देन, जब अयोग्य और अनधिकृत व्यक्तियों के हाथ में पड जाती है, तो समाज में उच्छृंखलता और अव्यवस्था का साम्राज्य फैल जाता है। मानव तर्क के जाल में पड़ जाता है, और यह तर्क का जाल कभी उसे निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँचने देता—उसे अयथार्थ ज्ञान में इस प्रकार फँसा देता है,—जिससे वह कभी वास्तविकता तक नहीं पहुंच पाता। ये हठयोग आदि निर्गुण संप्रदाय की विकृत परंपराएँ इसी के विकृत भंडार हैं।

संक्षेप में भारतीय विचारकों द्वारा आत्मा से संबन्धित एवं बौद्धिक विषयों पर प्रस्तुत किये हुए ये विवेचन जीवन के सौंदर्य को अमर करने के साधन हैं। इससे हमारे जीवन का सौंदर्य सत्य और शाश्वत बन सकता है। वस्तुतः दर्शन मानव जीवन के विकास की कथा, भावुकता पर निष्ठा, धार्मिक कट्टरता पर धार्मिक सहानुभूति एवं पाशविकता पर विवेकता की विजय है। विश्वविख्यात दार्शनिक व हमारे उपराष्ट्रपति सर राधाकृष्णन् के ये शब्द इसकी महत्ता प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं—

"The Progress of man, it is generally admitted to day, is a continuous victory of thought over passion, of tolerance over fanaticism, of Persuasion over force"

(General Prefce of Purva Mimamsa, by Prof. Ganganath Jha)

प्रथम वर्गीकरण

दर्शन के इन विकसित विभागों में छै दर्शनों का प्रमुख स्थान रहा है, अतएव उन्हीं के पारस्परिक संबन्धों के विषय में विचार विमर्श करना इस प्रसंग के लिए पर्याप्त है। १४ वीं शताब्दी से पूर्व तक इनकी वर्तमान रूपरेखा निश्चित नहीं मिलती है, और न इनका कहीं एक साथ समाख्यान ही है। सबसे पूर्व उपनिषदों में सत्य के अन्वेषण के लिए

कतिपय विद्या-स्थान विज्ञापित हैं। उनमें इनका नाम तक कहीं नहीं आता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने[1] जिन विद्या-स्थानों की गणना कराई है-उनमें इनमें से केवल न्याय और मीमांसा का समाम्नान है। महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में ५-२१) जिन चतुर्दश विद्याओं की ओर संकेत किया है, उसके विख्यात व्याख्याकार मल्लिनाथ ने[2] उनमें मीमांसा और न्याय को भी संमिलित किया है। १० वीं शताब्दी के समीक्षक राजशेखर की काव्य[3] मीमांसा में वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में शास्त्रों की गणना के समय इनमें से आन्वीक्षिकी और मीमांसा का नामोल्लेख हुआ है। यह आन्वीक्षिकी न्याय के अभिप्राय में है। इन तथ्यों के संकलन से इस निर्णय पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि इन छै दर्शनों का जो वर्गीकरण आज उपलब्ध है, वह प्राथमिक नहीं है। इसका प्रथम वर्गीकरण छै विभागों में नहीं, अपितु दो ही रूपों में प्रचलित होता है। अध्ययन, सत्य की गवेषणा, एवं विद्या-स्थानों में इनका इस रूप में अनिर्देश ही इसका साक्षी है। प्रथम[4] वर्गीकरण न्याय और मीमांसा इन दो खंडो में हुआ-जिसका सबसे पहले महर्षि याज्ञवल्क्य ने उल्लेख किया। न्याय और मीमांसा में दर्शन से संबन्धित संपूर्ण अंग एवं विचार समाविष्ट हुये। न्याय प्रमाण शास्त्र एवं मीमांसा प्रमेय शास्त्र के रूप में अपनायी गई। इन दोनों में न्याय प्रथम और मीमांसा अंतिम परिणाम हुआ। मीमांसा में अनुसन्धान, विचार, वितर्क, और विवेचन संमिलित हुये-जिनके लिए आधार निर्माण का कार्य न्याय ने पूरा किया।

१—पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिता।
वेदाः स्थानानि विद्यानां, धर्मस्य च चतुर्दश। (याज्ञवल्क्यस्मृति)

२—अत्र मनुः—अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा-न्याय विस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च, विद्या ह्येता चतुर्दश (५-२१ टीका मल्लिनाथ)

३—पौरुषेयं तु पुराणम् आन्वीक्षिकी मीमांसा स्मृतितंत्रमिति
चत्वारि शास्त्राणि (का. मी. २ अ. तृ. पृष्ठ.)

४—देखिये पूर्वमीमांसा प्रस्तावना २. डा० गंगानाथ झा (अंग्रेजी)

संसार के ज्ञातव्य पदार्थों के दो ही प्रमुख भाग हैं:-प्रमाण और प्रमेय। प्रमाण ज्ञान का साधन है, तो प्रमेय उस साधन के द्वारा सिद्ध अर्थ। इस प्रमाण के आधीन प्रमेय की सिद्धि है। जिस प्रकार प्रमेय का प्रथम उपादान प्रमाण है, उसी प्रकार न्याय मीमांसा का प्रथम उपादन है। मीमांसा जिस खोज अथवा चित्र-निर्माण के लिए प्रवृत्त होती है, उसके लिए भित्ति तैयार करने का कार्य न्याय का है। इन दो विभागों में दर्शन का संपूर्ण विचार अन्तर्हित हो जाता है। यही कारण है कि हमारे दर्शनों का प्रथम लक्ष्य प्रमाण विवेचन बना और वह पहले प्रमुख अध्याय के रूप में उपस्थित हुआ। उसकी आवश्यकता तो किसी से छिपी हुई नहीं है, किन्तु उसकी महत्ता का अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि दर्शन के अनेक आचार्यों ने केवल उसे ही अपनी लेखनी का सर्वस्व बना लिया और प्रत्येक दर्शन में उसके लिए प्रमुख स्थान सुरक्षित रहा। इससे उसकी व्यापकता भी स्पष्ट है।

यदि इन दोनों शब्दों को रूढ अर्थ में न ग्रहण किया जाये, तो वस्तुतः आज भी प्रत्येक दर्शन के ये ही दो रूप मिलते हैं। उसका वर्गीकरण विषय की दृष्टि से इन्हीं दो भागों में किया जा सकता है- पहला भाग-जिसका संबन्ध प्रमाण विवेचन से है-न्याय, और दूसरा भाग-जिसका संबन्ध प्रमेय विवेचन से है-मीमांसा है। इस प्रकार प्रत्येक दर्शन न्याय और मीमांसा का संकलित रूप है। इसके ये ही विषय के आधार पर उपकल्पित विभाग सामुदायिक रूप से महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा दो नामों से संबोधित हैं।

काल्पनिक क्रम

विचारों की यह माला इस प्रकार गूंथी हुई है कि इसमें से किसी माणिक्य के गुंफित करने का क्रम दुर्बोध है। इस क्रम का निश्चय दो प्रमुख आधारों पर किया जा सकता है—प्रथम विचारकों का काल निर्णय, द्वितीय विचारों का विकास। विचारों के काल के निश्चित हो

जाने पर हम यह भली भाँति जान सकते हैं कि किस समय के विचारकों ने कौनसे मेंसमय विचार व्यक्त किये। इससेउनका पूर्ण पौर्वापर्य निश्चित होतसकता है। किन्तु पुष्ट ऐतिहासिक तथ्यों के अप्राप्त रहने के कारण इस संबन्ध में अभी कोई प्रगति नहीं हो सकी, व न निकट भविष्य में संभव हो है। ऐसी स्थिति में क्रम निर्णय के लिए दूसरे उपाय के सिवा कोई आधार ही नहीं रह जाता है। सबसे पहले इस आधार पर हमें यह सोचना है कि विचार की इन विभिन्न परिपाटियों में किसका विकास अधिक और किसका न्यूनता की ओर उन्मुख है। विचारों के विकास का क्रम ही वस्तुतः इनके पौर्वापर्य का मापदण्ड हो सकता है। इसी आधार को लेकर दार्शनिक अनुसन्धाताओं ने विभिन्न मंतव्य प्रस्तुत किये हैं, पर उन्हें भी इसमें पर्याप्त संकट का सामना करना पड़ा है। क्योंकि विकास के आधार पर भी यह निश्चय करना कि किस विचार धारा का आविर्भाव पूर्व व किसका अनन्तर हुआ, सहज नहीं है। जिस विचार धारा ने जिन्हें अपना लक्ष्य बनाया है, उसमें उनकी पूर्णता में संशय की गुंजाइश नहीं है। यह हो सकता है कि एक परिपाटी ने एक विषय को छूआ तक न हो, और दूसरी ने उसे अपना ध्येय मान लिया हो। इतने मात्र से ही एक दूसरे की अपूर्णता सिद्ध नहीं की जा सकती। हाँ, यह अवश्य है कि जिसने जिन विषयों को अपना लक्ष्य बनाया हो, वे ही विषय यदि दूसरी परिपाटियों के द्वारा विस्तृत रूप से विवेचित किये गये हों, तो हम तुलनात्मक पद्धति से उनके विकास का निर्णय कर सकते हैं। यह एक ऐसी समस्या है-जिससे आज तक की अनुसन्धान में प्रवृत्त लेखनियां प्रभावित रही हैं।

विचारों के विकास के सहायक रूप में इन प्रणालियों की विचार-पद्धति भी इस कार्य में सहायता कर सकती है। प्रतिपादन शैली पर काल का प्रभाव अधिक स्पष्ट रहता है। विषय के गांभीर्यपूर्ण, समान व एकतोन्मुख होते हुए भी उसके अभिव्यक्त करने की शैली यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हो सकती है कि ये विचार किस काल की देन हैं।

भाषा भी इसीके साथ संलग्न है, जो इसके परिज्ञान का मूल आधार है। आज के समालोचक किसी अज्ञातकविसमय काव्य के काल-निर्णय के लिए उसे इसी प्रमुख कसौटी पर कसते हैं। "पृथ्वीराज रासो" की भाषा ही महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा को उसकी अप्रामाणिकता प्रतिपादित करने के लिए सबसे अधिक प्रेरणा देती है। इन्हीं में से कुछ एक तथ्यों को आधारित कर दार्शनिक ऐतिहासिकों ने इनका क्रम निम्न प्रकार से निर्धारित किया है। इस ओर अनवरत साधना करने पर जो परिणाम उन्हें प्राप्त हुए, उनका संग्रह मात्र ही इस प्रसंग के लिये पर्याप्त है।

विख्यात दाक्षिणात्य विद्वान् प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्री उपर्युक्त कठिनताओं का विवेचन करते हुए इन छै परंपराओं में सांख्य का सबसे पूर्वत्व प्रतिपादित करते हैं, और वेदांत का आनन्तर्य। १ सांख्य २ योग ३ न्याय ४ वैशेषिक ५ पूर्वमीमांसा ६ उत्तरमीमांसा। यह क्रम जिसे वे घोषित करते हैं—उसको काल्पनिक-क्रम कह कर उनने स्वयं ही उपरि प्रतिपादित तथ्य को प्रमाणित किया है। सांख्य और योग इन दोनों दर्शनों की प्राचीनता उन्हें अभीष्ट है, और उसके प्रतिपादन के लिये वे कठ और श्वेताश्वतरोपनिषदों का प्रमाण रूप से आह्वान करते हैं—क्योंकि इन उपनिषदों में ये दोनों ही प्रस्तुत हैं। न्याय के सूत्रों में सांख्य के मंतव्य आशंकित हैं—जिससे भी न्याय की अपेक्षा सांख्य की प्राचीनता विस्पष्ट है। न्याय में जिन पदार्थों का अंगीकार नहीं किया गया है, वैशेषिक विशेष रूप से उन्हें स्वीकृत करता है, अत एव वैशेषिक की अपेक्षा न्याय की प्राथमिकता स्पष्टतर है। पूर्व मीमांसा अपने पूर्व की चार परिपाटियों द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्तों में प्रत्यालोचना के लिए बहुतों को अपनाती है, इसीलिए उसकी अन्तरता प्रतीतिगम्य है—वेदांत की अर्वाचीनता में तो संशय के लेश के लिए भी गुंजाइश नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के अग्रगण्य दार्शनिक डा० गंगानाथ[1] झा भी

१—देखिये प्रस्तावना पूर्व-मीमांसा। डा० गंगानाथ झा।

इसी क्रम को स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि मानव की स्वाभाविक और प्राथमिक जिज्ञासा को तृप्त करने का कार्य सांख्य दर्शन करता है। वह गोचर और अगोचर दोनों प्रकार की वस्तुओं का पर्याप्त विश्लेषण करता है, और अगोचर वस्तुओं की भी अनुभूति प्रतिपादित करता है। मानव प्राचीन काल से गोचर और अगोचर वस्तुओं की विभिन्नताओं को जानता है। और उसीके ज्ञान का विकसित लेखा सांख्य दर्शन प्रस्तुत करता है। अत एव उसका प्राथम्य मान्य है। योग उसीके प्रायोगिक अनुभव हैं, और उससे उसकी अनन्यता स्पष्ट है। सांख्य दर्शन जहाँ तक पहुँचता है, न्याय उससे भी आगे बढता है-वह भौतिक और अभौतिक पदार्थों के लिए सुगम मार्ग निर्धारित करता है-वैशेषिक, उसीका अविभाज्य रूप है। ये चारों धाराएँ जो कार्य अवशिष्ट छोड़ती हैं, शेष दो धाराएँ उसे पूर्ण करती हैं।

"पाश्चात्य दर्शनों के इतिहासकार[१]" आचार्य गुलाबराय एम० ए० अनेकता की ओर से एकता की ओर प्रगति के आधार पर इन हिन्दू दर्शनों का निम्न रूप से क्रम निर्धारित करते हैं-१ वैशेषिक २ न्याय ३ सांख्य, ४ योग, ५ मीमांसा, ६ वेदांत। संस्कृत विद्या के इतिहास के लेखक श्रीयुत कपिलदेव द्विवेदी भी इसी क्रम को स्वीकृत करते हैं।

विभिन्न विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट इस क्रम पर निर्णय देना दुस्साहस मात्र है, और न इसका कोई निश्चय ही किया जा सकता है। जब कि निश्चेता स्वयं इसे काल्पनिक कहते हों, तो फिर विचारों के विकास क्रम के आधार पर भी इस निर्णय पर पहुँचना कि कौन किससे पूर्व हुआ, दुःशक है। यहाँ आकर बाबू गुलाब राय जी के निम्न लिखित भाव अपने पुष्ट रूप में स्वयं दुहराने पडते हैं—"बिलकुल[२] निष्पक्ष होकर दर्शनशास्त्र का इतिहास लिखना उतना ही कठीन है, जितना कि पक्षहीन

१—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास (पृष्ठ ८)

२—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास (पृष्ठ ३)

पक्षी के लिए हवा में उड़ना"। उनकी यह उक्ति वस्तुतः अनुभवसिद्ध सत्य है-जिसकी घोषणा बाबूजी जैसे कसौटी पर परखे हुए पारखी के मुख से होकर विशेष महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

इतना होते हुए भी शैली के परिशीलन के अनुसार यदि इस क्रम का निर्धारण किया जाये, तो मीमांसा-दर्शन इन सबमें से प्रचीन अवगत होता है। जैमिनि की प्रतिपादन परिपाटी अविकसित अत एव वैदिकसाहित्य की परंपरा के अधिक निकट है। उसका प्रतिपाद्य भी आज की वस्तु से नहीं, भारत के आदि मनु से संबन्धित है। अपने भाष्य का प्रारंभ करते समय मीमांसा के प्रथम भाष्यकार श्री शबर स्वामी जैमिनि के सूत्रों के संबन्ध में विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं "लोके[१] येस्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्" अर्थात् यथासंभव जैमिनि ने संपूर्ण पदों को लौकिक प्रसिद्ध अर्थों में ही ग्रहण किया है। उनका यह "सति संभवे" पद सूत्रों में कुछ लोक में अप्रसिद्ध अर्थवाले शब्दों के उपादान का भी संकेत कर रहा है-जिससे सूत्रों में वैदिक पदों का समावेश भी सूचित है। इसीसे उनकी अतिशय प्राचीनता भी विस्पष्ट है।

अनेक विद्वानों ने सांख्य और योग की अपेक्षा भी न्याय एवं वैशेषिक की प्राचीनता मानी है, यह कहा जा चुका है। क्योंकि अपनी अनुमान-प्रणाली में सांख्य उन्हीं आख्याओं, शब्दों और साधनों को अंगीकार करता है, जिनका प्रतिपादन न्याय के द्वारा हुआ है। इसी दृष्टि-कोण को लेकर चलने पर भी मीमांसा-दर्शन की प्राचीनता अधिक पुष्ट हो जाती है। न्याय दर्शन ने पूर्वपक्ष के रूप में बहुत से ऐसे विचारों को अपनाया है, जिन पर मीमांसा की छाप स्पष्ट है। शब्द उनके मंतव्य में अनित्य है। इस अनित्यता की सिद्धि के उद्देश्य से जिस नित्यता की

१—शाबर भाष्य ३ पृष्ठ

व्यावृत्ति करने के लिए उन्हें सचेष्ट रहना पड़ता है, वह शब्द की नित्यता मीमांसा शास्त्र ही की देन है। जिससे न्याय की अपेक्षा भी मीमांसा शास्त्र की प्राचीनता प्रतिपादित होजाती है। गुलाबराय एम० ए० विषय विकास की दृष्टि से वैशेषिक दर्शन को सबसे पूर्व का बतलाते हैं-किन्तु विचार-परिपाटी के अनुरूप तो वैशेषिक दर्शन पर भी इस दर्शन का प्रभाव अवश्य पड़ा हुआ दिखता है। प्रभाव मात्र ही नहीं, विषय भी वैशेषिक दर्शन वही स्वीकार करता है, जो इस शास्त्र का है। उसी के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा कर वह शान्त हो जाता है। ये सब वैषयिक आधार मीमांसाशास्त्र की सबसे प्राथमिकता सिद्ध करते हैं, किन्तु इसमें इतना सा संशोधन होने पर ही यह तथ्य सर्व-संमत हो सकता है। अर्थात् मीमांसा दर्शन का वह भाग जो कर्म को अनुशासित करता है, वस्तुतः सबसे प्राचीन है। मीमांसा दर्शन का प्रारम्भ विचारों की दृष्टि से हम जैमिनि से ही नहीं मान सकते, जैमिनि के पूर्व के आचार्यों के मंतव्य भी हमें किसी न किसी रूप में प्राप्त अवश्य हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित न्याय सदा संभान्य रहें हैं। अतएव उनकी प्राचीनता में किसी को भी संशय नहीं होना चाहिए। इतना अवश्य है कि दर्शन के रूप में मीमांसा का विकास पंचम कोटि पर आकर हुआ। मेरे सिद्धान्त में मीमांसा के हम दो भाग कर सकते हैं-पहला वह जिसका संबन्ध मुख्य रूप से कर्मकाँड के साथ है, और दूसरा वह-जिसका सम्बन्ध ज्ञानमात्र से है। मीमांसा दर्शन का प्रारंभिक रूप कर्मकांड को अनुशासित करता है और वही स्वरूप अधिक विकास प्राप्त कर सका है। जिसकी प्रधानता-मात्र पर दृष्टि रखने वाले कुछ एक समालोचक इसे दर्शन तक कहने में संकोच करते हैं ? इसके इस प्रारंभिक रूप के आधार पर हम मीमांसा दर्शन को सबसे पूर्व का कह सकते हैं। किन्तु जिस विचार धारा के कारण इसमें दार्शनिकता का समावेश हुआ है, वह वस्तुतः बहुत काल बाद विकसित हुई है। यह सब कल्पना का भंडार है-जिसे सर्वसम्मत सिद्धांत का रूप देना विद्वानों का कार्य है।

समुदायत्रयी

(१) *प्रथम समुदाय:—*

इनके पौर्वापर्य के संबन्ध में चाहे कितना ही अंधकार हो, किन्तु इनके पारस्परिक आदान प्रदान और उनका प्रभाव स्पष्ट है। वस्तुतः ये छै परंपरायें स्वतंत्र नहीं हैं, ये तो एक प्रकार से तीन समुदाय मात्र हैं, जिनके ये ६ अवान्तर प्रकार हैं। गतिशीलता के आधार पर हम इन्हें तीन समुदाय न कह कर तीन प्रणालियां कह सकते हैं। यों तो इन ६ परिपाटियों का पारस्परिक ग्रथन ही इस प्रकार से हुआ है कि एक का परिज्ञान या एक का पूर्ण पांडित्य इतर की अनिवार्य रूप से अपेक्षा रखता है- फिर भी विभागशः दृष्टिपात करने पर इनके ये तीन समुदाय तो इतने नजदीक जुड़े हुए हैं कि इनमें एक के बिना दूसरे को पूर्णता असंभवप्रत्यय है। उनका यह पारस्परिक संयोग अथवा शृंखला यहाँ तक जकड़ गई है कि एक दूसरे का विश्लेषण कष्ट-साध्य है। पहला समुदाय सांख्य और योग का है। सांख्य दर्शन को मूल रूप में स्वीकृत कर ही पतंजलि योग दर्शन को प्रवर्त्तित करते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन सांख्य प्रस्तुत करता है, और उसीके द्वारा प्रवर्त्तित सिद्धान्तों के प्रायोगिक अनुभवों का ज्ञान योग दर्शन कराता है। सांख्य शास्त्र है, और योग उसकी प्रयोग-शाला। किन्तु इस प्रयोग शाला में जिन जिन प्रयोगों का प्रत्यक्षीकरण किया गया-उनने सारे विश्व को प्रभावित किया। यही कारण है कि सांख्य की अपेक्षा योग ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व निर्मित कर लिया। विचार की अपेक्षा क्रियात्मकता का प्राधान्य इसकी महत्ता का मूल है। योग के चमत्कारों ने सारे संसार को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु वह हमारे आदर्श जीवन का एक ध्येय बन गया। फिर भी सांख्य और योग की सैद्धान्तिक एकता में आज तक बाधा न आ सकी। केवल योग ने उपासना के आधार रूप में एक केन्द्र विन्दु को (ईश्वर) और स्वीकार किया-अत एव इस एक समुदाय की प्रथम प्रणाली निरीश्वर सांख्य और

द्वितीय प्रणाली सेश्वर सांख्य के नाम से व्यवहृत हुई। इस समुदाय को अनन्यता पर मोहर लगाते हुए भगवान् व्यास ने गीता में कहा है—

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः, प्रवदन्ति न पंडिताः"

सांख्य के सिद्धान्तों की पूर्णता के लिए योग निजी विधान उपस्थित करता है। चित्तवृत्ति पर नियंत्रण–जो कि योग की मूल देन है–के बिना सांख्य सिद्धान्त का साक्षात्कार असंभव है, इसीलिए योग सांख्य का पूरक है।

(२) दूसरा समुदाय :—

न्याय और वैशेषिक का है। ये दोनों ही प्रणालियां दार्शनिक सत्य के अन्वेषण का विवेचन करती हैं, और उसके लिए अनुसन्धान तथा विवाद को माध्यम के रूप में ग्रहण करतो हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है-प्रथम समुदाय पदार्थों का विश्लेषण करने के लिए प्रवृत्त होता है। वह प्रकृति को–जो कि आदि मानव की आराधनीया थी-महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। उससे आगे का कार्य-जो कि सत्य के अन्वेषण के लिए भित्ति तैयार करने का है, उसे यह दूसरा समुदाय अपनी इन अभेद्य दो प्रणालियों से पूरा करता है। इनमें न्याय की अपेक्षा वैशेषिक अधिक संक्षिप्त अपिच वर्णनात्मक है। ये दोनों एक दूसरे से अविभाज्य हैं।

(३) तृतीय समुदाय :—

सत्य के अन्वेषण की भित्ति जब इन विभिन्न पूर्वरंगों से सन्नद्ध कर दी जाती है, तो फिर अपने पवित्र ध्येय को लेकर तीसरा समुदाय उपस्थित होता है–जिसे मीमांसाद्वयी के नाम से अभिहित किया जाता है। इस समुदाय की इन दो विभिन्न प्रणालियों का कार्य आध्यात्मिक सत्य का विवेचन है। यह आध्यात्मिक सत्य साधारण साधनों से प्राप्य नहीं है, अत एव इसकी अवाप्ति के लिए दैवी साधनों की शरण अनिवार्य है। इन्हीं दैवी साधनों का उपस्थापन, अथवा विवेचन करने

का कार्य इस समुदाय की प्रथम प्रणाली द्वारा पूर्ण होता है। इन दैवी साधनों के अनुष्ठापन से यह मानव के मस्तिष्क एवं शारीरिक शक्ति का ही विकास नहीं करती, अपितु त्यागमय वातावरण से यह उसे सशक्त अथच आत्मबलसंपन्न बनाती है। उसके इसी आत्मिक विकास का निरूपण दूसरी प्रणाली अपने सिर पर ले लेती है। यहाँ आकर मानव उस सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, जो उसके जीवन का लक्ष्य है। यही उसकी अमृतत्व प्राप्ति है, यही मानव के विकास की पराकाष्ठा है, और यही दर्शन का चरम ध्येय, अथवा विकसित स्वरूप है। इस प्रकार वह प्रवाह-जो प्रकृति से प्रारंभ हुआ था-उस परात्पर पुरुष में जाकर लीन हो जाता है, और वह विवेचन-जो जंगम जगत् के गोचर अगोचर पदार्थों से प्रारंभ होता है-उस वर्णनातीत सत्ता में समा जाता है। इस संक्षिप्त विवेचन से मीमांसा की दार्शनिकता और उसका दर्शनों के समुदाय में जो महत्व है, वह प्रकट हो जाता है।

३-पूर्व और उत्तर-मीमांसा

उपर्युक्त विवेचन से इन तीनों प्रणालियों का पारस्परिक संबन्ध स्पष्ट हो जाता है। विशेषकर तीसरा समुदाय प्रस्तुत ग्रंथ से साक्षात् संबन्ध रखता है। अतएव उस पर कुछ विशेष विवेचन अपेक्षित है। दोनों परिपाटियों के साथ क्रमशः पूर्व और उत्तर शब्द विशेषणों के रूप में संलग्न हैं, वे इनके पारस्परिक आदान प्रदान का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। इस आदान-प्रदान से दोनों ही समुदाय अतिशय प्रभावित हैं। जहाँ पूर्वमीमांसा के महामनीषी आचार्य भट्ट परम-जिज्ञासा की तृप्ति के लिए वेदांत निषेवण[१] का उपदेश देकर वेदांत में अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त करते हैं, वहां वेदांत के प्रमुख नायक आचार्य शंकर भी पूर्व-मीमांसा को 'शास्त्रप्रमुख'[२] कह कर पुकारते हैं। इतना ही नहीं, वे तो दोनों मीमांसाओं के समन्वित स्वरूप ही को कृत्स्न[३] शास्त्र कहते हैं। दोनों ही परिपाटियों का लक्ष्य एवं प्रमुख मंतव्य मूलतः बौद्ध आदि अवैदिक धर्मों के आघात से वैदिक धर्म की रक्षा करना ही है।

उत्तरवर्ती होने के कारण पूर्वमीमांसा का अतिशय प्रभाव उत्तर-मीमांसा पर पड़ा। उसके बहुत से सिद्धान्त जिस मात्रा में अन्य दर्शनों

१—दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः,
प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥ (श्लो॰ वा॰)

२—शांकरभाष्य—३-३-५३ (२४९ पेज)
"ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे" इत्यादि।

३—शांकरभाष्य ३-३-५३ (२४९ पेज) इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासमानेषु विचार्य......शेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय।

व शास्त्रों द्वारा आदृत थे, इस विचारधारा को भी विपुल परिमाण में उन्हें ग्रहण करना पड़ा। कहीं दृष्टान्तों के रूप में इसके तथ्य उपस्थित किये गये, और कहीं उसके सिद्धान्तों पर मुलम्मा चढ़ा कर उन्हें प्रस्तुतः किया गया। परिणाम यह हुआ कि कहीं कहीं तो बिम्बप्रतिबिम्बभाव एवं कहीं एक के अभाव में दूसरी की पूर्णता एक कल्पना-मात्र सी लगने लगी। पूर्व प्रवृत्त होने के कारण उत्तरमीमांसा पूर्वमीमांसा को विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर सकी, किन्तु उस पर तो इस पहली पद्धति का और विशेषकर इसके एक महान् पोषक आचार्य भट्ट का इतना चमत्कार पूर्ण प्रभाव पड़ा कि वे आदर के साथ "व्यवहारे भट्टनयः" कह कर भाट्टनीतियों का उपादान करने लगे।

एकशास्त्रता

इन दोनों शास्त्रों की एकता प्रतिपादित करने के लिए अनेक आचार्यों ने प्रयत्न किया है। दोनों मीमांसाओं की कुल २० अध्यायों को मिला कर अनेक विद्वानों ने विंशतिलक्षण मीमांसा कह कर संबोधित किया है, उनमें १६ अध्याय जैमिनीय व ४ वैयासिक मीमांसा की हैं। इनमें विशेषकर श्रीभाष्याचार्य श्रीरामानुज "संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन" यह कह कर दोनों के साहित्य की स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं। मध्यकाल के कुछ एक अनुसन्धाताओं ने भी इस तथ्य को स्वीकृत किया। बीसवीं शताब्दी के गणनीय मीमांसक-शिरोमणि डा. गंगानाथ झा भी इनके अभेद को प्रमाणित करते हैं। "मीमांसां प्रोवाच" इत्यादि स्थलों में संलग्न (मीमांसा के साथ) एक-वचन भी प्राचीनकालीन एकता का प्रतिपादक है।

शास्त्रभेद

किन्तु यह एकता अधिक काल तक स्थिर नहीं रहती। जब तक इन दोनों परिपाटियों का विकास नहीं हो पाया, तब तक स्वतंत्र अस्तित्व

भी नहीं बन पाया। उपयुक्त एकता का मूल शायद आधार व उद्देश्य की अभिन्नता है, किन्तु यह अभिन्नता अधिक काल तक सुरक्षित नहीं रह सकी। बहुत से सिद्धान्तों में मौलिक एकता के रहते हुए भी दोनों ही परिपाटियों के विचार-शील विवेचकों ने उनमें सूक्ष्म अंतर स्थापित करने का यत्न किया। उदाहरण के लिए वेद की अपौरुषेयता दोनों ही प्रणालियों का प्रमुख मन्तव्य ही नहीं, अपितु एक ऐसा आधार है-जिसके छिन्न होजाने पर इनकी स्थिति असंभव है। पर वह अपौरुषेयता एक सूक्ष्म अंतर रखती है। मीमांसा की अपौरुषेयता के क्षेत्र में किसी भी माध्यम से किसी भी रूप में पुरुष विशेष का प्रवेश असंभव है, किन्तु वेदान्त के क्षेत्र में श्वास[१] निश्वास के माध्यम से उस सर्वशक्तिशाली परम पिता (ईश्वर) का ग्रहण होजाता है। यही स्थिति अन्य प्रमुख सिद्धान्तों के संबन्ध में है। मोक्ष की उपादेयता दोनों ही परिपाटियों को सादर स्वीकृत है, किन्तु उसके स्वरूप में उनका ऐकमत्य बिगड़ जाता है। जहां उत्तर भाग के मनीषी मोक्ष को आनन्द स्वरूप सिद्ध कर उसको जीव और ब्रह्म की एक अभिन्न अवस्था बताते हैं, वहाँ पूर्व भाग के समीक्षक उस अलौकिक आनन्द के अनुभव के लिये जीव का पार्थक्य व भोक्तृत्व अनिवार्य मानते हैं। संक्षेप में इन विभिन्न दशाओं में ही नहीं, सृष्टि के क्षेत्र में भी ये एकमत नहीं हो पाये हैं। सृष्टि एक ऐसा प्रमुख स्तम्भ है-जिसके विवेचन पर ही दर्शनों की विभिन्नताएँ स्थिर हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि विभिन्न परंपराएँ क्या हैं? सृष्टि के संबन्ध में नियत किये गये कतिपय परिणाम। मीमांसक इसे शाश्वत अविच सत्य सिद्ध करने का यत्न करते हैं—इस प्रश्न पर उत्तर भाग के साथ उनका पूरा विरोध है-जिसका सामना वे श्रद्धा के साथ नहीं, अपितु उस परंपरा के रूप में करते हैं—जिस प्रकार विवादी का। बौद्ध उनके गणनीय प्रतिद्वन्द्वी हैं, पर इन समस्याओं पर उनने वेदान्तियों की भी उनसे कम खबर नहीं ली है। जीव और ब्रह्म की

१—'तस्य निःश्वसितं वेदाः'।

अनन्यता वेदान्तियों का मूल है । वे सृष्टि को ब्रह्म का एक खिलवाड़ समझते हैं । किन्तु पूर्व के आचार्य इस अद्वैतता का प्रबल युक्ति एवं सबल सामर्थ्य के साथ अपाकरण[१] करते हैं । विभेद की इन दशाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव हमें आचार्य शंकर पर भी पड़ा हुआ नजर आता है । उनने कई स्थानों पर इसकी चर्चा भी की है । किन्तु आचार्य भट्ट पर उनकी अगाध आस्था है, और उनने मीमांसा को भट्ट से अतिरिक्त नहीं माना है । पूर्वमीमांसकों में यह विभिन्नता पार्थसारथि मिश्र[२] तक अटल हो जाती है, और वे स्वयं इसकी अटलता को अटल करने में कुछ उठा नहीं रखते । आचार्य अप्पय्य-दीक्षित अपनी वादनक्षत्रमाला में इसी आशय की पुष्टि करते हैं ।

स्वतंत्र अस्तित्व

बीसवीं शताब्दी के अनेक मीमांसकों ने इस समस्या पर अपने विचार व्यक्त किये हैं । शास्त्रदीपिका (बाम्बे संस्करण) की भूमिका लिखते हुए आचार्य अनन्त कृष्ण शास्त्री अनेक तर्कों से मीमांसा को एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं । शाबरभाष्य के (पूना संस्करण) प्राक्कथन में इन दोनों शास्त्रों की तुलना करते हुए महामहोपाध्याय विरूपाक्ष शास्त्री इस शास्त्र की अतिरिक्त सत्ता प्रमाणित करते हैं । वस्तुतः इन दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व में संशय करना यथार्थ का व्याघात है । एक वेद पर आधारित होते हुए भी विषय विभाग से दोनों परिपाटियों का पथ पृथक् पृथक् है । वेदार्थ को विवेचनशैली के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-पहला सिद्ध और दूसरा साध्य । ब्रह्म सिद्ध है, और उस सिद्ध वस्तु का विवेचन सर्वथा स्वतंत्र रूप से उपस्थित करना वेदांत का प्रमुख कार्य है । विचारशास्त्र साध्य (यज्ञ याग अपूर्व आदि) को अपना विषय बनाता है । एक का संबन्ध पूर्व भाग से है,[२] तो दूसरे का उत्तर

१—यः कल्पःस कल्पपूर्वः

२—शास्त्रदीपिका—तर्कपाद ।

से। दोनों ही की श्रेयः साधनता निरापद है। किन्तु यह श्रेय भी मौलिक अंतर रखता है– एक श्रेय सापेक्ष है और दूसरा निरपेक्ष। सापेक्ष श्रेय एक प्रकार का अभ्युदय है– जिसका साधन है–धर्मजिज्ञासा और उसका प्रतिपादक है विचारशास्त्र। श्रेय की दूसरी विधा कैवल्य है– जो निरपेक्ष है, वेदांत सेवन–उसका द्वार है। कर्तृभेद भी इनके स्वतन्त्र अस्तित्व का साधक है। एक का प्रवर्त्तक जैमिनि है, तो दूसरे का वेदव्यास। एक ही परिपाटी के पृथक् पृथक् प्रवर्त्तक कल्पित नहीं किये जा सकते। इनके पृथक् पृथक् प्रतिज्ञावाक्य भी तो इसके साक्षी हैं– जिनके साथ लगा हुआ "अर्थात." शब्द उनके व्यवधान को अभिव्यक्त करता है। महर्षि जैमिनि का प्रतिपाद्य धर्मः—

> तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, नहि धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति
> न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्म्मोऽयमधर्म इति।
> यं त्वार्या क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः। यं गर्हन्ते सोऽधर्म इति' ॥

अनुष्ठेय यज्ञयागादिपरक हैं, उसमें ब्रह्म के प्रवेश के लिए गुंजाइश नहीं है। व्यास को ब्रह्म भी अपनी सीमा तक पहुँचने के लिए कर्मानुष्ठान को पात्र की योग्यता संपादन के रूप में ग्रहण कर सकता है, इसे अनिवार्य नहीं मानता। आचार्य शंकर अनेक स्थानों पर इस आशय को उद्घोषित करते हैं। इन दोनों के सिद्धान्तों में सूक्ष्म अंतर तो प्रायः सर्वत्र है ही, पर बहुत से स्थल तो ऐसे हैं, जहाँ ये परस्पर विरुद्ध तक हो जाते हैं। सृष्टि के संबन्ध में जिस प्रकार इन दोनों परपाटियों की विपरीतता स्पष्ट है, उसी प्रकार देवताओं के संबन्ध में भी। पूर्व भाग देवताओं को यज्ञ क्षेत्र में द्रव्य की अपेक्षा गौण मानता है। किन्तु उत्तर भाग हविः की अपेक्षा हविर्भोक्ता के प्राधान्य को अधिक रुचिकर मानता है। जहाँ तहाँ जैमिनि के विचार प्रवाह में ब्रह्म का आम्नान अवश्य हुआ है। उदाहरण के लिये उसकी नक्षत्रेष्टि का देवता[1]

१—विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्यत्वात्। (जै० सू०)

है ब्रह्म। किन्तु वहाँ भी हमें एक सूक्ष्म अंतर परिगृहीत होता है। सृष्टि का उद्देश्य वह ब्रह्म व्यास के सच्चिदानंद रूप परब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। वह तो उसी प्रकार का शाब्द देवता है-जो पूर्व भाग द्वारा प्रतिपादित यज्ञ परपराओं में त्याग का उद्देश्य बन कर संप्रदान कारक के साथ आता है। अध्वर मीमांसा में तो उस सच्चिदानंद की सत्ता के स्वीकार करने के लिए स्थान ही नहीं है। ऐसी स्थिति में जब कि प्रवर्तक भिन्न हैं, फल भिन्न हैं, जिज्ञास्य भिन्न हैं, तो इनके परस्पर अस्तित्व में भला किसे संदेह हो सकता है, इसलिए तो सूत्रकार कहते हैं—

"फलजिज्ञास्यभेदाच्च"

अधिकारी और प्रमेय भी भिन्न है। धर्म—जिज्ञासु मीमांसा का और ब्रह्मजिज्ञासु वेदान्त का अधिकारी है। प्रमेय की भिन्नता तो स्पष्ट ही है। हो सकता है-एक आधार होने व एक धारा से निकलने के कारण इनकी अभिन्नता अनेक शताब्दियों तक मान्य रही हो। किन्तु विचार के बाद हम इसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि इनकी यह अभिन्नता तभी तक हमें प्राप्त होती है, जब तक इनका विकास नहीं हो पाया हो। विकास के पहले तो इनके स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना भी कैसे की जा सकती थी। एक पिता की दो सन्तान हों, पर उनका पार्थक्य तब तक हम चाहे न मानें, जब तक वे वयस्क न हो जाती हों। पर जहाँ उनकी पृथक् उत्पत्ति होती है-वहीं से उनका स्वतंत्र अस्तित्व भी उपस्थित तो हो ही जाता है। यह अवश्य है कि विकास से पूर्व उसे मूर्तता प्राप्त नहीं होती। यही दशा इन वेद की दो संततियों की है।

पारस्परिक अभेद

स्वतंत्र अस्तित्व के होते हुए भी जिस प्रकार एक पिता की दो संततियों में एक ऐसा माध्यम (रक्त-संबन्ध) होता है, जो उनमें पारस्परिक अभेद भी स्थापित व सुरक्षित रखता है। उसी प्रकार इनके पारस्परिक अभेद के संबन्ध में भी "समुदायत्रयी" शीर्षक विश्लेषण

पर्याप्त है। जहाँ इन छै दर्शनों की मौलिक एकता के प्रतिपादन का प्रश्न है, वहाँ इन दोनों का संबन्ध अत्यन्त निकट ही नहीं, अपितु अनन्यता लिए हुए रहता है। जहाँ इनका आन्तरिक प्रश्न है-वस्तुतः भिन्न हैं, और जहां बाह्य अस्तित्व का प्रश्न आताहै-यहाँ ये अभिन्न होजाती हैं। उदाहरण के लिए युधिष्ठिर का वह एक आदर्शवाक्य हठात् स्मरण आ रहा है। आंतरिक अस्तिस्व में कौरव और पाण्डव एक दूसरे के रक्त के प्यासे अपिच वैरो थे, किन्तु जहाँ बाह्य सबन्ध का प्रश्न उठता था, वे समन्वित रूप से एक सौ पांच बन जाते थे। इससे उनका जहाँ स्वतंत्र अस्तित्व था, वहाँ पारस्परिक अभेद भो तो था। यही आशय—

"परस्परविरोधे तु वयं पञ्च, शतंच ते'।
अन्यैः सह विरोधे तु, वयं पचोत्तरं शतम्॥

तो युधिष्ठिर ने इन वाक्यों में प्रस्तुत किया है। इससे अधिक कहना इस लोकविख्यात प्रसंग के लिये आवश्यक नहीं है।

पौर्वापर्य

दोनों संप्रदायों के समालोचकों में यदि अधिक विवाद का कोई विषय आज तक रहा है, तो वह इन दोनों के पौर्वापर्य के संबन्ध में है। बहुत से विद्वान शायद इससे विस्मित भो हो सकते हैं-कि जब इन दोनों परपाटियों के साथ पूर्व और उत्तर शब्द लगा हुआ है-तो फिर क्यों इनके पौर्वापर्य के संबन्ध में संशय उठता है। किन्तु नहीं. यह समस्या जितनी ही सहज है, उतनी ही दुर्लभ भी। प्रसिद्ध आचार्य मैक्समूलर इन पूर्व[1] और उत्तर शब्दों के विषय में कहते हैं कि इन शब्दों का अभिप्राय इनके पौर्वापर्य को प्रकट करना नहीं हैं; अतएव इन्हीं के आधार पर इनका पौव पर्य निश्चित करना अन्याय भो है। अपितु ये तो वेद के विषय विभाग के आधार पर लगे हुए विशेषण हैं।

१—इंडियन फिलासफी, मीमांसा-प्रकरण।

ऐसी स्थिति में इनके पौर्वापर्य के संबन्ध में निर्णय देने के लिए इतर उपादानों का विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। पौर्वापर्य निर्णय के दो प्रमुख आधार पहले प्रतिपादित किये जा चुके हैं। पहला विषय विवेचन और दूसरा प्रवर्त्तकों का समय। इन दो आधारों में केवल विषय विभाग के आधार पर पौर्वापर्य निश्चित किया जाये, तो पूर्व-मीमांसा की पूर्वता असंदिग्ध है। वेद के पूर्व भाग पर यह विचार करती है-जिसे कर्मकांड के नाम से संबोधित किया जाता है। इसके अन्य सिद्धान्त भी उत्तर भाग की अपेक्षा अविकसित हैं—अत एव विषय, इसके प्रतिपादन की परंपरा, सिद्धान्तों के विकास आदि के आधार पर पूर्वमीमांसा की पूर्वता सर्व-संमत है। किन्तु समालोचकों की परंपरा इतना मान लेने पर भी सर्वथा सन्तुष्ट नहीं हो जाती, वह इस प्रथम आधार के साथ साथ द्वितीय पर भी दृष्टि डालना चाहती है—जहाँ प्रवर्त्तकों के संबन्ध में निर्णय करना आवश्यक हो जाता है। इन दोनों परिपाटियों के दो प्रवर्त्तकों और उनके संबन्ध में अनेक विद्वानों द्वारा अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु दुःख है कि उनकी वह अनेकता एकता के रूप में परिणत न हो सकी। संक्षेप में उनका निर्देश आगे किया जाता है।

४-जैमिनि और व्यास

मीमांसा के दोनों भागों के ये प्रवर्त्तक शिरसाभिवन्द्य हैं। इन दोनों के संबन्ध में ही इतिहास अभी निश्चित तथ्य उपस्थित नहीं कर पाया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इतिहासवेत्ताओं ने इस ओर कोई यत्न ही न किया हो, अपितु उनके इस ओर किये गये प्रयत्न इतने विस्तृत और व्यापक हो गये कि उनमें एक दिशा निर्धारित करना आज असंभव भी नहीं, तो कष्टसाध्य अवश्य हो रहा है। यही स्थिति इन दोनों महामनाओं के विचारों के सम्बन्ध में है। इनके विचार इतने सर्वव्यापक हैं कि उनके आधार पर एक दूसरे के पौर्वापर्य के संबन्ध में निर्णय करना दुश्शक है।

समालोचक-परंपरा इन दोनों को लेकर नये नये तथ्य उपस्थित करती है। कई एक विद्वान् व्यास को जैमिनि का गुरु बताते हैं, और कई एक तो जैमिनि को व्यास से बहुत पूर्व निर्धारित करते हैं। बहुत सी किंवदन्तियां भी इस संबन्ध में प्रचलित हैं-जिनके आधार पर जैमिनि और व्यास का गुरुशिष्यभाव प्रकट होता है। बहुत से समालोचकों ने इसे इतने आग्रह और दृढ़ता के साथ पुष्ट किया है कि प्रायः इनकी गुरुशिष्यता आज विख्यात सी हो गई है। कुछ विवेचना करने के लिए जैमिनि और व्यास के निम्न-लिखित विचार उपादेय हैं।

जैमिनि-सूत्रः—

महर्षि जैमिनि अपने सूत्रों में अनेक स्थानों पर बड़े आदर के साथ बादरायण शब्द का प्रयोग करते हैं। परंपरा के अनुसार यही बादरायण व्यास और उत्तर-मीमांसा का प्रवर्त्तक है। अपने १-१-५[१] सूत्र में जैमिनि

१—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेः-तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। (१-१-५)

ने सबसे पूर्व बादरायण का नाम लिया है, और उसको व्याख्या करते हुए आचार्य शबर ने कहा है कि सूत्र में बादरायण[१] का नाम उसकी प्रतिष्ठा के लिए लिया गया है। इसमें संदेह नहीं है कि यह बादरायण केवल उत्तर मीमांसा ही नहीं, पूर्वमीमांसा का भी विशेषज्ञ है। उसकी इसी पूर्वमीमांसा की विशेषज्ञता के आधार पर जैमिनि ने उसे अपने सूत्रों में आदरणीय स्थान दिया है। जैमिनि ने (१-१-५[२]), ५-२-८१६ सूत्र, (६-१-३८ सूत्र[३]) (१०-८-१४ सूत्र ४४[४]) ११-१-८ सूत्र ६५[५], इन पांच स्थानों पर बादरायण का नाम लिया है—यह एक सबसे बड़ा आधार है-जिससे व्यास की पूर्वता और जैमिनि की उत्तरता सिद्ध की जाती है। इसका दूसरा आधार गुरु-परंपरा का प्रचलन है—किन्तु वह परंपरा कहाँ से, कब से, किसके द्वारा प्रवर्त्तित है, इस सम्बन्ध में अभी कोई निश्चित आधार प्राप्त नहीं हो सका है। आचार्य भट्ट ने अपनी श्लोकवार्तिक में गुरुपरंपरा की चर्चा अवश्य की है, और उसके स्पष्ट निर्देश के लिए श्लोकवार्तिक के अधिकृत व्याख्याकार पार्थसारथि मिश्र ने गुरुपर्वक्रम को उपस्थित भी किया है—किन्तु आचार्य भट्ट और मिश्र उसे निःसंकोच अप्रामाणिक सिद्ध करते हैं। केवल इन प्रचलित परंपराओं के आधार पर हम किसी तथ्य पर यदि पहुँचते हैं, तो सत्य के साथ अन्याय करते हैं। सामविधान[६] ब्राह्मण में एक परंपरा निर्दिष्ट

१—बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते बादरायणं पूजयितुं, नात्मीयं मतं पर्युदसितुम् (शबर स्वामी)

२—अन्तेतु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात्।

३—जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात्, जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्।

४—विधिं तु बादरायणः

५—विधिवत्प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः।

६—सोऽयं प्राजापत्यो विधिः तमिमं प्रजापतिर्बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिर्नारदाय, नारदो विष्वक्सेनाय, विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय, व्यासः पाराशर्यः जैमिनये, जैमिनिः पौष्पिण्ड्याय पाराशर्यायणाय, पाराशर्यायणो बादरायणाय।

की गई है जिसके आधार पर व्यास और बादरायण की भिन्नता सिद्ध होने के साथ साथ जैमिनि बादरायण का गुरु भी प्रमाणित होता है। इसलिए केवल इन परंपराओं को प्रामाण्य का आधार बनाना युक्ति-संगत नहीं है।

व्याससूत्र

पूव-मीमांसा के सूत्रों में कहीं पर भी स्पष्ट रूप से व्यास का नाम नहीं आया है, अपितु केवल बादरायण ही को उद्धृत किया गया है। उत्तर-मीमांसा के सूत्रों में तो स्पष्ट रूप से जैमिनि का नाम परिकीर्तित है। ब्रह्मसूत्रकार (३-४-२)[१] (३-४-१८)[२] (३-४-४०)[३] इन स्थानों पर जैमिनि का स्मरण करता है। इनमें (३-४-४०) वें स्थल में जैमिनि का उपस्थापन अपने मत की पुष्टि के लिए किया गया है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य[४] शंकर इस विषय में जैमिनि और बादरायण की एकता घोषित करते हैं। इन उदाहरणों से यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मसूत्रकार से पूर्व जैमिनि की प्रामाणिक सत्ता थी।

गुरुशिष्यभाव

जैमिनि और व्यास के गुरुशिष्यभाव की प्रसिद्धि के संबन्ध में ऊपर कहा गया है, किन्तु वह पर्याप्त और संतोष का विषय नहीं है। वायु, विष्णु, भागवत आदि पुराण निःसंकोच जैमिनि को व्यास का शिष्य घोषित करते हैं। गुरु और शिष्य के पवित्र संबन्ध के रहते हुए भी ये दोनों ही आचार्य एक दूसरे का उपादान सादर करते हैं, यह एक

१—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ८७० पेज, शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः' ।

२—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ८७७ पेज, "परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति"।

३—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ९०८, तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः

४—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ३-४-४० पर, जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति।

आश्चर्य का विषय है। बहुत से स्थलों पर विरुद्ध मतों को लेकर चलते हैं, जिस विषय में वेदान्तदेशिक ने[१] भी संकेत किया है।

वस्तुतः यह कल्पना-मात्र ही प्रतीत होता है। पूर्वमीमांसा की अपेक्षा उत्तर मीमांसा को महत्ता प्रदान करने का प्रयत्न अनेक संवत्सरों तक होता रहा है। वेदान्त के इस नव स्वरूप के आविष्कृत अपिच शृङ्खलित होने से पूर्व मीमांसा का प्रचार सार्वदेशिक था, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। अनेक आचार्यों को वेदान्त की उस मात्रा में प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये समन्वित प्रयत्न अपनाने पड़े हैं। संभवतः इस माहात्म्य की विवृद्धि के लिए जैमिनि को व्यास का शिष्य घोषित किया गया हो। बहुत वर्षों तक हमारे यहां इस प्रकार की परम्परा रही है। प्रगाढ़ विद्वत्ता का यह सबसे बड़ा आधार माना जाता रहा है कि बड़े से बड़े विद्वान् उसके शिष्य हों। अपने पांडित्य की छाप लगाने का और तत्कालीन समाज में सर्वोच्च मनीषी होने का यही एक लक्षण था कि बड़े से बड़ा विद्वान् शिष्य बन जाये। थोड़े ही समय पूर्व का शंकराचार्य और मंडन मिश्र का उदाहरण इसका साक्षी है। पराजित होने पर मंडनमिश्र को शंकराचार्य का शिष्य होना पड़ा, और यह शास्त्रार्थ संपन्न हो जाने एवं मंडनमिश्र को परास्त कर देने पर ही शंकराचार्य अखिल भारतीय आचार्यत्व प्राप्त कर सके। यह प्रचार भी इसी अभिप्राय को लेकर क्यों न हो। जैमिनि की महत्ता को अत्यन्त शीघ्र व्यास को प्राप्त करा देने का इससे श्रेष्ठ साधन भला और कौन हो सकता है।

रहा प्रश्न—पुराणों के उल्लेख का। उसके लिए कुछ गंभीर विवेचन आवश्यक है। थोड़ी देर के लिए यदि हम इस प्रकार मान भी लें कि जैमिनि और व्यास का गुरु शिष्य सम्बन्ध संगत है। पर इस प्रकार का प्रभाव भी तो स्पष्ट होना चाहिये। जैमिनि के विचारों पर ब्रह्मविद्या का कोई प्रभाव नजर नहीं आता, जब कि व्यास ब्रह्मविद्या का विद्वान् ही

१—"शिष्याचार्यौ विरुद्धं मतमधुना साधयितुं प्रवृत्तौ"

नहीं, प्रवर्त्तक था। न जैमिनि के सूत्रों पर ही वैयासिक सूत्रों का प्रभाव प्रकट होता है। देखने में तो इसके ठीक विपरीत आता है। उत्तर-मीमांसा की अपेक्षा पूर्व-मीमांसा की प्राचीनता सर्वथा सर्व-संगत है। व्यास के सूत्रों पर भी जैमिनि का प्रभाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से पड़ा हुआ है। ऐसी स्थिति में किस आधार पर हम जैमिनि-जो कि पूर्व मीमांसा के सूत्रों का रचयिता है—को व्यास का शिष्य घोषित कर सकते हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि जहाँ भागवत के १२ वें स्कन्ध छठे[१] अध्याय में व्यास के द्वारा जैमिनि को छंदोगसंहिता की शिक्षा देने का उल्लेख है। उससे पूर्व नवम स्कन्ध[२] के १२ वें अध्याय में जैमिनि का एक योगाचार्य के रूप में संमान के साथ निर्देश भी है। संभवतः इसी आधार पर कालिदास ने अपने रघुवंश १२ वें सर्ग के ३३ वें[३] श्लोक में जैमिनि की चर्चा की है। वहां उसे एक अधिकृत मनीषी और सफल योगाचार्य के रूप में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इस मनीषी शब्द को विख्यात व्याख्याकार मल्लिनाथ ब्रह्मविद्या विद्वान् के अभिप्राय में घोषित करते हैं। पुराण एवं साहित्य के इन दोनों तीनों स्थलों के अवलोकन से जहां यह विदित होता है कि जैमिनि व्यास का शिष्य था, वहाँ यह पहले स्पष्ट होता है कि वह योगाचार्य और ब्रह्मविद्या का विद्वान् था। पूर्व मीमांसा के प्रवर्त्तक के रूप में जो जैमिनि आदृत किया जाता है, उस मीमांसा-विशेषज्ञ की चर्चा इस सम्बन्ध में नहीं की गई है। इसी-

---

१—पाराशर्यो व्यासः इदं चतुर्धा प्रविभज्य, एकैकमेकैकस्मै स्वशिष्याय प्रदाय छंदोगसंहिताप्रदानेन जैमिनिमन्वगृह्णात्।

२—ततो हिरण्यनाभोऽभूत्, योगाचार्यस्य जैमिनेः।

३—महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः॥

४—मनीषिणे = ब्रह्मविद्याविदुषे जैमिनयेऽर्पितात्मा। सयोगात् = योगिनस्तस्मा-ज्जैमिनेः।

लिए व्यास के विद्यार्थी के रूप में जिस जैमिनि की चर्चा है, वह पूर्व-मीमांसा का प्रवर्त्तक जैमिनि नहीं है, किन्तु उससे अतिरिक्त ब्रह्मविद्या का विशेषज्ञ द्वितीय अथवा तृतीय जैमिनि है।

इसी तरह जैमिनि के सूत्रों में जहाँ जहाँ भी बादरायण का उल्लेख आता है, वह बादरायण उत्तर-मीमांसा का प्रवर्त्तक नहीं, अपितु पूर्व-मीमांसा का विख्यात विशेषज्ञ है। इसीलिए जैमिनि ने उसे स्थान स्थान पर आदृत किया है।

शास्त्रों को प्राचीनता, अर्वाचीनता एवं विचारशैली की दृष्टि से भी उत्तरमीमांसा की अपेक्षा पूर्व-मीमांसा का प्राथम्य प्रतिपादित किया जा चुका है। स्थान स्थान पर ब्रह्ममीमांसकों ने जहाँ पूर्व-मीमांसा की सरणि को व्यवहार के लिए अपनाया है, वहां पूर्वपक्ष के रूप में भी। व्यास व उनकी उत्तर-मीमांसा पर कर्म का प्रभाव[१] स्पष्ट है, किन्तु जैमिनि पर उनके ब्रह्म का नहीं। यदि जैमिनि व्यास का शिष्य होता, तो ब्रह्म के सम्बन्ध में इतना उदासीन नहीं रह सकता था। प्रभाव पड़ना[२] तो दूर रहा, जैमिनि ने तो कर्मकांड के अतिरिक्त वेद भाग को अनर्थक तक कहा है। यदि उसकी अर्थवत्ता मानी जाती है, तो केवल कर्मकांड के सहायक रूप ही में। उसकी इस उदासीनता को अप्पय्य-दीक्षित[३] महदोय ने अनभिज्ञता तक कहा है—ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार इनको गुरुशिष्यता उपपन्न हो नहीं पाती, अन्यथा जैमिनि ब्रह्म के सम्बन्ध में अनभिज्ञ कैसे रह सकता था। यह केवल वेदान्त के

---

(१) (४—१—१३ पेज ६५४ ब्र० शांकरभाष्य :—

(२) न हि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा।

(३) 'यागादिरूपं धर्ममेव सकलवेदार्थं मन्वानो जैमिनिः सकलवेदान्तप्रमाणक ब्रह्म, नित्यनिरतिशयपुरुषार्थफलानि तदुपासनानि, कर्मणां तत्साधनसहकारभावं च नाज्ञासीत्" (वादनक्षत्रमाला)

("आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (१—२—१)

जिस प्रकार ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर को आचार्य शबर की शैली पथ-प्रदर्शन के रूप में प्राप्त हुई है, उसी प्रकार व्यास को सूत्र रचना करते हुए भी जैमिनि की शैली प्राप्त हुई है। विचारों की दृष्टि से भी वेदांत-शास्त्र सब दर्शनों का समन्वित विकसित एवं परिणत स्वरूप है. यह पहले सिद्ध किया जा चुका है, और प्रत्यक्ष भी है। व्यास व जैमिनि के गुरुशिष्य संबन्ध का निराकरण करने के लिए प्रतिपादित उपर्युक्त विचार भी जैमिनि की पूर्वता के साक्षी हैं। इतना ही नहीं, अन्य कई स्थानों पर भी जहाँ व्यास और जैमिनि की चर्चा आई है, और इन दोनों को वेदपारदर्शी के रूप में माहात्म्य प्रदान किया गया है, वहाँ व्यास से पूर्व जैमिनि की गणना की गई है। यदि व्यास गुरु अथवा पूर्वकालीन होता. तो जैमिनि से पूर्व उसका नाम स्मरण किया जाता। पराशरोपपुराण आदि में प्रतिपादित निम्नलिखित तथ्य इसके प्रमाण हैं :—

"अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः, श्रुत्यैकशरणनृभिः॥
जैमिनीये च वैयासे, विरुद्धांऽशो न कश्चन।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने, श्रुतिपारं गतौ हि तौ॥

संक्षेप में इस प्रसंग के लिए इतना ही विवेचन पर्याप्त है।

५—जैमिनि

प्राचीन साहित्य में अनेक रूपों में जैमिनि का नाम लिया गया है, कहीं वह मीमांसागृह्यसूत्र के रचयिता और सामवेद के प्रवर्तक के रूप में आता है, तो कहीं एक अधिकृत ज्योतिषी के रूप में। कहीं एक योगाचार्य के रूप में, और कही ब्रह्मविद्याविशेषज्ञ के रूप में। किन्तु जैमिनि की यह अनेकरूपता निश्चय ही उसकी एकता में संशय पैदा करती है। पुराण काव्य आदि प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त मीमांसा के सूत्रों में भी जैमिनि का नाम अनेक स्थानों पर गृहीत है। उन सभी स्थलों में जहाँ जहाँ जैमिनि का नाम आता है, कहीं "अपि" और कहीं "तु" व "च" आदि योजक अव्यय उपलब्ध होते हैं। यद्यपि अपनी रचनाओं में अपने नाम का उपादान भारतीय परंपरा में अनुचित नहीं है, पर प्रारंभ के साहित्य में आज की अपेक्षा नाम को मोहर लगाने की आकांक्षा कम रहती थी। मीमांसा सूत्रों में (४ सूत्र ३[१]–१–४ (७ सूत्र ८[२]–३–३) (४ सूत्र ६[३]–३–१) (३६ सूत्र ६–२[४]–११) (७ सूत्र १२–१[५]–२) इन पाँच स्थलों में जैमिनि का नाम लिया गया है। इनमें (६–३–१–४) स्थल में संदेह और (६–२–११ सू० ३६) में विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, इससे सूत्रकार जैमिनि की अपेक्षा एक प्राचीन जैमिनि की सत्ता संभावित करना स्वाभाविक है। अनन्तर होने वाले आचार्यों एवं व्याख्याताओं की सांकेतिक दृष्टि भी इस तथ्य को पुष्ट करती है। आचार्य शबर स्वामी ने अपने भाष्य में जैमिनि को दो रूपों में अपनाया है। वे कहीं बडे आदर और

१—कर्मण्यर्थाय जैमिनिः फलार्थत्वात्। २—तदाप्रवृत्तितु जैमिनिरह्वामप्रत्यक्षत्वात।

३—कर्मभेदंतु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात सर्वेषामुपपदे स्यादिति।

४—अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तम्भशब्दत्वात्।

५—जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतंत्रप्रतिषेधः स्यात्।

विशेषणों के साथ आचार्य के रूप में जैमिनि का स्मरण करते हैं, और कहीं साधारण रूप में। हो सकता है—वे जिसे आचार्य[1] के रूप में घोषित करते हैं, वही सूत्रकार हो एवं उससे अतिरिक्त जैमिनि प्राचीन-कालीन हो-जिसे वे आचार्य[2]-रहित अभिख्या से प्रयुक्त करते हैं। संक्षेप में दो जैमिनियों की स्थिति संभाव्य है। इनमें प्रथम जैमिनि जिसे सूत्रों में स्मरण किया गया है, प्राचीन मीमांसक है। जिसके विचार नियत एवं परिपक्व होते हुए भी ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध नहीं होते। कई एक विद्वान् तो इनसे अतिरिक्त एक और जैमिनि को घोषित करते हैं? यद्यपि श्री भगवद्दत्त वैदिक वाङ्मय के इतिहास में इन सब जैमिनियों को एक ही व्यक्ति बताते हैं और उसे व्यास का शिष्य सिद्ध करते हैं—

"सामाखिलं सकलवेदगुरोर्मुनीन्द्राद्—
व्यासादवाप्य भुवि येन सहस्त्रशाखम्।
व्यक्तं समस्तमपि सुन्दरगीतराजं—
तं जैमिनिं तलवकारगुरुं नमामि ॥   (उद्धृत)

उनके मत में यही जैमिनीय ब्राह्मण[3]-का रचयिता है—जिसने मीमांसा का प्रवर्त्तन किया था, एवं तलवकार शाखा का प्रवचन किया था।

सूत्रकार जैमिनिः—

मीमांसा सूत्रों के रचयिता भगवान् जैमिनि के जीवन के संबन्ध में कोई प्रामाणिक वृत्त हमें उपलब्ध नहीं होता। केवल विष्णु शर्मा के

१—(३-१-४) पर शबर स्वामी "जैमिनिस्तु खल्वाचार्यः"।

२—(१-१-११ पेज) शबर स्वामी "अत उपपन्नं जैमिनिवचनम् आकृतिः शब्दार्थः।"
(६-३-१) पर शबर स्वामी—"प्रयोगवचनैकत्वादिति जैमिनिराहस्म।"

(३) उज्जहारागमाम्भोधेर्यो धर्मामृतमंजसा।
न्यायैर्निर्मथ्य भगवान्, स प्रसीदतु जैमिनिः। (जैमिनीय ब्राह्मण-हस्तलेख)

पंचतंत्र से उनके हाथी से कुचले[1] जाने को सूचना अवश्य प्राप्त होती है। जिस प्रकार उनके व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में निश्चित तथ्य पर पहुँचना असंभव हो रहा है, उसो प्रकार काल के संबन्ध में भो। प्रो० जैकोबी का कहना है कि जैमिनि का काल ईसा को दूसरी शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता है, क्योंकि वह बादरायण का समकालीन था, और नागार्जुन द्वारा प्रवर्तित शून्यवाद का अभिज्ञ था। इसमें संदेह नहीं है कि जैमिनि शून्यवाद के संबन्ध में अवश्य परिचित थे, किन्तु केवल शून्यवाद पर सांकेतिक दृष्टि रखने ही के आधार पर उनका काल उपर्युक्त प्रकार से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। संभवतः प्रो० जैकोबो ईसा की दूसरी शताब्दी में होने वाले नागार्जुन को शून्यवाद का प्रवर्तक समझ कर जैमिनि का काल उससे अनन्तर का निर्धारित करने में अपना कौशल दिखाते हैं। इस विषय में कर्म[2]मोमांसा (डा० कीथ) के लेखक का समर्थन शायद उन्हें विशेष प्रोत्साहित करता हो, किन्तु स्थिति वस्तुतः ऐसी नहीं है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के प्रतिपादनानुसार (भूमिका रत्नप्रभा हिंदी अनुवाद पेज नं० २) अश्वघोष और अन्य पाली के विद्वानों की पुस्तकों में शून्यवाद पर प्रकाश डाला गया है, जो कि नागार्जुन से पहले हुए हैं। अतएव नागार्जुन को शून्यवाद का प्रवर्तक न कह कर प्रचारक कहना संगत होगा। ऐसी स्थिति में नागार्जुन के काल के आधार पर जैमनि के काल का निर्णय उचित प्रतीत नहीं होता है।

महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र जैमिनि का काल ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व निर्धारित करते हैं। अपने इस मंतव्य का प्रतिपादन करते हुए

१—सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहनत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्। (पंचतंत्र, मित्रसंप्राप्ति ३६ पद्य)

२—कर्म-मीमांसा (पृष्ठ ४-५)

श्री मिश्र कहते[1] हैं—"जैमिनि सूत्रों का सबसे प्रथम व्याख्याता उपवर्ष हुआ है-जिसे समालोचक परंपरा पतंजलि से पूर्वकालीन सिद्ध करती है। ऐसी स्थिति में पतंजलि के समय से पूर्व उपवर्ष एवं इससे पूर्व जैमिनि का काल मानना युक्ति संगत है"।

महामहोपाध्याय प्रो० कुप्पु स्वामी शास्त्री का समर्थन देते हुए पूज्यपाद पट्टाभिराम[2] शास्त्री जैमिनि का काल इससे भी पूर्व निश्चित करते हैं। व्याकरणाधिकरण पूर्वपक्ष का "प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात् शब्देषु न व्यवस्था स्यात्" यह जैमिनि-सूत्र उन्हें अपने कथन की पुष्टि के लिए प्राप्त होता है। इस आधार पर यह अवगत होता है कि जैमिनि किसी स्थायी व्याकरण की सत्ता को नहीं जानते थे। क्योंकि वे प्रयोगोत्पत्ति को अशास्त्रीय बताते हैं, और उसकी व्यवस्था के लिए कोई नियामक नहीं मानते। यदि जैमिनि से पूर्व किसी प्रामाणिक व्याकरण का अस्तित्व होता, तो वे किसी भी प्रकार से प्रयोगोत्पत्ति को अशास्त्रीय नहीं कह सकते थे। इतना ही नहीं, इस पूर्वपक्ष के अनन्तर जब जैमिनि सिद्धान्त के रूप में प्रयोग की साधुता एवं असाधुता के निर्णय का अवलंब बताते हैं-तो शब्द-शास्त्र का नाम नहीं लेते, अपितु अभियुक्तों के उपदेश को ही निर्णायक के रूपमें उपस्थित करते हैं। जब से व्याकरण का एक नियत स्वरूप प्रवर्तित हुआ है-शब्दों की साधुता असाधुता, प्रयोग की उत्पत्ति व शक्तिग्रह के लिए वह सर्वोत्कृष्ट साधन के रूपमें प्रमाणित हुआ है, उसके बाद कोश और उसके अनन्तर अभियुक्तों के उपदेश को इस संबन्ध में[3] स्थान मिला है। किन्तु जैमिनि

१—विशेषतो द्रष्टव्यः—डा. गंगानाथ का द्वारा लिखित "पूर्व-मीमांसा दर्शन" (अंग्रेजी) का परिशिष्ट।

२—द्रष्टव्य-"मीमांसादर्शनोदय" [लेखक—पट्टाभिराम शास्त्री]

३—शक्तिग्रहः—व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च
[साहित्यदर्पण

ने इस परंपरा की उपेक्षा[1] की है, यही प्रमाणित करती है कि उनसे पूर्व जहाँ प्रामाणिक व्याकरण की सत्ता नहीं थी, वहाँ कोश की भी नहीं थी। जैमिनि के समय के अनुसार इस अधिकरण को व्याकरण अधिकरण नहीं कहना चाहिए, किन्तु अनन्तर होने वाले व्याख्याताओं और आचार्यों ने व्याकरण के सार्वदेशिक महत्त्व और व्यापक प्रभाव से प्रभावित होकर इसका इस रूपमें नामकरण कर दिया है, और जैमिनि के विचारों को इससे संबद्ध बना दिया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है जैमिनि के अनन्तर होने वाले मीमांसकों ने भी साधुता के निर्णय में व्याकरण स्मृति को सबसे प्रमुख स्थान दिया है, किन्तु जैमिनि इस ओर उदासीन रहे हैं, उनकी यह उदासीनता वस्तुतः उनसे पूर्व किसी प्रामाणिक व्याकरण के अस्तित्व में संशय प्रकट करती है।

व्याकरण के वर्तमान स्वरूप के प्रवर्तक महर्षि पाणिनि हैं। उनसे पूर्व भी अनेक व्याकरणों के विषय कुछ चर्चायें उपलब्ध होती हैं। किन्तु उन व्याकरणों को इस व्याकरण की तरह नियामकता आज तो प्राप्त है ही नहीं, पर पहले भी नहीं, ऐसा महामुनि जैमिनि के वचन से स्पष्ट होता है। पाणिनि ने संस्कृत के शब्द-समूह को इतना नियंत्रित किया है कि उसमें अव्यवस्था के लिए लेश भर भी गुंजाइश नहीं है। इसीलिये पाणिनि के आविर्भाव के बाद प्रयोगोत्पत्ति शास्त्र का विषय बन गई, और उनके द्वारा प्रवर्तित नियमों का सबने समान रूप से आदर किया। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैमिनि पाणिनि से पहले हुए हैं. अन्यथा उन्हें भी व्याकरण को निर्णायक के रूप में स्थान देने में कोई आपत्ति न होती। पाणिनि से अतिरिक्त भी कोई व्याकरण निर्माता जैमिनि से पूर्व हुआ या नहीं, इस संबन्ध में निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर उनके प्रयोग को देख कर व्यवस्था की कल्पना की जा सकती है। उसके आधार पर यदि किसी छोटे मोटे

१—तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् (१-३-१-२७

व्याकरण की सत्ता संभावित भी की जाये तो यह निर्विवाद है कि उस व्याकरण को आज के व्याकरण की तरह प्रामाणिकता एवं प्रमुखता प्राप्त नहीं थी। वह एक नियामक नहीं था, केवल अभियुक्तों के प्रयोग को आधार मान कर उस पर छाप लगा देना ही उसका कार्य होगा। इसीलिए यदि कोई अतिरिक्त व्याकरण हुआ भी हो, तो उसे अभियुक्तों के प्रयोग पर आधारित होने के कारण प्रामाणिकता अथवा नियामकता देने की अपेक्षा आप्तों के उपदेश को वह स्थान देना ही अधिक संगत हो सकता है। जैमिनि का सिद्धांत-सूत्र इसका साक्षी है।

जैमिनि के काल को [१]ऊपर खेंचने का एक दूसरा आधार और है—कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य की समकालीनता प्रायः असंदिग्ध है। शंकराचार्य के जीवन चरित में इसका स्पष्ट उल्लेख भी है। शंकराचार्य के काल के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद हैं—"शंकराचार्यः तत्कामकोटिपीठश्च"—के लेखक अपनी पुस्तक में भगवान् लाल इन्द्र महाशय का आशय प्रस्तुत करते हुए नेपालीय प्राचीन शिला लेखके आधार पर वृषदेव वर्मा के शासनकाल में शंकराचार्य के नेपाल-गमन पर प्रकाश डालते हैं, और कहा जाता है कि उसी की स्मृति के लिए वृषदेव वर्मा ने अपने पुत्र का नाम शंकरदेव रखा। यदि यह अक्षरशः सत्य मान लिया जाये तो शंकराचार्य का काल ख्रिष्टाब्द से ५०० सौ वर्ष पूर्व कहा जा सकता है। इतनी दूर पर भी यदि हम नहीं पहुंच पायें तो भी ईस्वी सवत्सरों की सीमा से बाहर तो आचार्य के काल निर्णय में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में शंकराचार्य से पूर्व कुछ वर्ष, भट्टपाद, उनसे पूर्व शबर, एवं सबसे पूर्ववर्ती आचार्य जैमिनि के समय को तो दो शताब्दी पूर्व ही क्या, कम से कम पांच शताब्दी पूर्व निश्चित कर लेना अतिशयोक्ति नहीं है।

१—द्रष्टव्य—मीमांसादर्शनोदयः (आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री)

जैमिनि के सूत्रों की शैली भी तो इसी को साक्षी है-जिसके विषय में आचार्य शबर वैदिक शब्दों[१] के प्रयोग की संभावना व्यक्त करता है। केवल शैली ही नहीं जैमिनि का विषय ही ऐसा है, जो उसकी अतिशय प्राचीनता की स्पष्ट उद्घोषणा कर रहा है। यज्ञ याग के संबन्ध में जैमिनीय दर्शन के अधिकरणों का जाल बिछा हुआ है। उसके संपूर्ण सूत्र उन्हीं पर आधारित हैं। उदाहरण के रूप में जो वैदिक विषय जैमिनि के आधार बने हैं, उनके उस समय व्यापक प्रसार की सूचना मिलती है। सर्व साधारण इन विषयों को जानता था, और इन पर चर्चा करना आवश्यक मानने लगा था, इसी लिए तो महर्षि जैमिनि को इस ओर प्रवृत्त होना पड़ा। इससे हम जब अनुमान करते है कि वह ऐसा समय कितने दूर हो सकता है, तब जैमिनि का काल जो-इससे पांच शताब्दी पूर्व निर्धारित किया गया है, असंगत नहीं जान पड़ता। श्री भगवद्दत्त "वैदिक वाङ्मय के रहस्य" में जैमिनि को महाभारत कालीन प्रमाणित करते हैं।

पाणिनि और व्यास के काल तक विद्वानों की गति इन विषयों की ओर से सर्वथा तो नहीं, किन्तु आंशिक रूप से पराङ्मुख होने लगी थी। इसी लिए तो पाणिनि को प्रमुख रूप से लौकिक शब्दजाल को अपना विषय बनाना पड़ा। ब्रह्मविद्या का तो उस समय कोई महत्वपूर्ण स्थान ही नहीं था, यदि थोड़ा बहुत अस्तित्व था तो केवल इतना ही कि वह दीपक कहीं किसी कोने में टिमटिमा रहा होगा। यज्ञ होम के अटल प्रकाश में उसकी ओर देखने वाले तक न रह गये थे। ये सभी विचार जैमिनि को पूर्वता निर्धारित करने के लिए पर्याप्त हैं।

एक सफल रचयिताः—

मीमांसा के इस विचार-सागर में जैमिनि को हम अनेक रूपों में पाते हैं। हम सबसे पहले उसे एक सूत्रकार के रूप में ग्रहण करते हैं।

२—लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्
(शबरभाष्य पूना संस्करण १ पृष्ठ)

वस्तुतः सूत्र का [१] अभिप्राय है—संक्षेप। इसो आधार पर थोड़े से थोड़े शब्दों में गंभीर से गंभीर विषय को प्रकट कर देना ही सूत्र प्रणालो का अर्थ और वैशिष्ट्य रहा है। हमारे बौद्धिक विकास के युग के प्रारंभ से अनेक संवत्सरों तक यह परंपरा आदृत रही है, इसी लिए जैमिनि के लिए भी उससे प्रभावित होना कोई नई बात नहीं है। जैमिनि को यह परंपरा किससे प्राप्त हुई, इस संबन्ध में कोई प्रामाणिक तथ्य उपस्थित नहीं किया जा सकता, फिर भी इन्हें इस दिशा में—उतनी तो नहीं जितनी पाणिनि को मिली है—सफलता अवश्य प्राप्त हुई है। अधिकतर जैमिनि के सूत्र संक्षिप्त तो हैं ही हैं, पर यह उनकी और भी विशेषता है कि वे सुगम भी हैं। पाणिनि की तरह उनकी एक एक मात्रा को [२]सार्थकता का दावा तो नहीं किया जा सकता, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे पाणिनि की अपेक्षा अधिक सरल हैं। जिस प्रकार पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या पर ही शब्दशास्त्र का अधिक अंश लगा हुआ है, मीमांसा का नहीं। जैमिनि के इसी वैशिष्ट्य को प्रकट करते हुए आचार्य शबर उनकी [३] व्यावहारिकता का प्रायः दावा करते हैं, और बताते हैं कि शब्दों का आंडबर बनाना जैमिनि का उद्देश्य नहीं रहा है। जैमिनि नहीं चाहते कि उनके सूत्रों के अर्थ चिन्तन में ही विचारकों का समय अतिशय मात्र में व्यतीत हो जाये ? और प्रमुख विषय पर वे पहुँच भी न पायें। इसी लिए जैमिनि के सूत्र अधिक स्पष्ट हैं। उनकी यह स्पष्टता

१—वेद-असूत्रः पूर्वपक्षः

अ—तेन चैकदेशः सूत्र्यत इति सूत्रम् (शबरस्वामी, पूना संस्करण २० पृष्ठ)

आ—अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः।

२—अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः। (परिभाषेन्दुशेखर)

३—एवं वेदवाक्यान्येवैभिर्व्याख्यायन्ते, इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि, स्वपदार्थाश्च व्याख्येया इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत। (शाबरभाष्य पृष्ठ २ पूना)

कहीं कहीं इतनी अधिक बढ़ गई है कि आनर्थक्य दोष (अनेक शब्दों का विषय की प्रधानता के कारण) तक संभावित किया जा सकता है। एक ही सूत्र की अनेक स्थानों पर [१] आवृत्ति भी हुई है। हाँ, यह अवश्य है कि प्रकरण के अनुसार उनके अर्थों में अवश्य अंतर आ गया है। इसी स्पष्टता की घोषणा करते हुए आचार्य शबर कहते हैं कि इनमें [२] अध्याहार, अनुवृत्ति आदि के लिए विशेष स्थान नहीं है, जिससे अर्थ जानने में कठिनता आती हो। न कहीं पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से ही उनमें क्लिष्टता आ पाई है। इन सब विशेषताओं के आधार पर जैमिनि को एक सफल रचयिता कहने में किसी भी मनीषी को संशय नहीं होना चाहिए।

यह अवश्य है कि इतनी विशेषताओं के रहते हुए भी जैमिनि को सूत्रों के क्षेत्र में पाणिनि जितनी सफलता प्राप्त नहीं हो पाई, यह पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है। हाँ, उनकी व्यावहारिकता और सुगमता अवश्य अपना एक विशेष स्थान रखती है—जिससे आगे की संपूर्ण परंपरा प्रभावित रही है। अपने [३] श्लोक-वार्तिक में आचार्य भट्ट ने भी इसकी चर्चा की है, और जैमिनि के सुस्पष्ट प्रयोगों के लिए श्रद्धा अभिव्यक्त की है।

एक महान् उपकारकः—

जैमिनि के शास्त्र की प्रवृत्ति का उद्देश्य वस्तुतः लोककल्याणकी भावना है। उसका विषय आज चाहे केवल पुस्तकों की संपत्ति बना हुआ हो, किन्तु उस काल में इतना व्यापक था कि उसे सार्वजनिक

१—लिंगदर्शनाच्च (३० बार) तथा चान्यार्थदर्शनम् (२४ बार)

२—नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा (पृष्ठ २) शाबर भाष्य

३—सर्वव्याख्यामुपालम्भप्रत्याख्यानं तथापरे।
परिसंख्यास्तुती केचिदथशब्दस्य दूषणम्॥ (श्लोकवा० १-१-१ २६-२७)

कहने में कोई संकोच नहीं होता। बीसवीं शताब्दी में उसकी लोकोपयोगिता में संशय भले ही किया जा सकता है, किन्तु जरा उस समय के चित्र को हम कल्पना कर के देखें कि उसकी कितनी महत्ता थी। उपयोगिता ही नहीं, वह तो जीवन का सर्वस्व था। धर्म जैसी आवश्यक वस्तु पर-जिससे सर्वसाधारण के श्रेय का अटल संबन्ध था-जैमिनि ने अपने विचार व्यक्त किये। जैमिनि के ये विचार कितने श्रेयस्कर हुए-इसका प्रतिपादन भारतीय इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ कर रहा है। जिस चीज का हमारे दैनिक जीवन से अटूट संबन्ध था-उसके संबन्ध में संशय[१] उत्पन्न हो जाना दुर्भाग्य के सिवा और क्या कहा जा सकता है। जनता इधर उधर के थपेड़ों से इतनी[१] विकल थी कि उसे एक नियत पथ पर पहुँचना दुर्भर हो रहा था। उस संक्रमण के समय जब कि जनता की चित्तवृत्ति धर्म-जैसी जीवनीय शक्ति के स्वरूप पर नियत न हो कर अस्तव्यस्त हो रही थी, उसे पथ-प्रदर्शन करने का महत्त्वपूर्ण कार्य महर्षि जैमिनि ने किया, वह भी किसी निकृष्ट अथवा स्वार्थमय भावना से नहीं, किन्तु लोक-कल्याण की भावना से ही। इससे हम जैमिनि के व्यक्तिगत जीवन का अनुमान कर सकते हैं कि वह कितना उच्च और आदर्शों से भरा हुआ था। उसकी इसी विशेषता पर विष्णु शर्मा ने उसे संपूर्ण उच्चतम आदर्शों के प्रतीक मुनि[२] विशेषण से विशिष्ट किया है।

एक सफल शिक्षाशास्त्री:—

जैमिनि के अनेक रूपों में यदि सब से अधिक महत्ता हम दें, तो उसके उपर्युक्त स्वरूप को है। शिक्षा के क्षेत्र में वह एक नवीन चेतना और जागरण का संचार करता है, इसमें कोई संशय नहीं है। आज

१—धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः केचिदन्यम् (शबर) १० पृष्ठ

२—मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् (पंचतंत्र)

अध्ययन शब्द से जिस विचारशीलता एवं विवेकिता का बोध हमें हो रहा है, वह जैमिनि हो के आविष्कार को देन है। उस कालको व्याख्या के अनुसार तो अध्ययन[1] शब्द का अभिप्राय केवल गुरु के उच्चारण के अनुसार उच्चारण कर कंठस्थ करने तक हो सीमित रहा, किन्तु आज उसका ग्रहण उस रूप में न हो कर विषय के आंतरिक ज्ञान तक को अपने में समाये हुए है। थोडा विवेचन कर देखें, कितनी गंभीरता अध्ययन में जैमिनि ने निहित को है। इस इतने बडे कार्य के लिए उसे बडो भारी परंपरा से टक्कर लेनी पड़ो, पर उसने अध्ययन को इस वास्तविकता की सुरक्षा के लिए सब कुछ किया, और अपने बुद्धि-बल के आधार पर उसकी नींव दृढ की। "वेदमधीत्य स्नायात्" इस वाक्य के द्वारा जहाँ वेद के कंठस्थ करने के बाद गृहस्थ में प्रवेश करने का अधिकार दिया जाता है, और स्नातक उसमें प्रवेश करने के लिए प्रवृत्त होता है, महर्षि जैमिनि उसका हाथ पकड कर खैंचते हैं और कहते हैं-"अथातो धर्म जिज्ञासा" अरे भाई ? अभी अध्ययन पूर्ण नहीं हुआ है, उसे पूर्ण करने के लिए जिज्ञासा की शान्ति स्वाभाविक है। थोडी कल्पना कर देखें कि यदि जैमिनि शिक्षा के क्षेत्र में इस जिज्ञासा के माध्यम से नवीन उल्लास का संचार न करते, तो क्या केवल वेद के अक्षर-समुदाय की कंठस्थ कर लेने हो में अध्ययन की पूर्णता संभव न थी। और इस प्रकार का अध्ययन कितना प्रभावहीन होता, आज के कुछ वेदाचार्य इसके निदर्शन के लिए पर्याप्त हैं। अतएव हमें मानना होगा कि जैमिनि ने हमें अज्ञान के एक भयंकर अंधकार से निकाल कर हम में जिज्ञासा का उदय किया, अन्यथा हमारी वही दशा होती-जो एक पुस्तकों के बोझा ढोने वाले गधे की होतो है।—

स्थाणुरयं भारहारः यः किल अधीत्य वेदमर्थं न विजानाति,

यह उक्ति इस पर सांकेतिक दृष्टि डालने के लिए पर्याप्त है।

जैमिनि के इस आविष्कार से शिक्षा के क्षेत्र में सब से पहले

१—देखिये-जैमिनीयन्यायमाला-टिप्पणी, श्रीपद्माभिराम शास्त्री (प्रथम अधिकरण)

नवीन जागृति उत्पन्न हुई—यह निस्संकोच कहा जा सकता है। उसके इसी प्रभाव और आशय को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य शबर कहते हैं कि यदि इस नवीन स्फूर्ति में बाधा डालने के लिए कोई आम्नाय आवेगा, तो हम उसके नाम से भयभीत हो कर डरेंगे नहीं, उसका सामना करेंगे और आवश्यकता पडेगी तो उसका उल्लंघन भी करने को तत्पर रहेंगे, वस्तुतः[१] हुआ भी ऐसा ही।

जहाँ जैमिनि ने इस नूतन धारा को प्रवृत्ति कर लोक का उपकार किया—वहाँ उससे भी बढ कर वेद की महत्ता को बढाया है। उसके इस माहात्म्य पर संकेत करते हुए आचार्य शबर कहते हैं कि इसके बिना वेद को अर्थवत्ता सिद्ध नहीं हो सकती थी। यदि अनवरत साधना से वेद को कंठस्थ करके ही स्नातक गृहस्थ में प्रविष्ट हो जाता—जैसा कि उसे आदेश है, तो कदापि वेद में निहित ज्ञान-राशि को वह ग्रहण नहीं कर सकता था। केवल अक्षर राशि को ग्रहण करने में ही वह अपनी पूर्णता समझ बैठता। परिणाम स्पष्ट है—कि वेद की अर्थवत्ता के रहते हुए भी वह उससे परिचित न हो कर अर्थशून्य मानता। वेद की इस निरर्थकता की व्यावृत्ति करके अक्षर राशि के द्वारा जिज्ञासु को ज्ञान-राशि तक पहुँचाकर शिक्षा के क्षेत्र में जैमिनि ने जो सब से पहला पथ-प्रदर्शन किया है, भारतवर्ष उसके लिए उसका सदा ऋणी रहेगा।

एक योग्य नियामक और श्रेष्ठ समीक्षकः—

एक दो स्थानों पर ही नहीं, प्रारंभ से लेकर अन्त तक जैमिनि के सूत्र हमारे सामने एक निश्चित दृष्टिकोण रखते हैं—जिससे जैमिनि की नियामकता का परिचय मिलता है। उनके शास्त्र का एक एक अधिकरण पृथक् पृथक् स्वतंत्र न्यायालय है जो विभिन्न नियमों से बिखरे हुए कर्म-

---

१—अतिक्रमिष्याम इममाम्नायम्, अनतिक्रमन्तोहि वेदमर्थवन्तं सन्तमनर्थकमवकल्पेमहि (शबर ५ पृष्ठ)

जाल को नियंत्रित करता है। जैमिनि के शास्त्र का आविर्भाव हमारे सामने उस दृश्य को उपस्थित करता है, जबकि कर्मकांड के ये विभिन्न उपकरण इधर उधर बिखरे हुए पड़े थे। अनेक विद्वानों द्वारा परंपराओं के अनेक रूप स्थापित किये जा रहे थे। धर्म के क्षेत्र में अव्यवस्थाएँ और उदासीनताएँ प्रविष्ट होती जा रही थीं-जिन्हें नियंत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य जैमिनि के द्वारा संपन्न हुआ। निश्चय ही जैमिनि ने इस ओर बड़ी भारी क्रांति की। उसकी सफलता की दुंदुभि सारे देश में बजी-इसमें कोई संशय नहीं है।

अपने इस नियंत्रण को शासित करने के लिए जैमिनि ३१ इकत्तीस प्रमाणों को आधार बताते हैं। इन वैधानिक धाराओं का उपयोगिता-जिनके व्यवस्थापक जैमिनि हैं—यहाँ तक बढ़ी हुई है कि लोक और वेद दोनों क्षेत्रों में आज उनका समान प्रभाव है। आजकल के विधान की तरह ये धाराएँ लंबी चौड़ी नहीं हैं, अपितु अत्यन्त संक्षिप्त हैं, इसीलिए इनकी व्यवस्था भी प्रभावशाली है। जैमिनि का यह विधान हमें एक अनुकरणीय आदेश देता है कि विधान जितना विस्तृत बनाया जायेगा, उसमें दोषों को छिपाने की और अपराधों को हटाने की उतनी ही गुँजाइश बनी रहेगी। पर जैमिनि के ये ३१ अधिनियम उसके ६ हजार के लगभग न्यायालयों (अधिकरणों) को चलाते हैं, और सबको समन्वित व शृंखलित बनाये रहते हैं। ये न्यायालय भी आज के न्यायालयों की तरह प्रभावहीन नहीं है, किन्तु इनकी धाक वाङ्मय के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है स्वर्णाक्षरों में। उनके द्वारा दिये गये निर्णय अपनी महत्ता और निष्पक्षता के कारण न्याय के नाम से उद्घोषित किये गये हैं, और उनकी गुरुता जैमिनि के अनन्तर होने वाले प्रत्येक उच्च लेखक ने सादर शिरोधार्य की है।

इस प्रकार इस क्षेत्र में जैमिनि ने अनेक वर्षों तक केवल कर्म-जाल को ही नहीं, वाङ्मय के विभिन्न अंगों को नियंत्रित रखने का

गौरव प्राप्त किया है। वह एक सफल नियन्ता है, और उसका यह शासन वस्तुतः एकतंत्र से कम नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से जहाँ हम जैमिनि को एक योग्य नियामक के रूप में पाते हैं, वहाँ वह एक विधान-विशेषज्ञ के रूप में भी हमारे सामने आता है। हिन्दूलॉ के विद्यार्थी इस विषय से सुपरिचित होंगे कि उसका एक एक पेज जैमिनि के निर्णयों से ओतप्रोत है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन पृथक् स्तम्भ में किया जावेगा।

आज की नव परंपरा से शिक्षित नवयुवक हमारे प्राचीन शास्त्रों और तथ्यों पर बड़ी जल्दी अंध-परंपरा अथवा अंधविश्वास का आरोप कर बैठते हैं, जैमिनि इतने प्राचीन काल में ही इस स्थिति का अनुमान कर चुके थे, इसीलिए उसने सब से पहले इस अंधविश्वास को चुनौती दी। लोग वेद का महत्त्व इसलिए मानते आये थे कि वह वेद है, और परंपरा उसका सत्कार करती आई है, किन्तु जैमिनि ने अपनी समीक्षा के आधार पर यह सिद्ध कर निश्चित किया कि वेद का प्रमाण मानने वाले अथवा उसे महत्त्व देने वाले उस पर दया नहीं करते, अपितु उसको जितना महत्व दिया जा रहा है, उससे अधिक वह गुणों का भांडागार है। उसके विभिन्न अंगों की सार्थकता पर खण्डशः जैमिनि ने विश्लेषण किया, और उनको उपयोगिता सिद्ध की। वह भी अंधविश्वास अथवा हठ के बल पर नहीं; अपितु समीक्षा के बल पर।

यही स्थिति धर्म के संबन्ध में है। जहाँ धर्म के सम्बन्ध में वह वेद को एक मात्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है वहाँ सब से पहले वह यह सोचता है कि मैं कोई हठ अथवा आग्रह तो नहीं कर रहा हूँ। इस ध्यान के उपस्थित होते ही वह कहता है—केवल मैं कहता हूँ, अथवा परंपरा मानती है, या अन्य कोई महापुरुष बताता है, इसलिए इसे इस प्रकार मत मानो; अपितु उसके निमित्त को परीक्षा[1] करो, उसकी योग्यता

१—तस्य निमित्तपरीष्टिः जैमिनि-(१-१-३)

को देखो, और उसकी उपयोगिता का विचार करो। यह उसी को समीक्षा की शक्ति है कि वह वेद जैसो शिरोधार्य ज्ञान-राशि को भो अपनो कसौटी पर कसने का सामर्थ्य रखती है, और धर्म जैसो अलौकिक वस्तु को भी लोक से संबद्ध करने का सबल प्रयत्न करती है। तो फिर मीमांसा को पुरोहितों की जीविका रक्षा का साधन और अंधविश्वास का आगार सिद्ध करना कहाँ तक संगत है। जैमिनि तो अपने शास्त्र-जाल के विस्तार करने से पूर्व ही इन लोगों को चुनौती देते हैं, कि परीक्षा कर के देखो और फिर किसी निश्चय पर पहुँचो। इसीलिए तो वे एक श्रेष्ठ समक्षीक हैं।

एक उदार समन्वयवादी:—

जगत् के दो स्वरूपों में हमारी भारतीय परंपरा भौतिकता को अपेक्षा आध्यात्मिकता को सतत प्रधानता देती आ रही है। चाहे इस परंपरा के निर्वाह के लिए हमें कितने ही नवीन तथ्य स्वीकृत करने पड़े हों। दृश्य और अदृश्य जगत् में हम अदृश्य को अधिक महत्त्व देते आये हैं, और दृश्य की वह दशा-जो हमारे प्रत्यक्ष है, उसकी भो उपेक्षा करते चले आ रहे हैं। यह कहां तक व्यावहारिक है—यह एक बड़ी समस्या आज से ही नहीं, अनादि काल से-जहाँ से विचारों का विकास प्रारंभ होता है-उपस्थित है। यह अवश्य है कि बीसवीं शताब्दी के वातावरण ने इसे अधिक प्रबल बना दिया है। जिस प्रकार मानव जीवन दृश्य और अदृश्य के संघर्ष का लेखा है, उसी प्रकार हमारे दर्शन की विभिन्न धाराएं भी इसी संघर्ष से निःसृत हैं? और उनकी प्रवृत्ति का यही एक आधार रहा है। इन दोनों दृष्टिकोणों में कहीं दृश्य प्रधान बन कर आता है, और कहीं अदृश्य। इनमें एक की प्रधानता दूसरे को कुचल कर ही अपना अस्तित्व बना सकती है। इसी लिए हमारे दर्शन खंडन मंडन के भंडार बने हुए हैं। चाहे किसी दृष्टि से हम देखें—इन दोनों की महत्ता और उपयोगिता में संशय करना सहज नहीं है' तर्क के

जाल से हम चाहे किसी एक का खंडन कर सकें, पर लोक हमें इसके लिए सहयोग नहीं देता।

महर्षि जैमिनि के सम्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई-उनने इसका ऐसा हल किया-जैसा संभवतः किसी ने नहीं किया, इसी लिए आज हम उन्हें इस रूप में स्मरण कर रहे हैं। दृष्ट और अदृष्ट दोनों एक प्रकार से यथार्थ और आदर्श के रूप हैं। यथार्थ आदर्श के बिना ऊंचा नहीं उठ सकता, और आदर्श यथार्थ के बिना स्थिर नहीं रह सकता। जहाँ उन्नति पथ पर पहुँचने के लिए यथार्थ को आदर्श के स्तर की आवश्यकता रहती है, वहां अपना पांव जमाये रखने के लिए आधार के रूप में यथार्थ को आदर्श की भी अनिवार्य अपेक्षा रहती है। एक के बिना दूसरे की अपूर्णता है। ठीक इसी प्रकार दृष्ट का अदृष्ट लक्ष्य है, और प्राप्यस्थली है, एवं दृष्ट अदृष्ट को पृष्ठ-भूमि है। इससे तर्क और व्यवहार दोनों का समन्वय हो जाता है। जैमिनि ने अपने दर्शन में यही दृष्टिकोण अपनाया है। इसी लिए वे एक समन्वयवादी के रूप में परिगणित किये जा सकते हैं। किन्तु उनका यह समन्वय भी एक विशेष दिशा रखता है।

जिस प्रकार यथार्थ और आदर्श का समन्वय होते हुए भी यथार्थ अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रख पाता, उसके लिए आदर्शोन्मुख होना अनिवार्य है। उसी प्रकार जैमिनि का दृष्ट भी अदृष्ट के सामने नत होने के लिए आता है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसका कोई महत्त्व ही नहीं है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के फलों में जैमिनि और उनके अनुयायी परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष को अधिक गौरवास्पद बताते हैं, इससे जहां उनकी व्यवहार कुशलता का परिचय मिलता है, वहाँ दृष्टप्रियता और लोक-प्रियता का भी। व्यास का दर्शन अपनी प्रौढ़िमा के लिए सारे संसार में विख्यात है। अदृष्ट जगत् ही उसका आधार रहा है, किन्तु अन्त में जाकर उसे भी इस व्यवहार को

निष्पत्ति के लिए एक व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करना आवश्यक हो गया है। जैमिनि ने इस विषय पर पहले ही से गंभीरता के साथ विचार किया है, यही कारण है कि उनके दर्शन में यह समस्या इतना उग्र रूप नहीं धारण कर सकी है।

जैमिनि की इसी समन्वय-वादिता से उनका शास्त्र लोक और वेद दोनों क्षेत्रों में समान मान प्राप्त करता रहा है। जहाँ वह दृष्ट को महत्ता प्रदान करता है, वहाँ दृश्य जगत् को अतिशय प्रभावित करता है, और जहाँ अदृष्ट का सवाल आता है, वहाँ वेद को आधार बनाता है। अतएव जहाँ हम मीमांसा को अदृष्ट पर आधारित मानते हैं, वहाँ हमें यह भी मानना होता है कि उस अदृष्ट की पृष्ठभूमि के रूप में दृष्ट भी अवस्थित है। दोनों के समन्वय पर ही संसार अवलंबित है, और जैमिनि की इस समन्वयवादिता पर ही मीमांसा-शास्त्र की लोक-शास्त्र-उभय-मान्यता निर्भर है।

एक महान् आस्तिकः—

जैमिनि और उसके दर्शन के विषय में सबसे अधिक आक्षेप यदि किया जाता है, तो वह उसकी आस्तिकता पर। पौराणिक युग के द्वारा परिचालित ये विभिन्न संप्रदाय अपनी आस्तिकता पर गर्व करने लगे हैं और उसे अपनी बपौती घोषित करने का दावा करते रहे हैं। विभिन्न देवताओं की मूर्तिमत्ता पौराणिक काल की प्रमुख देन है, और तभी से आस्तिकता को भी लोग उसी मापदंड पर निर्धारित करने लगे हैं। ईश्वर सर्वशक्तिसंपन्नता के प्रतीक के रूप में पुराणों द्वारा साकार प्रतिपादित किया गया, उसका प्रभाव यह हुआ कि जिसने ईश्वर को स्वीकार किया, उसे आस्तिक कहा गया, और जिसने उसे अपने शास्त्र की मर्यादा में लेना आवश्यक नहीं माना, उसे नास्तिक कहा जाने लगा। ईश्वर के संबन्ध में महर्षि जैमिनि के क्या मंतव्य हैं, इस विषय में स्पष्ट तो आगे किया जायेगा, किन्तु यह निश्चित है कि

जैमिनि ने अपनी कुछ भी स्पष्ट नीति घोषित नहीं की है। उनके इसी मौन के आधार पर लोग मानने लगे हैं कि जैमिनि अनीश्वरवादी हैं, अत-एव नास्तिक हैं।

किन्तु आस्तिकता के मापदंड को निर्धारित करने वालों ने इस क्षेत्र में उदारता से काम नहीं लिया, इससे उनकी संकुचित चित्तवृत्ति का परिचय मात्र मिलता है। वस्तुतः आस्तिकता की उपपत्ति के लिए ईश्वर की सत्ता ही अनिवार्य नहीं है। यदि हम उसे ही उसका एकमात्र आधार बना देते हैं, तो सचमुच सत्य के साथ अन्याय करते हैं ? एक बड़ा भारी पक्षपात कर आस्तिकता की महत्ता का व्याघात करते हैं, और अपनी कट्टरता का परिचय देते हैं। "किसी शक्ति विशेष को माहात्म्य देने की अपेक्षा उसके सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना अधिक श्रेष्ठ है" इस मंतव्य के अनुसार उन लोगों को जो वेद को ईश्वर की रचना मानते हैं, आस्तिकता की कसौटी ईश्वर को न मान कर वेद को मानना होगा, और यह श्रेयस्कर भी है। उनकी इस मान्यता में जहाँ उनके निजीपन की सुरक्षा रहती है, वहाँ उनकी अतिशय उदारता का भी परिचय मिलता है। यह तथ्य उपर्युक्त तथ्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक है, और इसी लिए सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा की आस्तिक दर्शनों में गणना है।

अन्यथा हमारी इन छै ज्ञानधाराओं में हमें तीन के सहयोग से वंचित रहना होगा, क्योंकि इनमें यह एक परंपरा सी रही है कि उनकी प्रथम लहर ईश्वर के संबन्ध में कुछ मौन एवं उदासीनता को अपनाती है। जहाँ सांख्य इस विषय में चुप है, वहाँ योग को इस अलौकिक शक्ति को स्वीकार करना पड़ा है। इसीलिये सांख्य को हम निरीश्वर सांख्य, और योग को सेश्वर सांख्य की अभिख्या से व्यवहृत करते आ रहे हैं। वैशेषिक और पूर्व-मीमांसा भी ईश्वर के संबन्ध में जितनी निरपेक्षता प्रकट करते हैं, न्याय और वेदांत इस क्षेत्र में उतनी

ही सापेक्षता और सचेष्टता अपनाते हैं। इस आधार पर हम थोड़ा विचार करें कि ईश्वर मात्र को यदि आस्तिकता की कसौटी बना देते हैं, तो कितनी एकदेशीयता हम अपना लेते हैं, अत एव उपर्युक्त सभी प्रणालियों को यदि हमें एक सूत्र में गूंथना है तो अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाना होगा। इतनी संकुचित वृत्ति से हम इतना विस्तृत कार्य नहीं कर सकते हैं। प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर इन सभी प्रणालियों को वेद को ईश्वरकृति मानने में भले ही विवाद रहा हो, किन्तु उसकी महत्ता और प्रामाण्य में संदेह करने की शक्ति न किसी में रही है, एवं न किसी ने इतना दुस्साहस ही किया है। इस सर्वसंमत मापदंड को स्वीकृत करने पर ही हम सर्व-संमत मन्तव्य उपस्थित कर सकते हैं, अन्यथा इस क्षेत्र में हम जितनी एकदेशीयता से काम लेंगे, हम वहीं तक सीमित रह जायेंगे। इसी लिए वेद के माहात्म्य अपिच प्रामाण्य का अंगीकार ही आस्तिकता की सर्वमान्य कसौटी है।

शब्दशास्त्र के आचार्य पाणिनि भी इस विवेचन से पूर्णतः तो नहीं, पर अंशतः अवश्य सहमत हैं। वे भी व्यक्ति को प्रधानता देने की अपेक्षा सिद्धान्त की प्रतिष्ठा को आवश्यक मानते हैं। उनके मंतव्य में दैव ही आस्तिकता का नियामक है। इसी दैव को लोक भाग्यके अर्थ में व्यवहृत करता है। वस्तुतः यह दैव अदृष्ट के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। अपने [१] पूर्व जन्म के कर्म कांड से हम जो कुछ भी संचय करते हैं, वही हमारी अदृष्ट संपत्ति दैव के रूप में हमें आजीवन अपिच अग्रिम जन्म में प्राप्त होती रहती है। इस पूर्वजन्म की अथवा परलोक की स्वीकृति में ही दैव की सत्ता अंतर्हित है, इसी लिए भाग्य अथवा परलोक की सत्ता कोई पृथक् वस्तु नहीं है। इसी को जहाँ [२] पाणिनि आस्तिकता और नास्तिकता का मापदंड घोषित करते हैं,

१—"पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते" (हितोपदेश)

२—अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (पाणिनि-सूत्र)

वहाँ लोक भी उसे इसी रूप में मानता हुआ आ रहा है। पाणिनि का यह मंतव्य भी वेद ही पर आधारित है, इसी लिए उपर्युक्त तथ्य पर भी कोई आक्षेप या आघात इससे नहीं पहुँचता। यह सिद्धांत और तथ्य भी इतना सर्वसंमत और संशयहीन है कि इसी पर पुराणों, स्मृतियों और दर्शनों की जड़ जमी हुई है, इसी लिए इसकी व्यापकता में कट्टरता तथा संकुचितता का भी विलय हो जाता है। इस कसौटी की सर्वमान्यता को वेद का पोषण और समर्थन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। आचार्य मनु [१] ने भी इसी लिए वेदनिन्दक को नास्तिक कहा है—ईश्वर के संबन्ध में मौन रहने वाले को नहीं।

अस्तु वेद और दैव दोनों में किसी को भी हम नियामक के रूप में स्वीकार करें, जैमिनि की आस्तिकता किसी से नहीं पिछड़ पाती। जहाँ वेद का प्रश्न आता है—अपने प्रतिपाद्य विषय को (धर्म) एक मात्र वेदाधार मानकर जहाँ जैमिनि ने प्रमाण के संपूर्ण उपकरणों में वेद को सर्वोत्कृष्ट और निरपेक्ष प्रमाण घोषित किया है, वहाँ उसने अपनी अगाध आस्था एवं अतिशय श्रद्धा को मूर्त रूप से उपस्थित कर दिया है। वेद के एक एक भाग के लिए जैमिनि आत्म-बलिदान तक करने के लिए हर समय प्रस्तुत रहता है—वह उसके एक वाक्य तक को निरर्थक कहने में अपना अपमान समझता है. जो जीवनान्त से भी बढ़कर है। उसका संपूर्ण शास्त्र ही वेद की परिखा मात्र है, जो उस पर होने वाले विभिन्न आक्रमणों से उसकी सुरक्षा करती रहती है। ऐसी स्थिति में वेद की महत्ता और निरपेक्ष प्रमाणता को जब हम आस्तिकता की कसौटी के रूप में कल्पित करें, तो ऐसा कौन सरस्वती का पुत्र होगा जो जैमिनि की आस्तिकता में संशय करेगा। अपितु इस संबन्ध में सभी को जैमिनि का उत्कर्ष (अन्यों की अपेक्षा) अंगीकार करना होगा। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि वेद की सुरक्षा

१—"नास्तिको वेदनिन्दकः" (मनुस्मृति २-१०)

करने का कार्य यदि भारत माँ के लाडले सपूतों में सबसे अधिक मात्रा में किसी ने किया है, तो वह एक मात्र जैमिनि है। उसी के आगम का वेद से साक्षात् संबन्ध है, इसी लिए तो उसे वेद का संरक्षक कहने में कोई बाधा नहीं है।

रहा सवाल—दूसरे मापदंड का। वह भी एक प्रकार से वेद से अभिन्न है, और जैमिनि में उसकी सत्ता को तो हम क्या ढूंढने जायें, जैमिनि तो उसका सबसे पहला और सब से श्रेष्ठ प्रवर्तक भी नहीं, तो प्रचारक अवश्य है। अदृष्ट के साथ मीमांसा का कहाँ तक संबन्ध है, यह पहले स्तंभ में प्रतिपादित किया जा चुका है। फिर दैव के अस्तित्व के आधार पर जैमिनि की आस्तिकता स्पष्ट है, उसका प्रतिपादन करना एक प्रकार से सूर्य को दीपक दिखाना है। ऐसी स्थिति में यदि हम इन सभी प्रामाणिक और शाश्वत तथ्यों के आधार पर जैमिनि को महान् और सर्वोत्तम आस्तिक कह देते हैं, तो कौनसा अन्याय करते हैं। यह अवश्य है कि उसकी आस्तिकता में अंधविश्वास के लिये लेश-मात्र भी स्थान नहीं है।

एक आदर्श परंपरा-पालकः—

समीक्षा और परीक्षा को अपनाने पर भी जैमिनि ने किसी परंपरा पर आघात नहीं किया। जिस प्रकार आजकल के नवयुवक रास्ते चलते हुए पुराणों, स्मृतियों व आचारों को एक क्षण में निरर्थक कह कर नाक भौं चढा लेते हैं, और वह भी तब, जब कि उन्हें शायद उनकी गन्ध तक का भी अनुभव न हुआ हो, उस प्रकार जैमिनि ने नहीं किया। जैसा कि पहले प्रतिपादित किया गया है—जैमिनि अंध-परंपराओं के मानने वाले न थे, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनने परंपरा मात्र को अप्रमाण एवं अनुपयुक्त सिद्ध किया हो। वे एक समालोचक हैं, किन्तु उनकी समालोचना किसी कट्टरता पर निर्भर नहीं है। जैसा कि समालोचक के लिये आवश्यक है कि वह जिसकी समालोचना करने

लगे, उसकी सर्वशः अभिज्ञता के साथ २ उसमें श्रद्धा भी नहीं, तो कम से कम सहानुभूति अवश्य रखे। जैमिनि ने तो इन प्राचीन परपराओं को एक आदर्श के रूप में गृहीत किया है, और विशेषता यह है कि उस आदर्श को यथार्थ के साथ संवलित कर उसके चार चांद लगा दिये हैं।

जैमिनि जहां हमारी परंपराओं को मान्यता देते हैं, वहां उनकी सबसे पहली विशेषता यह है कि वे इन्हें एक सूत्र में गूंथते हैं। उनका निरतिशय प्रामाण्य वेद से प्रारंभ होता है, और क्रमशः विधि, अर्थवाद, मंत्र, नामधेय, स्मृति, आचार, कल्पसूत्र तक उतरता चला आता है। ये सब प्रमाण हैं-इसलिए कि इनका किसी न किसी प्रकार से साक्षात् अथवा परंपरा वेद से संबन्ध है। इन सबको संबद्ध बना करके जैमिनि ने इस दिशा में एक नवीन पथ निर्माण किया है, इसमें कोई संशय नहीं है। इससे जहां उनकी परंपरापालकता का परिचय मिलता है, वहाँ हम उन्हें एक परंपरा-निर्माता के रूपमें भी पाते हैं।

वेद के विभिन्न भागों के अनन्तर जहाँ स्मृति के [1]प्रामाण्य का प्रश्न आता है, जैमिनि आदर के साथ उन महापुरुषों की कृतियों का संमान करते हैं। वे कहते हैं-इन महामनाओं की उक्तियां बिना किसी मौलिक आधार के प्रवृत्त नहीं हो सकती। अवश्य उनका कोई न कोई आधार रहा है, या तो हमें वह वेद के विभिन्न कांडों में प्राप्त हो ही जाता है, अन्यथा उसकी अनुपलब्धि स्वीकार कर हमें उनका प्रामाण्य मान्य है। इससे विदित होता है कि जैमिनि ने उन महामनाओं में आस्था व्यक्त कर अपनी उदारता और गुण-ग्राहिता प्रदर्शित की है।

इसी के साथ दूसरा प्रश्न जो अधिक गहरा है-आचारों के प्रामाण्य के सबन्ध में है। आज विशेष कर चारों ओर इस प्रकार की लहर जा

१—धर्मस्य-शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात (१-३-१-१)
अपिवा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् (,,)

रही है कि ये आचार सब ढकोसले मात्र हैं। जैमिनि के सामने भी यह समस्या उग्ररूप में नहीं, किन्तु आशंका अथवा संभावना के रूपमें प्रकट हुई। उनने आजके इस अंधकार की कल्पना हजारों वर्ष पहले ही करली थी, इसीलिए तो इन महामुनियों को दूरदर्शी कहा जाता है। जैमिनि कहते हैं—[१] हमारी इन परंपराओं के ये प्रवर्तक हमारी अपेक्षा अधिक विज्ञ थे और फिर बिना निमित्र के इनको प्रवृत्ति भी क्यों होने लगो। जब ये किसी निमित के आधार पर संचालित हैं, तो आज हम यदि किसी कारणवश उस निमित्त को नहीं पहचान पा रहे हैं, तो इसमें किसका दोष। इसी लिए हमारा कर्त्तव्य है—हम हमारे गौरव की सुरक्षा के लिए इनका सादर पालन करें।

केवल इसी में नहीं वे तो इन आचारों को भी सार्वजमिक और सार्वदेशिक घोषित करने में नहीं हिचकिचाते। अपने एक अधिकरण में वे चर्चा करते हैं कि कुछ एक आचार ऐसे हैं जो देश के दक्षिण भाग में प्रचलित हैं, और उत्तर में नहीं। कुछ उत्तर में प्रचलित हैं, दक्षिण में नहीं। इनकी मान्यता के प्रश्न पर वे निर्णय देते हैं कि नहीं, जब हम एक वेद के द्वारा शासित हैं, तो फिर क्यों न हमारे विभिन्न भू-भागों में प्रचलित पद्धतियां हमारे लिए मान्य [२] हों। आज हम संगठन का दावा करते हैं, और देश के संपूर्ण प्रश्नों और आचारों के राष्ट्रीय-करण का स्वप्न देखते हैं। जैमिनि के इस अधिकरण पर जरा दृष्टि डालें तो विदित होगा कि इस ओर जैमिनि कितने आगे बढ़ चुके थे। संपूर्ण आचारों के राष्ट्रीयकरण का यह कितना अच्छा साधन जैमिनि ने घोषित किया है, और सारे देश में सांस्कृतिक एकता लाने की आवश्यकता पर बल दिया है।

१—शास्त्रपरिमाणत्वात् (३१—४-६)

२—तेष्वदर्शनद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् (१-३-५-८)

इसी प्रकार कल्पसूत्रों एवं शब्द-प्रयोग के संबन्ध में जैमिनि हमारी इन मान्यताओं को संमानित करते हैं। पौरुषेय होते हुए भी वे कल्पसूत्रों को इसलिए प्रमाण मानते हैं, कि उनके प्रवर्तक तत्वज्ञ महर्षि हैं, जो लौकिक स्वार्थ एवं आकाङ्क्षाओं से हजारों मील दूर हैं। जहां प्रयोग की उत्पत्ति और प्रमाणता का प्रश्न [१] आता है, जैमिनि निःसंकोच कह देते हैं—कि अभियुक्तों का उपदेश मात्र ही इसका नियामक है। एक नियत व्याकरण के नहीं होते हुए भी वे इस दिशा में कोई अव्यवस्था नहीं देख पाते। आप्तों का प्रयोग उनके प्रामाण्य की उत्तम कसौटी बनकर आता है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इतने विस्तृत विचार शास्त्र के प्रवर्तक होते हुए भी जैमिनि ने कहीं किसी भी प्रकार से अपनी परंपराओं के तथ्य अंशों की अवहेलना नहीं की है; अपितु उन्हें यथासाध्य प्रयत्नों से मान्यता प्रदान करने का प्रयास किया है, इस दिशा में उन्हें जो सफलता मिली है, वह वस्तुतः स्पृहणीय है। जैमिनि की इस उदारता, गुणग्राहिता और उच्चभावना से हमें प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए।

अधिकृत समाजवादी:—

समाजवाद आज का एक उत्तम उत्कर्षमय सिद्धान्त है। उसकी उत्कृष्टता पर संशय करना युगधर्म की अवहेलना करना है। आज यह अनेक रूप में हमारे सामने आता है, कहीं भूमि के राष्ट्रीयकरण को लेकर, तो कहीं निर्धनों स्त्रियों व शूद्रों के समानाधिकार को। अपनी न्हीं परंपराओं में वह साहित्य के क्षेत्र में कहीं प्रगतिवाद का भी रूप धारण करके आता है। संक्षेप में हमें इस स्तंभ में इसकी इन विभिन्न कसौटियों पर जैमिनि को कसना है। इसलिए नहीं कि उसे इससे

---

[१]—तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् (१-३-१-२७)

अधिक महत्ता प्राप्त होगी, अपितु इसलिए कि हमें उससे अधिक पुष्टि मिल पायेगी।

एक प्रकार से लौकिक अपिच भौतिक दृष्टि से देखा जाये, तो हमारी ये याज्ञिक परंपरायें समाजवाद ही पर आधारित हैं। इन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाये, तो यह अधिक स्पष्ट हो सकता है कि किस प्रकार समाज का धन—जो किसी समाज के एक व्यक्ति के पास किन्हीं श्रेष्ठ साधनों से संचित हो जाता है—समाज ही में वितरित कर दिया जाता है। यजमान के रूप में उपस्थित होने वाले व्यक्ति के लिए किस प्रकार पवित्र उपायों से धन संचय करना आवश्यक होता है, और फिर वह किस प्रकार उसे समाज के विभिन्न भागों में बिना किसी हिचकिचाहट के कहीं दक्षिणा के रूप में, कहीं वस्तुक्रय के रूप में, और कहीं मजदूरी के रूप में बांट देता है, यह एक समाज वाद की आदर्श परंपरा है—जो उसके समाज के द्वारा संचित धन को समाज में विभाजित करा देती है। यही कारण है कि हमें उस आदर्श युग में पूंजीवाद की छाया तक नजर नहीं आती। इसी प्रकार जो अदृष्ट फल होता है, वह तो होता ही है, किन्तु उससे अतिरिक्त इन परंपराओं से होने वाले दृष्ट फल में समाज का समान अधिकार स्वतः हो ही जाता है। यज्ञ की गन्ध से रोग के कीटाणुओं की हत्या केवल यजमान के घर तक ही सीमित नहीं रहती, उससे होने वाली वृष्टि, अन्न-समृद्धि, पवित्र वायु श्वास-प्राप्ति केवल एक क्षेत्र विशेष के लिए नहीं, किन्तु संपूर्ण समाज के लिये हैं। [१] सत्रयाग इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है—जिसमें अनेक यजमानों में पारिवारिक भावना को और संगठन की प्रवृत्ति को प्रमुखता दी गई है। जहाँ वे सहस्त्रों की मात्रा में सम्मिलित होकर एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सतत और समानांश में प्रयत्नशील रहते हैं। अस्तु, इस संबन्ध में

१—ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन् (६-२-१)

हो सकता है—कुछ एक विद्वान् मतभेद रख सकें, किन्तु अब हमें उन सामाजिक तथ्यों पर विचार करना है, जिन पर जैमिनि ने स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है।

१—भूमि के संबन्ध में:—

आज समाजवाद का सबसे बड़ा प्रश्न भूमि के राष्ट्रीयकरण के संबन्ध में है। समाजवाद का सिद्धान्त है कि भूमि पर किसी व्यक्ति (चाहे वह राजा हो क्यों न हो) अथवा संप्रदाय विशेष का कोई अधिकार नहीं है। वह राष्ट्र की संपत्ति है, और उस पर एक मात्र राष्ट्र का अधिकार है। मध्य काल में भूमि राजाओं के अधिकार में (विभाजित-प्रणाली पर) तो थी ही, साथ ही उससे होने वाली आय पर भी उनका सर्वाधिकार सा बन गया था। वे भूमि को आय का, जो कि जनता की संपत्ति थी, दुरुपयोग करने लगे थे, और प्रजा के नेताओं को कुचलने के साथ २ जनता को सुविधा सुख प्राप्त कराने में आलसी से बन गये थे। अस्तु, यह सब आचरण जहाँ नैतिकता थे, विपरीत थे, समाजवाद से भी टक्कर लेते थे। देश को स्वतंत्रता के अनन्तर स्वनामधन्य स्वर्गीय सरदार बल्लभभाई पटेल के प्रयत्न से भूमि के राष्ट्रीयकरण की एक बहुत बड़ी समस्या तब हल सी हो गई, जब कि उनने भारतके लगभग ६०० छै सौ राजाओं के भूमि संबन्धी अधिकार केन्द्रीय सरकार के हस्तगत कर लिये। अभी और बहुत अंश इस विषय में शेष है,किन्तु इस ओर समाजवाद के आधार पर उठाया गया यह कदम इतना दृढ है कि आगे भी यह समस्या थोडे ही परिश्रम से हल हो सकेगी।

यह हुआ साधारण परिचय, अब हमें उपर्युक्त प्रतिपादन क जैमिनि को मोहर से प्रमाणित करना है। विश्वजित् एक महान् याग है—जिसमें अपनी संपूर्ण संपत्ति के दान का उपदेश है—चाहे वह चल हो या अचल। उस प्रकरण में राजा जब विश्वजित् यज्ञ करता है, तो

चर्चा चलती है कि वह कोष के दान के बाद उस भूमि का भी-जिसका वह स्वामी है-दान करे या न करे ? इस संशय में पूर्वपक्षी कहता है—कि जब सर्वस्व देने का विधान है, तो राजा भूमि को अपने अधिकार में किस आधार पर रख सकता है ? किन्तु सिद्धान्त के रूप में जैमिनि[१] आदेश देता है—कि राजा का पृथ्वी पर कोई अधिकार नहीं है। भूमि हम सबकी जननी है, हम सब उसी से जन्म लेते हैं, खाते हैं, पलते हैं, और लय हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम सबका उस पर समान अधिकार है—चाहे गरीब हो, या जागीरदार, पूंजीपति हो या राजा। राजा को हम उसका कर देते हैं, इसलिए नहीं कि वह उसका स्वामी है अपितु इसलिए कि वह उसकी सुरक्षा करता है। इस प्रकार जबकि हम सब पृथ्वी के स्वामी हैं, तो एक मात्र उसके द्वारपाल राजा को उसे दान करने का कोई अधिकार नहीं है। दान उसी वस्तु का किया जा सकता है, जिस पर अपना पूर्ण प्रभुत्त्व हो, यह नहीं कि कोई वस्तु हमें धरोहर के रूप में मिली है, और हम उसे दान कर बैठें। कितना मूल सिद्धान्त जैमिनि ने अपने साधारण प्रसंग में रख कर समाजवाद को पुष्टि प्रदान की है।

२—निर्धन के विषय में:—

समाजवाद की दूसरी धारा पूंजीवाद के विरोध को लेकर आती है। उसका अभिप्राय है कि पूंजी पर किसी व्यक्तिविशेष का विशेषाधिकार तो होना ही नहीं चाहिए, पर साथ ही पूंजीपति होने के कारण उसे समाज में इस आधार पर कोई महत्ता भी प्राप्त नहीं होनी चाहिए। मानव का मूल्यांकन समाजवाद की पृष्ठभूमि है, और इसीलिए यह

१—"न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्।

यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात् (६-७-३)

(६-७-२) प्रत्यसिद्धत्वात्

आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक कार्य में पूंजीपति और गरीब का समान स्थान हो।

जैमिनि[1] इस दिशा में पथप्रदर्शन करते हैं, और कहते हैं—कोई व्यक्ति किसी कर्म में इसलिए अनधिकारी नहीं कहा जा सकता कि उस के पास धन नहीं हैं। यह तो एक सबसे बड़ा अभिशाप है कि धन-वान् होने के कारण एक व्यक्ति को कर्म का अधिकारी घोषित कर दिया जाये, और दूसरे को सर्वगुणसंपन्नता के होते हुए भी इसलिए वंचित कर दिया जाये कि उसके पास धन नहीं है। द्रव्य की सत्ता एक गौण वस्तु है, उसकी प्राप्ति और अप्राप्ति किसी अधिकार विशेष का मापदंड बनने के सर्वथा अयोग्य है। इस मंतव्य की घोषणा कर जैमिनिने सचमुच पूंजीवाद को चुनौती दी है और गरीबों की हिमायत करने की प्रेरणा दी है।

३—स्त्रियों की समानाधिकारताः —

जहाँ हम मानव का मूल्यांकन करने चलते हैं, वहाँ हमें कोई अधिकार नहीं रह जाता कि हम किसी वर्ग विशेष को अनुचित रूप से अधिकृत अथवा दलित रूपमें देख सकें। इसी तथ्य के आधार पर इन दो धाराओं को इस स्तंभ में स्थान दिया जा रहा है। स्त्रियों के अधिकार के संबन्ध में आज छोटे से छोटे घर से लेकर बडो से बडी धारा सभाओं में विवाद चल रहे हैं और ये विवाद एक अंश में भी अभी हल नहीं हो सके, अपितु दिन दिन द्रौपदी के चीर को तरह बढते जा रहे हैं, और हम इनमें वधिक के जालकी तरह उलझते जा रहे हैं। हम आज की इन धारासभाओं के निर्णय से पूर्व जैमिनि के एक न्यायालय के निर्णय को इस दिशा में की गई प्रगति का परिचय देने व पोषण प्राप्त करने के लिए यहाँ उपस्थित कर रहे हैं।

१—आयणां द्रव्यसंपन्नः कर्मणो
अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः (६-१-१-८-३३)

जहाँ कर्म में अधिकार देने का सवाल आता है तुरन्त प्रश्न उठता है कि स्त्रियों को भी अधिकार दिया जाये, या नहीं। पूर्वपक्षी इस ओर कोई कसर उठा नहीं रखते कि स्त्री को कर्म में अधिकार न मिले, क्योंकि वह उसके किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है। किन्तु सिद्धान्त में जैमिनि[१] स्त्रियों के साथ होने वाले इस दुर्व्यवहार को सहन नहीं करते, और कहते हैं कि उसका भी कर्म में समान अधिकार है। उसके बिना जहां कर्म अपूर्ण रहता है, वहाँ पुरुष भी अपूर्ण रहता है। स्त्रियों को कर्म में समान अधिकार देकर जैमिनिने जहां अपनी उदारता प्रदर्शित की है, वहां नारी जाति के माहात्म्य की भी सुरक्षा की है। जैमिनि के ये सिद्धान्त हमें प्रेरणा तो दे ही रहे हैं, किन्तु हम जरा इनकी महत्ता पर विचार करें तो और भी अधिक परिचित हो सकेंगे। आज चाहे ये कर्म में समान अधिकार हमारे लिए निदर्शन मात्र रह गये हों, पर उस कालकी स्थिति का अनुमान करें तो पता चलेगा कि इस अधिकार का आज की इन धारासभाओं में मिलने वाले अधिकारों की अपेक्षा कितना अधिक महत्त्व है।

दासी नहीं स्वामिनीः—

जैमिनि स्त्रियों के अधिकारों को लेकर और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हैं। जहां उसकी द्रव्यवत्ता का प्रश्न आता है, वे उसे उपार्जन का अधिकार देते हैं, और इस प्रकार के साधनों अथवा पितृ परंपरा से प्राप्त धन पर उसका एकाधिकार घोषित करते हैं। हम अपनी प्रणय-भावना और पवित्र सहानुभूतिमय संबन्ध से पत्नी को चाहे दासी ही क्यों महादासी तक बना सकते हैं–जैसा कि होता भी है, किंतु

१—जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत

जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् (६-१-२-८) अर्थेन च समवेतत्वात्

A—ये यज्ञपत्नीं वर्धानि (श्रुतेः)।

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है-जैसा कि हो गया है-कि स्त्री को पांव की जूती समझो जाये। जैमिनि[१] बताते हैं-कि विवाह के अनन्तर जहां उसे कुमारी से "पत्नी" संज्ञा प्राप्त होती है, वहीं उसमें स्वामित्व का संचार हो जाता है, जो एक स्वाभाविक अधिकार है। द्रव्य में भी उसका उसी प्रकार समान अधिकार है-जिस प्रकार कर्म में। जैमिनि के ये आशीर्वाद जहां हमें इन राष्ट्र की जननियों के समादर के लिए अग्रसर करते हैं, वहां इन आज के समाज सुधारकों को चुनौती देते हैं कि आज से दो ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भी कोई एक महान् उपकारक इस संबन्ध में पथप्रदर्शन कर चुका है।

५-शूद्र और उसकी अपरतंत्रताः—

जैसा कि गत शताब्दियों से चला हुआ आ रहा है-शूद्र को उत्तम वर्णों के सेवक रूप से लोगों ने समझ लिया है। संभवतः इसीलिए लोग उसकी उत्कृष्टता और समानता में संशय करने लगे हैं। आज का युग तो खैर इसकी आलोचना करता ही है, और मानवता के नाते उसे पिछडने देता ही नहीं, किन्तु जैमिनि भी इस ओर उदासीन नहीं रहे हैं।

उपर्युक्त विश्वजित् याग में जहां इतर संपूर्ण संपत्ति के देने का स्पष्टीकरण है, वहां दास के विषय में भी चर्चा की गई है। इसी भ्रान्तिपूर्ण प्रचलित परंपरा के आधार पर पूर्वपक्षी शूद्र को भी दास

१—स्ववत्तामपि दर्शयति (६-१-३-१६)

A—पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (पाणिनि

B—पत्नीशब्दस्य स्वामिवचनत्वात् (पार्थसारथि शास्त्र दीयिका-६-१-३)

C—क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्व मित्वमुच्यते, फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाभिसंबन्ध (जैमिनि ६-१-४-१६-२०)

के समान मान्यता देकर देय वस्तुओं में परिगणित कराना चाहते हैं। किन्तु महर्षि जैमिनि के साम्राज्य में किसी अंध परंपरा का इस रूप में प्रचलन असंभव है, यह अराजकता इस नियामक के नियंत्रण में नहीं चल पातीं। वह इस परंपरा को चुनौती देते हुए कहता है कि शूद्रदास नहीं हैं. केवल उसने परिचारकता स्वीकार की है, तो धर्म के लिए ही की है, व्यक्ति विशेष के लिए नहीं। वह किसी के आधीन नहीं है, इसलिए समाज में उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। उसकी समता दाससे नहीं की जा सकती, क्योंकि दास परतंत्र है, और इसीलिए उस पर स्वामी का सर्वाधिकार है। पर शूद्र पर नहीं; वह तो केवल धर्म शिक्षा पाने के लिए ही वहां उपस्थित [१] होता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं नहीं हो जाता कि हम उस पर अपना अधिकार समझ बैठें। जैमिनि की यह चुनौती जहां इन परंपराओं को ललकारती है, वहां हमें भी मानवता के नाते समानता की ओर अग्रसर करती है।

संक्षेप में उपरि प्रतिपादित विभिन्न धाराओं से जैमिनि की समाज व्यवस्था पर सांकेतिक प्रकाश पड जाता है-जिससे सिद्ध होता है कि जैमिनि एक समाज शास्त्री भी थे। हमारे इन समाज वादियों को जो विदेशों से इस ओर पथ प्रदर्शन के आकाङ्क्षी हैं, और रहे हैं, अपनी इस घर में रखी हुई निधि पर गर्व करना चाहिए।

एक वैज्ञानिक

जैमिनि के सिद्धान्तों को जहाँ आगम की भिन्न भिन्न पद्धतियों ने मान्यता दी है, वहाँ विज्ञान ने भी। आज एक अनुसन्धाता अपने संपूर्ण जीवन भर एक वस्तु अथवा तथ्य की गवेषणा के लिये प्रयत्नशील रहता है, और जब वह एक भी सत्य अपिच शाश्वत तथ्य अपनी सतत

१—शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् (६-७-६)

साधना से हमारे सामने रख देता है, तो हम उसे एक महान् वैज्ञानिक के रूप में सत्कृत करते हैं।

शब्द की नित्यता (जो आगे सिद्ध की जावेगी) जैमिनि की एक ऐसी देन है-जिसे विज्ञान ने गौरव के साथ स्वीकार किया है। इस संबन्ध में अनेक वाद विवाद चलते रहे हैं, किन्तु बीसवीं शताब्दी के रेडियो आविष्कार ने इसे शिरोधार्य कर तर्क की पद्धति से ऊँचे उठाकर प्रत्यक्ष कर दिखाया है। यही कारण है कि ६ बज कर १५ मिनिट पर (रात) हम प्रतिदिन देहली स्टेशन से प्रसारित किये गये कार्य-क्रम हजारों कोसों की दूरी होने पर भी उसी क्षण सुन रहे हैं। बडी साधना के बाद वैज्ञानिकों ने इस वस्तु को प्राप्त किया है, और उसके लिए अपना मस्तक बडे गर्व से ऊँचा उठा रहे हैं। बडे ही सहज तरीके से हमारे महान् आविष्कारक जैमिनि ने इसके मूल को उपस्थित कर दिया है, जो आज अंकुरित होकर फल फूल रहा है। इससे उनके तथ्यों की शाश्वतता का आभास मिलता है, और उनके प्रामाण्य की प्रेरणा।

इस संक्षिप्त विवेचन से जहाँ महर्षि जैमिनि की उच्चता का परिचय मिलता है, वहाँ मीमांसा शास्त्र की सर्वांगपूर्णता और लोकोपयोगिता भी प्रकाशित होती है। इससे मीमांसा के उद्देश्य की महत्ता विस्पष्ट हो जाती है।

भ्रान्त धारणा

फिर भी न जाने क्यों, इस विषय में लोगों की धारणाऐं भ्रान्त होती जा रही हैं। किन्तु क्या किया जावे, यह तो एक प्रकार से युगधर्म सा बन गया है। आज प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वाकाङ्क्षा रखने वाले व्यक्ति के लिए यह सब से पहला कदम बन गया है कि वह प्राचीन परंपराओं का खंडन करें। साहित्यकार अपनी विद्वत्ता का मापदंड मानता है-प्राचीन

सिद्धान्तों का निराकरण। वह इसके लिए दृढ़-प्रतिज्ञ होकर प्रवृत्त होता है, और अपने आप तक को उस लक्ष्य की पूर्ति में भुला देता है, उसी में वह अपनी पूर्ण सफलता समझता है, पर उसे यह विदित नहीं रहता कि यह सब इसलिए हुआ है कि उसने अपने आपको भुला दिया है—जो सबसे बड़े अज्ञान का भंडार है। यही एक दार्शनिक और समाजशास्त्री करता है। आज हम जिसे समाजसुधार कहते हैं, उसमें क्या इस अशान्त वातावरण और खंडनात्मक वृत्ति के अतिरिक्त कुछ रचनात्मक तत्व प्राप्त होते हैं।

फिर एक दूसरा प्रकार है—ऐसे लोगों के लिए दो विपरीत वस्तुओं को मिलाना। थोड़ी देर के लिए समझ लीजिये कि हम अंधकार की समता सूर्य से करने लगते हैं, तो क्या उचित करते हैं? क्या हमारे प्रतिपादन का यह कोई श्रेष्ठ प्रकार है! अध्यात्म और अदृष्ट जैसे प्रकाश को भौतिकता से प्रतियोगिता के लिए उपस्थित कर देते हैं, और फिर लोक में रहने वाले, मस्तिष्क के कच्चे और आत्मबल से हीन कुछ एक-मानव नामधारियों को लोक की चाकचक्यमय युक्तियों से प्रभावित कर अपने वैदुष्य की छाप लगा देते हैं। पर यह कोई नवीन कार्य वे नहीं कर रहे हैं, अनादिकाल से ऐसे लोगों की एक परंपरा रही है। किन्तु क्या कारण था कि उस सभ्यता और संस्कृति के उत्कर्षमय युग में इन लोगों की दाल न गली। थोड़ा सोचने पर स्वतः स्पष्ट हो जायगा। आत्मबल की हीनता ही हमें भौतिकबल के संमुख नतमस्तक करती है। उस स्वर्णिम काल में हम इतने आत्मबल संपन्न थे कि भौतिकता हमारे संमुख टिक न सकती थी। पर क्या किया जाये, आज हम ही जब इतने दीन हीन हो गये, तो क्यों न हमें लोग कठपुतली की तरह नचायें। लेकिन थोड़ा वे विचार करें कि वे देश के साथ क्या कर रहे हैं? भगवान् ने हमें मस्तिष्क दिया है, इसलिये नहीं कि हम जनता को पथभ्रष्ट करें, अपितु इसलिये कि श्रेष्ठ पथ प्रदर्शित करके देश और समाज के साथ अपना कर्त्तव्य पूर्ण करें।

जनता को यदि हम यह[१] उपदेश देते हैं कि तुम जितना चाहो आराम से रहो, जब तक जीते रहो, चाहे कहीं से ऋण करना पड़े, चाहे कितने ही अनुपयुक्त साधनों से संचित करें, किन्तु घी पीते रहें, एवं लड्डू खाते रहें, ठीक है, पर इसमें हमारा क्या है? स्वार्थ और प्रत्यक्ष की सर्वस्वता मानव की स्वाभाविक वृत्ति है, उसके अपाकरण में ही मानव की वास्तविकता है। अपने उदर की पूर्ति और आराम के उपकरणों का संचय तो एक ऐसी वस्तु है–जिसके लिए उसके प्रयत्न जन्मजात होते हैं। केवल उसी में नहीं, यह तो प्राणिमात्र में पायेंगे। पर थोड़ा हृदय पर हाथ रख कर विचारें—क्या इसी में जीवन की सफलता है, वस्तुतः यही सर्वस्व और शाश्वत है, जो हम देख रहे हैं? खैर, इस संबन्ध में अधिक विवेचन आगे किया जायेगा, फिलहाल तो इतना ही कह देना काफी है कि जो दृश्य है–उसके अतिरिक्त एक उससे भी अधिक महत्त्व पूर्ण अदृश्य नामक वस्तु है–जिस पर यह सब आधारित है। जिस प्रकार मूल पर वृक्ष।

लिप्सा नहीं त्याग

इसी प्रकार की एक भ्रान्त–धारणा मीमांसा जैसे लोकोपयोगिता के प्रतीक शास्त्र के विषय में बींसवीं शताब्दी के चार्वाक माननीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने उपस्थित की है। अपने "दर्शन-दिग्दर्शन" के संबन्धित स्तम्भ में आदरणीय सांकृत्यायनजी मीमांसा को पुरोहितों की जीविका–रक्षा का उपाय कह कर अपनी भौतिकता का प्रदर्शन करते हैं। नीचे कुछ उदाहरण देकर हम आपके इस मंतव्य की निकष पर मीमांसा–शास्त्र की परीक्षा करना चाहते हैं। संभव है उस परिणाम से महा-पंडितजी की धारणा परिवर्तित हो जाये :—

१—यावज्जीवेत् सुखं जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः (चार्वाक)

स्मृतियों के प्रामाण्य के प्रसंग में एक चर्चा चलती है "वैसर्जन-होमीयं[1] वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति" इस वाक्य को लेकर। अर्थात् वैसर्जन होम से संबन्धित वस्त्र को अध्वर्यु ग्रहण करता है। पूर्वपक्षी कहता है—जब हम वेदमूलकता को लेकर संपूर्ण स्मृतियों को प्रामाण्य प्रदान कर रहे हैं, तो फिर इसीने ऐसा कौन सा पाप किया है। क्या हुआ, यदि वेद-वाक्य उपलब्ध नहीं होता है, हम उसकी कल्पना भी तो कर सकते हैं। किन्तु सिद्धान्त में जैमिनि[2] कहते हैं—ऐसी स्मृतियों को प्रामाण्य नहीं दिया जा सकता है। क्यों कि जिस कारण से ऐसी स्मृतियों की उत्पत्ति हो सकती है, वह कारण लोभ के रूप में स्पष्ट है। अध्वर्यु अपने लाभ के लिए ऐसी स्मृतियां प्रचारित कर सकते हैं, और अन्य याज्ञिक भी। इसलिए याज्ञिकों की इस लोभमय प्रवृत्तिके अपाकरण का यही एक श्रेष्ठ उपाय है कि इस प्रकार की स्मृतियां—जिनमें उनके व्यक्तिगत लाभ का वर्णन हो, अप्रामाण्य घोषित कर दी जायें, और जैमिनि ने किया भी ऐसा ही।

भला जैमिनि के इस निर्णय पर हम थोड़ा विचार कर देखें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि क्या सचमुच मीमांसा शास्त्र की प्रवृत्ति वृत्ति रक्षा के उद्देश्य से है। यदि यही लक्ष्य होता, तो उस वस्त्र को (जो कि बहुत लंबा चौड़ा व मूल्यवान होता है) अध्वर्यु तक पहुँचाने में जैमिनि को क्यों आपत्ति होती ? वह तो ऐसी स्मृतियों को—जिनसे ब्राह्मणों को कुछ प्राप्ति होती हो—निर्बाध प्रमाण घोषित कर देता। पर नहीं, जैमिनि जैसे इन महापुरुषों के लिए स्वार्थ की यह तुच्छ परिधि न गण्य थी। आज हम जो उन्हें स्वार्थ-साधक सिद्ध करते हैं, हमारी अपेक्षा तो इन महामनाओं की परोपकारिता में विवृद्धि ही पाते हैं। केवल तर्क ही पर नहीं, हृदय से सोचें तो विदित होगा कि ये लोग बीसवीं शताब्दी के

१—(१-३-३)

२—हेतुदर्शनाच्च (अप्रमाण्यम्) (१-३-३-४)

प्राणियों से कितने उन्नत और त्यागमय थे। यह एक उदाहरण ही इतना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि मीमांसा का संबन्ध लिप्सा से नहीं त्याग से है।

दान नहीं मजदूरी

शायद ये लोग ब्राह्मण की दक्षिणा-प्राप्ति से चिड रहे हों, किन्तु इस संबन्ध में भी जैमिनि ने अपना दृष्टिकोण उज्ज्वल रखा है। यज्ञ में भाग लेने वाले विभिन्न ब्राह्मणों को यजमान जो भी कुछ देता है, वह धर्म के रूप में नहीं, अपितु मजदूरी के रूप में। वह उस पर कोई एहसान नहीं करता—जिससे उपर्युक्त धारणा को पुष्टि मिल सके। दक्षिणा के अभिप्राय को एक भ्रांत परंपरा से हम दान अर्थ में ग्रहण करने लगे हैं, पर हम गलती पर हैं। यह तो एक प्रकार से मजदूरी का उत्कृष्ट रूप है। शायद इसीलिए आजकल भी ब्राह्मण प्रातःकाल से २ बजे तक वेद का पारायण करने के अनन्तर जब वैश्य के पास पैसा लेने जाता है, तो वह समझता है-ब्रह्मण को मैं जो कुछ दे रहा हूँ, इस पर बड़ा उपकार कर रहा हूँ। वह यह नहीं जानता कि यह दक्षिणा उपकार नहीं, वह पारिश्रमिक है—जो इसके द्वारा किये हुए परिश्रम के फल की दृष्टि से अतिन्यून है। जब से यह धारणा यजमानों के हृदय में बैठी है, तब से न उन्हें फल मिल रहा है, और न ब्राह्मणों को संमान। किन्तु जैमिनि को दूर-दर्शिता देखिये-उसने इतनी शताब्दियां पूर्व ही इस धारणा का अपाकरण कर दिया।

इन दो उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा समीक्षा-शास्त्र है किसी व्यक्ति अथवा समुदाय के स्वार्थ साधन करने का टोना

---

१)—अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानादिप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि
) (३-७-८-२०)

A—स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्शत्वात्। (३-८-१-१)

नहीं है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के प्रचार से पूर्व अच्छा हो, प्रचारक जैमिनि की इन प्रेरणाओं की गवेषणा कर लें—जो अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में देती हैं।

प्रवर्तक नहीं प्रतिनिधि

महर्षि जैमिनि मीमांसा के प्रवर्तक के रूप में प्रायः प्रसिद्ध हैं, संभवतः प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इसी आधार पर जैमिनि का इस विशेषण के साथ प्रयोग हुआ हो ? किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। जैमिनि को मीमांसा के वर्तमान स्वरूप का प्रवर्तक हम भले ही मान लें, किन्तु इसके आदिम सिद्धान्तों का जन्मदाता नहीं मान सकते। जिस प्रकार व्यास से पहले भी अद्वैत संबन्धी विचार पर्याप्त मात्रा में प्रचलित थे। उसी प्रकार जैमिनि से पूर्व मीमांसा के। जिस तरह उन बिखरे हुए विचारों को शृंखलित कर एकतोन्मुख करने का महत्त्वपूर्ण कार्य वेदान्त के क्षेत्र में व्यास द्वारा संपन्न हुआ, उसी प्रकार मीमांसा के क्षेत्र में जैमिनि द्वारा। जैमिनि से पूर्व भी मीमांसा के सिद्धान्त एक निश्चित स्वरूप पर पहुँच चुके थे। इसमें कोई संशय नहीं है। स्वयं जैमिनि ने भी अनेक स्थलों पर इसका समर्थन किया है। अतएव हम जैमिनि को आदिम प्रवर्तक नहीं कह सकते।

हाँ, उसे एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में संमानित कर सकते हैं। जितने विचार और सिद्धान्त सूत्र अथवा अन्य किन्हीं प्रकारों में जैमिनि से पूर्व प्रचलित थे, निश्चय ही जैमिनि ने उन सबका प्रतिनिधित्व किया। और यह प्रतिनिधित्व इतना प्रभावशाली बन गया कि आज तक उसकी धाक सब शिरोधार्य कर रहे हैं, एवं उसी के आधार पर जैमिनि को मीमांसा का प्रवर्तक तक कहने में नहीं हिचकिचाते। इस तथ्य से भी हमारी यह विचारधारा पुष्ट हो जाती है कि प्रभावशाली प्रतिनिधि प्रवर्तक तक को भी प्रभावहीन कर देता है और वह उसके नाम तक को भुला देता है—जनता उसे ही सर्वेसर्वा समझने लगती है।

जैमिनि में मीमांसा का हम इतना विकसित और स्थिर रूप पाते हैं-जिससे उनसे पूर्व मीमांसा की प्रवृत्ति ही नहीं, प्रचलितता का भी आभास मिलता है। पूर्व के काल में गवेषणा करने पर भी हम कोई ऐसा आधार नहीं पाते—जिससे किसी व्यक्ति विशेष को मीमांसा का प्रवर्तक कह सकें। अपने युक्तिकलापों से मीमांसा इतनी विस्तृत हो गई—जिसके प्रवर्तक के रूप में एक व्यक्ति को मानना आज से शताब्दियों पूर्व आचार्य भट्ट तक को अभिमत नहीं रहा। वे कहते हैं—यह तो लोक की वस्तु[१] है, लोकोपयोगिता के लिए आवश्यकता के आधार पर किसी व्यक्तिविशेष ने नहीं, अपितु लोक ही ने इसका आविष्कार किया है। फिर भला, हम किस आधार पर जैमिनि को मीमांसा का प्रवर्तक कह सकते हैं। उनके प्रातिनिध्य और प्रभावशालिता में किसी को संशय तक नहीं है। उनका प्रभाव तो इसी से स्पष्ट है कि उनने अपने पूर्वभावी आचार्यों तक के नाम को इतिहास की संपत्ति बना दिया। आज मीमांसा के क्षेत्र में केवल उन्हीं का साम्राज्य दृष्ट है, और रहेगा, यह क्या कम प्रभाव है। अपनी पैतृक परंपरा से प्राप्त संपत्ति का सदुपयोग कर जैमिनि ने हमारे लिए एक आदर्श राजमार्ग प्रस्तुत किया, इसके लिए विचारशील सदा उनके ऋणी रहेंगे।

पैतृक--परंपरा व संपत्ति

बहुत से ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति होते हैं—जिन्हें परिपुष्ट पैतृक परंपरा की समृद्ध संपत्ति निधिके रूप में मिलती है। जैमिनि भी इसी प्रकार के भाग्यशाली हैं, उन्हें किन २ महापुरुषों से इस और प्रोत्साहन मिला-इसके लिए उनके सूत्रों के सिवा दूसरा कोई जानने का साधन नहीं है। जैमिनि ने अपने सूत्रों में अपनी पूर्वज परंपरा के रूप में आठ

१—मीमांसा तु लोकादेव प्रत्यक्षानुमानादिभिरविच्छिन्नसंप्रदायपंडितव्यवहारैः प्रोक्ता, नहि कश्चिदपि प्रथमनेतावन्तं युक्तिकलापमुपसंहर्तुं क्षमः (तंत्र—वार्तिकम)

८ महापुरुषों को परिगणित किया है, यही एक मात्र आधार है-जिससे निम्न लिखित आचार्यों को जैमिनि की पैतृक परंपरा में मानते हैं।

१ बादरायण, २ बादरि, ३ ऐतिशायन, ४ कार्ष्णाजिनि, ५ लवुकायन, ६ कामुकायन, ७ आत्रेय, ८ आलेखन इनमें प्रथम बादरायण के संबन्ध में "जैमिनि और व्यास" शीर्षक स्तंभ में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है, शेष पर प्राप्त तथ्यों के आधार पर-जिनमें माननीय डा० उमेश मिश्र का सत्संग्रह प्रमुख है-विचार किया जा रहा है।

२ बादरि

बादरिके व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में हमें कोई निश्चित तथ्य प्राप्त नहीं होते। केवल इनके नाम के साथ लगे हुए प्रत्यय के आधार पर इतना अनुमान किया जा सकता है (जैसी कि पहले परंपरा थी) कि यह किसी बदर नामक व्यक्ति का पुत्र था। डा० टी० सी० चिन्तामणि इसी आशय को पुष्ट करते हुए बादरि को बादरायण का पूर्वज और बादरायण से कुछ अधिक उम्र का बताते हैं। जैमिनि अपने सूत्रों में चार [१] बार बादरि का स्मरण करते हैं-किन्तु उनका मत जहाँ भी कहीं उद्धृत किया गया है, पूर्वपक्ष के रूप में, सिद्धान्त के रूप में नहीं। साथ ही साथ जैमिनि ने अपना स्वतंत्र मंतव्य उपस्थित कर दिया है। बादरि के विचारों को देखते हुए वह एक श्रेष्ठ विचारक और दृढ प्रतिपादक था, उसकी दृढता का यह कितना मूर्त उदाहरण है कि वह शूद्र तक को भी कर्म का अधिकार दिलाता है, उस समय जब कि उसके लिए वेद का उच्चारण तक करना अन्याय माना जाता रहा हो। ब्रह्मसूत्रों में भी दो चार स्थलों में बादरि को उद्धृत किया गया है। हो सकता है, यह एक ही बादरि पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसाओं का अधिकृत विद्वान् हो। इसके काल के समय में कोई प्रमाणिक आधार उपस्थित नहीं किया जा सकता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में भी बादरि को याद किया गया है-जिससे उसके सिद्धान्तों की मान्यता एवं नियतता का पता चलता है।

१—(३-१-३ ६-१-२७, ८-३-६, ९-२-३३)

ऐतिशायन

बादरि की तरह जैमिनि सूत्रों के अतिरिक्त ऐतिशायन का नाम अन्यत्र विख्यात नहीं है, फिर भी जैमिनि ने अपने सूत्रों में इसे तीन[२] स्थानों में आहृत किया है। इनमें दो स्थानों पर जैमिनि उन्हें अपने मत के समर्थक रूपमें पाते हैं, किन्तु एक स्थान पर हम उन्हें जैमिनि से विपरीत पाते हैं। अपने ३-२-२० सूत्र ४२ में जहाँ बलि खोदते समय मंत्रोच्चारण का प्रश्न आता है, जैमिनि एक ही मंत्र के उच्चारण का विधान करते हैं, और उस पर ऐतिशायन की छाप लगाते हैं। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शास्त्रदीपिका के विद्वान् व्याख्याकार ऐतिशायन ग्रहण को प्रतिष्ठा के लिए बताते हैं। इसी प्रकार फल और कर्ता के संबन्ध को कर्म की प्रवृत्ति में आवश्यक सिद्ध करते हुए जैमिनि ऐतिशायन को स्मरण करते हैं-जिससे उसकी व्यावहारिकता का पता चलता है। कर्म के अधिकार के संबन्ध में हम बादरिको जितना ही उदर पाते हैं, ऐतिशायन को उतना ही कट्टर। जहाँ बादरि शूद्रों तक को अधिकार देने में नहीं हिचकिचाते, वहाँ ऐतिशायन विधायक वाक्यों में निर्दिष्ट पुलिङ्ग के आधार पर केवल पुरुष मात्र ही को अधिकार देना चाहते हैं। जैमिनि इन दोनों के विपरीत है। न वह इतना उदार बन पाया है कि बादरि की तरह शूद्रों को भी अधिकार देने के लिए सहमत हो गया हो, व न इतना कट्टर की स्त्रीजाति को भी उससे वंचित कर दिया हो। इस दिशा में ऐतिशायन जैमिनि से मत भेद रखता है। इससे ऐतिशायन के सिद्धान्तों की स्थिरता प्रतीत होती है।

४. कार्ष्णाजिनि

अन्य उपर्युक्त आचार्यों की तरह कार्ष्णाजिनि के व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में भी हम कोई आधार नहीं रखते। इसी एक नाम को वेदांत

२—(३-२-४३, ३-४-२४, ६-१-६)

धर्म्मशास्त्र और मीमांसा के ग्रन्थों में पाते हैं—उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह एक ही व्यक्ति इन तीनों विषयों का विशेषज्ञ हो। कुछ दो [१] स्थानों पर जैमिनि ने कार्ष्णाजिनि का स्मरण विपरीत सिद्धान्त में किया है। रात्रिसत्र के प्रसंग में जैमिनि जहाँ आर्थवादिक फल को सिद्धान्वित करने चलते हैं; कार्ष्णाजिनि उसे अंग की तरह गौण घोषित कर उन्हें रोकते हैं। इसी प्रकार मन्त्र के काल को लेकर जहां परंपरा संवत्सर का अभिप्राय दिन मानने को बाध्य करती है, कार्ष्णाजिनि उसे वर्ष के अर्थ में प्रयुक्त बताते हैं ? एवं उसकी उपपत्ति के लिए जब वे एक मानव की आयु को इतना नहीं पाते, तो उसे कुलकल्प कह कर एक वंश-साध्य कर्म घोषित करते हैं। इसी प्रसंग में कात्यायन श्रौतसूत्र में भी (1-144) कार्ष्णाजिनि को भारद्वाज और लौगाक्ष के साथ उपस्थित देखते हैं। इन दोनों ही प्रसंगों में जैमिनि इनसे भिन्न मत रखते हैं।

५. लावुकायन

केवल [२] एक स्थान पर जैमिनि ने लावुकायन के विचार को उपस्थित किया है, इससे अतिरिक्त हम इस विषय में कुछ नहीं जानते।

६. कामुकायन

एक ही प्रसंग में [३] दो बार जैमिनि कामुकायन का स्मरण करते हैं—जहाँ कि दर्श और पूर्णमास यज्ञ में विहित इष्टियों के संबन्ध में विचार होता है। पूर्णमास में १४, और दर्श में १३ अंगों का विधान है इन दोनों ही को लेकर कामुकायन कहता है—परिणाम में विरोध न दिखाने के लिए एक ही बार एक साथ ही इनका अनुष्ठान युक्तियुक्त है। इससे अधिक इस विषय में प्राप्त नहीं होता।

१—(४-३-१७ ६-७-३६)

२—(६-७-३८)

३—(११-१-५७, ११-१-६२)

७. आत्रेयः

भारतीय वाङ्मय के लिए आत्रेय का नाम अपरिचित नहीं है। हमारे वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में हम इस नाम को पाते हैं। कर्म के संबन्ध में क्या 'उन पर यजमान का ही अधिकार है, अर्थात् वे यजमान ही के कर्म हैं, अथवा ऋत्विक् के भी-यह संशय करते हुए ब्रह्मसूत्रकार कहते हैं—फल श्रुति होने के कारण वे कर्म एक मात्र यजमान ही के हैं। ऋत्विक् के नहीं। इस कथन पर वे आत्रेय की मोहर लगाते हैं। महाभारतकार ने भी आत्रेय को ब्रह्मविद्याविशेषज्ञ एवं बौधायन श्रौत एवं गृहस्थ सूत्रों में पदकार के रूप में उद्धृत किया है। हो सकता है—यह व्यक्ति कार्ष्णाजिनि के समकालीन हो। और वैदिक वाङ्मय, एवं कर्मकांड के विशेषज्ञ होने के साथ साथ दोनों मीमांसाओं का भी अधिकृत मनीषी हो। जैमिनि ने इसे बड़े संमान के साथ अपने मत की पुष्टि के लिए तीन [१] स्थानों पर याद किया है। सबसे पूर्व जैमिनि इसे कार्ष्णाजिनि के मत का खंडन करने के लिये प्रस्तुत करता है, जहाँ वह रात्रि सत्र जैसे अफल कर्मों में आर्थवादिक फल को अपनाने पर बल देता है, जब कि कार्ष्णाजिनि निषेध करता था। दूसरे स्थान पर जहाँ शूद्र को कर्म में अधिकार देने का प्रश्न आता है, और बादरि जैसे आचार्य उससे सहमत हो जाते हैं, वहाँ जैमिनि आत्रेय की दुहाई देकर कहता है। जिस प्रकार अग्न्याधान आदि के लिये केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों उच्च वर्णों ही को अधिकार है, उसी प्रकार वैदिक कर्मों में भी। तीसरा उपादान इष्टि की प्राथमिकता के संबन्ध में है। इन तीनों ही स्थलों पर जैमिनि को आत्रेय से पर्याप्त पोषण प्राप्त हुआ है, इसमें कोई संशय नहीं व हम इन्हीं के आधार पर अनुमान करते हैं कि आत्रेय अपने काल का एक श्रेष्ठ मीमांसक और कर्म काण्डी था। इसीलिए उस काल के साहित्य में हम उसका मौलिक

१—(४-३-१८, ६-१-२६, ५-२-१८)

सत्कार पाते हैं। बादरायण के बाद यही एक ऐसा व्यक्ति है—जिसे जैमिनि ने इतना अधिक संमान प्रदान किया है। इस नाम की एक परंपरा को हम गोत्र के रूप में भी हमारे देश में पाते हैं।

८. आलेखन

जैमिनि के १२ अध्यायों में हम केवल एक स्थान[1] पर अभ्युदयेष्टि की सामग्री—संचय के संबन्ध में आलेखन का नाम पाते हैं, व एक बार संकर्षकांड में। भारद्वाज के श्रौतसूत्र में भी इस नाम से एक व्यक्ति को उल्लिखित किया गया है-जिसके आधार पर डा० कीथ एवं उमेश मिश्र आलेखन का काल भारद्वाज से पूर्व निर्धारित करते हैं। इससे अधिक इस संबन्ध में विदित नहीं है। उपर्युक्त समय को भी श्री मिश्र ने तब प्रामाणिक बताया है, जब कि भारद्वाज से वही व्यक्ति अभिप्रेत हो-जिसे कौटिल्य के अर्थशास्त्र और महाभारत के शांति पर्व में राजशास्त्र के अध्यापक के रूप में स्थान दिया गया है।

प्रामाणिक रूप से इस ओर जैमिनि को इन महापुरुषों से जो पथ प्रदर्शन प्राप्त हुआ, उसके अतिरिक्त याज्ञिकों की विभिन्न परंपराओं ने भी उसे अवश्य प्रभावित किया, इसमें कोई संशय नहीं है। अपनी पैतृक संपत्ति का जैमिनि ने जो सदुपयोग किया—वह हमारे सामने देदीप्यमान है।

संक्रमण कालीन आचार्यः—

कासकृत्स्न और आपिशालि

इन आठ महामनाओं के अतिरिक्त हमें प्राचीन आचार्यों की गणना में ५, ७ नाम और प्राप्त होते हैं, उनमें कासकृत्स्न और आपिशलि अत्यन्त प्राचीन प्रकट होते हैं। इन दोनों आचार्यों का काल

१—(६-५-१७)

निश्चय ही ईस्वी शताब्दी से पूर्व है। महर्षि जैमिनि ने इनका नाम अपने सूत्रों में नहीं लिया, इसीलिए यह संभावना की जा सकती है कि ये जैमिनि के अनन्तर हुए हों। फिर भी इनकी प्राचीनतरता में किसी भी मनीषी को संशय नहीं है। इनके सिद्धान्त हमें लिपिबद्ध नहीं मिलते, न इनका कोई ग्रंथ ही उपलब्ध होता है। यह अवश्य है कि व्याकरण के अन्तिम आचार्य महामुनि पाणिनि ने (६-१-६२) सूत्र में इन दोनों का स्मरण किया है, एवं उन्हीं के अनन्तर भावी व्याकरण महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने (४-१-३-४०) अपने व्याख्यान में इन्हें सादर उद्धृत किया है। इन दोनों ही आचार्यों ने इन दोनों का उद्धरण व्याकरण और मीमांसा के अधिकृत विद्वान् के रूप में किया है। इससे जहाँ इनकी महत्ता प्रमाणित होती है; वहाँ इनकी व मीमांसा शास्त्र की अत्यन्त प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस संबन्ध में कुछ भी विदित नहीं है।

उप[1]वर्ष और बोधायन

इन दोनों विद्वानों की भी गणना उसी कोटि में आती है-जिनका मीमांसक-परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान है, पर जिनके संबन्ध में ऐतिहासिक तथ्य निश्चय रूप में उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। यह तो निश्चित-प्राय है कि जैमिनि से लेकर शबर स्वामी तक मीमांसा शास्त्र पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा गया, फिर भी कुछ व्याख्याएँ अथवा वृत्तियाँ

१—शबर स्वामी "भगवान् उपवर्ष:" या ' इति वृत्तिकार:"

(अ) दर्शनोदय— „ (भवदास) कुप्पुस्वामीशास्त्री

(आ) जैमिनीय न्या वि. भूमिका महामहोपाध्याय शिवदत्त शर्मा १ पेज: — समुदितस्याप्यस्य मीमांसाशास्त्रस्योपरि वृत्तिर्व्याकरणाचार्यभगवत्पाणिनि-गुरु भगवद्वर्षसहोदरेण कथासरित्सागरीयकथापीठलंबके वर्णित नन्दराज्यसमयवर्तिना भगवतोपवर्षेण कृता।

अवश्य लिखी गई-जिनके संवन्ध में हमें प्रामाणिक वृत्त उपलब्ध होते हैं। उन्हीं के आधार पर हम उपवर्ष और बोधायन को उन वृत्तियों के लेखक के रूप में उपकल्पित करते हैं। निश्चय ही उपवर्ष वृत्तिकार थे, क्योंकि अपने प्रत्यक्ष सूत्र के व्याख्यान में आचार्य शबर बड़े आदर के साथ उपवर्ष का नाम लेते हैं, और वहीं वृत्ति ग्रंथ का भी उल्लेख करते हैं। इससे इन दोनों का पारस्परिक संवन्ध कल्पनीय है। कौशिक [२] सूत्रकार पद्धति आथर्वणिक केशव भी उपवर्ष का स्मरण करता है, और उसका समय पाणिनि से पहले संकेतित करता है।

बोधायन भी इसी प्रकार वृत्तिकार थे, किन्तु समालोचक परंपरा इस संवन्ध में अनेक मत रखती है। बहुत से विद्वान उपवर्ष और बोधायन को पृथक् २ न मान कर एक ही व्यक्ति मानते हैं। इस प्रकार के विवेचकों में महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री का नाम गणनीय है। प्रपंच हृदय (३९, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज) के आधार पर महामहोपाध्याय डा. गंगानाथ झा. व उमेश मिश्र इनकी विभिन्नता में विश्वास करते हैं। इनके विचार के अनुसार बोधायन शायद वही व्यक्ति है— जिसकी वृत्ति के आधार पर आचार्य रामानुज ने "श्रीभाष्य" की रचना की। इस मत भेद को दूर करने के लिए कोई प्रामाणिक अवलंब उपलब्ध नहीं होता, क्यों कि इन दोनों ही विचारकों के जीवन के संवन्ध में इतिहास अभी अंधकार में है। फिर भी डा. झा इनके काल को ईस्वी पूर्व निर्धारित करते हैं, और उनकी समकालीनता में विश्वास करते हैं।

भवदास

उपवर्ष और बोधायन की तरह ही भवदास को भी हम एक वृत्तिकार के रूप में पाते हैं, किन्तु इसकी विचारधारा के संवन्ध में हम

२—उपवर्षाच येंणोक्तम्। मीमांसायां स्मृतिपदं कल्पसूत्राधिकरणे ... इति भगवतो पवर्षाचार्येण प्रतिपादितम्— (कौशिक सूत्र पृ० ३०७)

अधिक प्रकाश में हैं। प्रपंच हृदय के आधार पर यह विदित होता है कि यह आचार्य शबर का पूर्वज था। इसके मंतव्य बड़े विकसित और स्वतंत्र थे, जिनके खंडन करने के लिए स्वयं कुमारिल भट्ट और उनके समस्त शिष्यों को कटिबद्ध होना पड़ा। श्लोकवार्तिक (भट्ट) के:—

वृत्त्यन्तरेषु केषांचित् लौकिकार्थव्यतिक्रमः (श्लोक नं० ३३) इस पद्य की व्याख्या करते हुए आचार्य मिश्र "केषांचित् वृत्त्यन्तरेषु" से भवदास आदियों का ग्रहण कराते हैं। स्वयं कुमारिल भट्ट भी:—

"प्रदर्शनार्थमित्येके, केचिन्नानार्थवाचिनः।
समुदायादवच्छिन्नं, भवदासेन कल्पितात्॥ (२०—२२ पेज)

इस प्रथम सूत्र के व्याख्यान प्रकरण में ही भवदास का स्मरण करता है। भवदास "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस पहले सूत्र में "अथातो" इन दोनों शब्दों में आनन्तर्य बोधनकी शक्ति मानता है, केवल अथ और अतः में नहीं। यहाँ तो वह लौकिक परंपराओं तक के निराकरण का साहस करता हुआ प्रकट होता है—जिसके लिए स्वयं भाष्यकार को इस प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए यह बताना होता है कि सूत्रों के वे ही अर्थ हैं, जो लोक में प्रसिद्ध हैं। लौकिक अर्थ की पुष्टि करके वह भवदास की दुस्साहस की ओर संकेत कर उसकी अमान्यता स्पष्ट करते हैं। इससे हम भवदास के सिद्धांतों की स्वतन्त्रता और स्पष्टता का परिचय पा सकते हैं। इसी प्रकार "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं, विद्यमानोपलंभनत्वात्" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भवदास ने इसे दो भागों में विभाजित कर "तत्प्रत्यक्षम्" तक के अंश को प्रत्यक्ष की परिभाषा-बोधक और अग्रिम अंश को उसकी धर्म के प्रति अनिमित्तताधायक माना है। कुमारिल के व्याख्यान से हमें इस ओर संकेत प्राप्त होते हैं। इन सब से भवदास के पांडित्य और विचार-स्वातंत्र्य का तो हम पता पा लेते हैं, किन्तु उनके काल और जीवन के संबन्ध में किसी निश्चित तथ्य पर नहीं

पहुँचते । चाहे कुछ हो, निश्चय ही यह शबर का पूर्वकालीन एक श्रेष्ठ मीमांसा-शास्त्री था, इसमें तो किसी को संशय नहीं है। इसकी वृत्ति के अप्राप्य रहते हुए भी इसके सिद्धान्त उसके अस्तित्व के पोषक हैं ।

६—स्वर्णयुग

यहाँ तक के इस लंबे समय को हम मीमांसा का आदियुग कह सकते हैं। इस युग ने मीमांसा का प्रारंभिक रूप उपस्थित किया, और आगे होने वाले विचारकों के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार की—इसमें किसी भी मनीषी को संशय नहीं है। फिर भी हमें इस काल के विचारकों का न कोई लिपिबद्ध इतिवृत्त मिलता है, न उनके विचारों का संकलन ही। अतएव विचारक और विचार दोनों ही दृष्टि से हम इस आदियुग को अस्पष्ट पाते हैं, जैसा कि स्वभावतः हुआ करता है। जहाँ इस युग में हम मीमांसा के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध पाते हैं, वहाँ हम उन पर वृत्ति अथवा व्याख्यानों की भी संभावना करते हैं। मीमांसा के जितने सिद्धान्त अनेक युग-परंपराओं से अस्तव्यस्त हो रहे थे, इसी युग में महर्षि जैमिनि ने उन्हें एकरूपता प्रदान की, और पूर्वतम परंपराओं का इतनी विद्वत्ता, प्रौढ़ता एवं कुशलता के साथ प्रतिनिधित्व किया कि लोग जैमिनि ही को मीमांसा का आदि प्रवर्त्तक मानने लगे। जिस प्रकार स्वराज्य के आन्दोलन के वास्तविक प्रवर्त्तक पूज्य महात्मा गांधी नहीं थे, क्योंकि उनसे पूर्व तिलक जैसे महान् मन्त्रदाता हो चुके थे। फिर भी इस दिशा में पूज्य गांधीजी को जितनी परंपरायें प्राप्त हुईं, उन सब का उनने इतनी नीतिपूर्ण पद्धति से प्रातिनिध्य किया कि लोगों ने उनके पूर्वतर प्रवर्त्तकों को भुला सा दिया, फिर भी इतिहास की परंपरा में उनका आदरणीय स्थान सुरक्षित है। ठीक यही स्थिति मीमांसा के उतर आचार्यों और महर्षि जैमिनि के संबन्ध में युक्त है।

इस एक अध्याय के बाद—जिसमें सूत्र और वृत्तियां लिखी गईं, व जिसे आदि-युग के साथ वृत्तियों का युग भी कहा जा सकता है, जहाँ से दूसरे अध्याय का प्रारंभ होता है, वस्तुतः वहीं से "मीमांसा-शास्त्र को शास्त्रीयता प्राप्त होती है, इसीलिए हम इस युग को—जिसका विवेचन

प्रस्तुत किया जा रहा है, मीमांसा शास्त्र के इतिहास में स्वर्णयुग कह सकते हैं। स्वनामधन्य महान् शवर स्वामी ही को इस युग का प्रवर्त्तक माना जाता है।

सामान्य परिचय

जिस समय हमारे इस पुण्य भूभाग में आचार्य शवर का पदार्पण होता है, इतिहास से हम उसका अनुमान बड़े प्रयत्नों के बाद भी नहीं कर सके हैं, तो फिर हमें उस काल की परिस्थितियों का तो लेखा ही किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। फिर भी आचार्य की रचना एवं उसमें निहित तथ्यों के आधार पर हम उस काल की स्थिति का कुछ स्थूल परिचय पा सकते हैं। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है, इसीलिए हमें उन परिस्थितियों पर विचार करना होगा–जिनने शवर के आविर्भाव को प्रेरणा दी।

शवर से पूर्व मीमांसा–शास्त्र की स्थिति अनिश्चित अवस्था में था, उसका आविर्भाव हो चुका था, उसके सिद्धान्त भी स्थिर हो चुके थे, फिर भी शास्त्रीयता और उपयोगिता की दृष्टि से उसे कोई उच्चतम प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। उस काल तक मीमांसा का उद्देश्य अन्य संप्रदाय विशेषों के सिद्धान्तों के खंडन की ओर उन्मुख नहीं था, केवल याज्ञिक परंपराओं के समीकरण में ही उस की शक्ति और आवश्यकताएें निहित थीं। न इस प्रकार की कोई आवश्यकताएं ही उदित हुई थीं। किन्तु शवर के उदय होने तक इस प्रकार के संप्रदाय भी प्रचलित हो चले थे, जो वेद पर आक्षेप करने लगे थे, या एक मात्र वेद को आक्रान्त करना ही जिनने अपना लक्ष्य बना लिया था। जिसके लिए शवर को कटिबद्ध होना पड़ा, और हम इसीलिए सबसे पहले उन्हीं में इस भावना को पाते हैं। आत्मतत्त्व का विवेचन करते समय उनमें हम जिस विज्ञानवाद का खंडन देखते हैं, वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहीं आकर "मीमांसा-शास्त्र" जो पूर्व काल तक केवल याज्ञिक विचार धारा की एक

कसौटी मात्र था, वेद की रक्षा का व्रत ग्रहण करता है-जिसके निर्वाह के लिए उसे दर्शन की संपूर्ण विशेषताओं का भंडार बनना होता है। यह युग उन्हीं विशेष आवश्यकताओं की पूर्त्ति का संकलित स्वरूप है, और आचार्य शवर इन समस्याओं के मूर्तिमान् हल है।

जीवन-परिचय

शवर स्वामी के जीवन के संबन्ध में इतिहास आज तक भी निश्चित तथ्यों पर नहीं पहुँच सका है। उनके विचारों के संबन्ध में हम जितने अधिक प्रकाश में हैं, जीवन के संबन्ध में उतने ही अधिक अंधकार में। हमारे प्राचीन आचार्यों की यह एक सामान्य विशेषता रही है कि वे अपनी रचनाओं को अपने जीवन-परिचय से सर्वथा वंचित या दूर रखने का यत्न करते थे। इसी आधार पर शवर के भाष्य से भी उनका जीवन अनिर्णेय अपिच अविज्ञेय है। फिर भी हमारे इतिहासविद् विचारशास्त्रियों ने इस महान् पुरुष के जीवन के संबन्ध में गवेषणा करने में कुछ कमी नहीं उठा रखी है। हमें उन्हीं के द्वारा प्रस्तावित मन्तव्य यहाँ उपस्थित कर विचार करना है।

कतिपय विद्वानों का मानना है कि शवर स्वामी का पहले "आदित्य देव" नाम था, और ये बड़े भारी राजा थे-जिनने चारों वर्णों की चार पत्नियों से विवाह किया-जिनसे उन्हें ६ पुत्र हुए—१- प्रथम ब्राह्मण पत्नी से वराहमिहिर नामक एक पुत्र हुआ-जिसने अधिकृत ज्योतिषी के रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त की। २- द्वितीय क्षत्रिय पत्नी से भर्तृहरि और विक्रम ने जन्म लिया, जो महान-शासकों के रूपमें विख्यात हैं। ३-तृतीय वैश्यपत्नी से हरचंद वैद्य और कुशल शंकु ये दो संततियां हुईं। एवं चतुर्थ शूद्र पत्नी से अमर नामक अपत्य उत्पन्न हुआ। इनमें अमर के सिवा सभी व्यक्ति प्रायः ऐतिहासिक हैं। तीन तो ऐसे हैं-जिनके कालको इतिहास से निकाल देने पर कई अंशों में वह अपूर्ण रह

जाता है। इस कथन के समर्थन के रूप में परंपरा से हमें यह श्लोक प्राप्त होता है।

> ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणीः।
> राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत॥
> वैश्यायां हरचंदवैद्यतिलको जातश्च शंकुः कृती।
> शूद्रायाममरः षडेव शवरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥५॥

इसमें तो शवरको द्विज कहा गया है, पर यह एक ऐसा सांघातिक शब्द है जिससे हमें जातिके संवन्ध में कोई निर्णय नहीं होता। केवल सामूहिक रूपसे इतना विदित होजाता है कि वे चतुर्थ वर्ण में नहीं थे जैसा कि धर्म्म शास्त्र से संमत है– एक ब्राह्मण क्रमशः चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह कर सकता था, क्षत्रिय तीनों वर्णों की से, वैश्य दोनों वर्णों की से व शूद्र अवशिष्ट वर्ण ही से। ब्राह्मण के लिये चार स्त्रियों से चार विवाह करना क्रमशः अन्याय नहीं है। संस्कार की एक आधार– भूमि होते हुए भी द्विज शब्द जितना अधिक ब्राह्मणों के लिये रूढ है, और वह जिस वेग से ब्राह्मणत्व का बोध करा सकता है, अन्य दो (क्षत्रिय और वैश्य) वर्णों का नहीं। चार विवाह व द्विज शब्द इन दोनों ही निमित्तों से हम आचार्य शवरको ब्राह्मण मान सकते है। इस विवेचन से जहां उनका ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है, वहाँ उनके विभव का भी सहज ही परिचय मिल जाता है, क्योंकि परंपरा और व्यवहार हमें बताता है कि विभव की प्रचुरता होने पर ही अधिक विवाह किये जाते हैं। पर ये सव विचार हम जिन आधारों पर स्थिर करते हैं, हम अभी तक उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं कर पाये हैं, व न उनके लिए कोई भित्ति ही खड़ी कर सके हैं। इनकी संदिग्धता के कारणों पर स्वतः आगे प्रकाश डाला जा सकेगा।

इस पद्य में इन सब महान् आत्माओं के लौकिक उत्पादक के रूप में शवर स्वामी का अभिधान किया गया है। यही शवरस्वामी पहले

आदित्यदेव के नाम से विख्यात थे, यह बताया जा चुका है। किन्तु जैनी और बौद्ध संप्रदायों के आक्रमण से अभिभूत हो कर इन्हें अपनी जीवनचर्या बदलनी पड़ी और ये उनके भय से भील के वेष में रह कर आत्मरक्षा करने लगे। तभी से इनके अनुयायी इन्हें "शबर स्वामी" की अभिख्या से आद्रत करते आ रहे हैं। यह एक सब से पहली किंवदन्ती है–जो शबर 'आदित्य देव' एवं भर्तृहरि विक्रम के जनक की एकता में संदेह पैदा करती है। भला भर्तृहरि और विक्रम जैसे शक्तिशाली शासकों के जनक का कतिपय व्यक्तियों के आक्रमण के भय से मारा २ भील के रूप में फिरना किस प्रकार लोकसंगत एवं हृदयंगम हो सकता है। हो सकता है–इनके नामकी उपपत्ति के लिए उनके अनन्तर होने वाले, उन संप्रदायों ने (जो उनके तर्क और विद्वत्ता के शिकार हुए थे, व जिनमें बौद्धों की प्रमुखता है) इनकी अप्रतिष्ठा व अपने अभ्युदय के प्रचार के लिए इस नाम के साथ इस कथा को संबद्ध कर दिया हो, और उनके इस नाम से यह लाभ उठाया हो।

काल

ऐतिहासिक विद्वान् इस संबन्ध में कोई निर्णय नहीं दे गये हैं। जब हम काल निर्णय करने के लिए चलते हैं, तो उपर्युक्त पद्य और भी अधिक आश्चर्यमय प्रतीत होता है। वराहमिहिर के साथ जो संबन्ध ऊपर बताया गया है–वह यदि सच्चा मान लिया जाता है तो शबर का काल ईसाके चतुर्थ शतक के लग-भग ठहरता है। किन्तु वराहमिहिर के साथ लगा हुआ "विक्रमनृप" इस संबन्ध में संशय पैदा करता है। यदि यह वही ऐतिहासिक विक्रमादित्य है–जिसकी स्मृति में संवत्सर प्रचलित हैं, तो वराहमिहिर का समकालीन नहीं हो सकता। विक्रमादित्य का काल तो ईसा से पूर्व ५७ में माना जाता है। कुछ लोग ऐसा भी सिद्ध करते हैं कि शबर स्वामी विकमादित्य के प्रधान पंडितों में थे, और वे विक्रमादित्य के गुरु थे। अतएव जिस विक्रम राजा का कीर्त्तन शबर के अपत्य के रूप में किया गया है, वह निश्चय ही विक्रमादित्य नहीं है

और इसी लिए इन कतिपय कारणों से उपर्युक्त प्रतिपादन की अप्रमाणिकता संदिग्ध ही नहीं, निश्चित हो जाती है। इस प्रकार शबर का काल हम सामान्य रूप से यह तो अनुमान लगा सकते हैं कि वह अवश्य ही ईसा की चतुर्थ शताब्दी से पहले विद्यमान थे। अपने भाष्य में उनने ८-१-२ पर महाभारत के आदिपर्व से १-४६ को उद्धृत किया है-इससे भी उनकी पूर्वता ही प्रमाणित होती है।

इन आधारों पर हम शबर के काल निर्धारण में उतनी सुगमता और प्रामाणिकता नहीं मानते-जितनी कि उसकी रचना के अवलंब में पाते हैं। शबरभाष्य के दशम अध्याय अष्टम पाद चतुर्थ सूत्र में समास के संबन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत करते हुए आचार्य शबर कहते हैं—

"इति भगवान् कात्यायनो मन्यते स्म"
"नेति भगवान् पाणिनिः"

इन दो शब्द-शास्त्रियों का उनने प्रत्यक्ष उद्धरण किया है, पतंजलि का नहीं। क्योंकि पतंजलि कात्यायनके अनन्तर हुए हैं। इससे हम शबर का काल सहज ही कात्यायनके अनन्तर और पतंजलि के पूर्व निश्चित कर सकते हैं। इन दोनों में विवेचना करते करते आगे चलकर आचार्य शबर लिखते हैं :—

सद्वादित्वात् पाणिनेः वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वात् कात्यायनस्य, असद्वादी हि विद्यमानमपि अनुपलभ्य ब्रूयात् (१०८-४)

उनके इस लेख से भगवान् पाणिनि में उनकी श्रद्धा की अतिशयता स्पष्ट होती है, व यह भी प्रमाणित होता है कि उनके पूर्व कात्त्यायन के सिद्धान्त प्रकाश में आ चुके थे, इसीलिये तो वे दृढ़ता के साथ उसे असद्वादी कहते हैं। भाण्डारकर महोदय ने कात्त्यायन का समय ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी व पंतजलि का समय ईसा से पूर्व दूसरी

शताब्दी निश्चित किया है। इन दोनों के मध्य अर्थात् ईसावें से तीसरी शताब्दी को हम शबर स्वामी का काल निश्चित कर सकते हैं। अपने दर्शनोदय में पूज्यपाद पट्टाभिराम शास्त्री ने भी इसी निर्णय को अंगीकार किया है। इससे अधिक इस संम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

देश

शबर स्वामी के काल के विषय में हम अनिश्चित अवश्य हैं, किन्तु मौलिक अन्तर नहीं रखते हैं। पर देश के सम्बन्ध में बड़े २ विद्वानों में सदा से मतभेद रहा है। उन्हीं के भाष्य में उपलब्ध कुछ तथ्यों के आधार पर माननीय डा. झा उन्हें उत्तरदेशीय और काश्मीर या तक्षशिला का निवासी सिद्ध करते हैं। उन्हीं के अनुयायी माननीय मिश्र भाष्य के कुछ ऐसे उदाहरण उद्धृत करते हैं–जिन से शबर को मिथिलाका निवासी सिद्ध किया जासकता है, व उन्हीं उदाहरणों की संगति उन्हें दाक्षिणात्य भी बताती है। इस प्रकार हम किसी निश्चित तथ्य पर पहुँचने में स्वयं को सर्वथा असमर्थ पाते हैं। इनके कुछ आधार तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

श्रद्धेय डा. झा जिस आधार पर शबरको उत्तर भारत का रहने वाला बताते हैं, वे आधार वहीं हैं–जिनके संबल पर हम उन्हें विहार का निवासी सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु उत्तर भारत में भी जिन तथ्यों पर वे काश्मीर और तक्षशिला का देश विदेश के रूप में संबन्ध स्थिर करते हैं — उनमें ये प्रमुख हैं :—

(७–१–७) प्रकरण में आचार्य शबर 'वाससि राडाः श्रूयन्ते,वासो रंजयतीति वाससि च क्रियते'इस वाक्यपर विचार प्रस्तुत करते हुए संशय उपस्थित करते हैं —"असौ स्त्र्यर्थः पुरुषार्थो वा"। इस संदेह से हमें पता लगता कि शबर ऐसे प्रदेश का निवासी था, जहां पर स्त्रियों और पुरुषों दोनों के लिये रंगीन कपड़े धारण करना उपाहासापद नहीं था, या रिवाज में संमिलित

था। दोनों ही के रंगीन कपड़े पहनने का रिवाज काश्मीर या उत्तर पश्चिम देश में प्रचलित है। इसीलिये हम उसे वहां का निवासी मान सकते हैं।

महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र जिन तर्कों के आधार पर उन्हें उत्तरदेशीय सिद्ध करते हैं, वे निम्न हैं, जो उत्तर भारत में भी विशेष रूप से मिथिला पर ही लागू होते हैं:—

१—शबर को हम पंजाब का रहने वाला नहीं मान सकते, क्योंकि वह (७-१-८) प्रकरण में लिखता है—"वाहीकोऽतिथिरागतः, यवान्नमस्मै प्रक्रियताम्"। पंजाब में किसी अतिथि के आने पर जो खिलाने की पद्धति है, अत एव यदि वह पंजाब का रहने वाला होता, तो उसे किसी नूतनता के अभाव में इसकी सूचना देने का प्रयास न करना होता। उसका यह प्रयास ही हमें बताता है कि वह पंजाब का रहने वाला नहीं था, इसीलिए इस नवीन रीति का उद्धरण उसके लिए आवश्यक हो गया।

२—शतपथ ब्राह्मण का एक वाक्य है-"तस्माद्वराहं गावोऽनुधावन्ति" (४-४-३-६) (वराह के पीछे गायें दौड़ती हैं) इस पर विचार करते हुए (१-३-६-४८ पेज) आचार्य शबर इसे एक रिवाज के रूप में उद्धृत करते हैं। इस परंपरा को रिवाज के रूप में हम आज भी दीपावलि के पहले दिन होने वाली धार्मिक क्रिया में देखते हैं—जिससे शबर का मिथिला से संबन्ध अवगत होता है।

३—"पयसा (२-३-१) षाष्टिकं भुंजीत, यदि शालीं भुंजीत, तत्र दधि उपसिंचेत्" (षाष्टिक नामक धान को दूध के साथ खाना चाहिये, और शाली खाये तो उसे दही मिलाकर खाये) यह पद्धति यों के यों इस समय भी मिथिला में प्रचलित हैं।

४—३-१-२ में "गर्भदासः कर्मार्थे एव स्वामिनो अनड्वांश्च क्रियते" इस वाक्य के द्वारा शबर बताता है कि जन्मजात दास को स्वामी के

काम के लिए ही खरीदा जाता है। इससे वह उस दास या गुलाम प्रथा की चर्चा करता है, जो अनेक परंपराओं तक व आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है, दक्षिण में नहीं।

५—३-१-१३ में श्रीयुत स्वामी "दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि" (दुपट्टे की झालर से ग्रह को धोना चाहिए) इसे उद्धृत करते हैं, इस प्रकार की प्रथा अभी भी उत्तर भारत में प्रचलित है।

६—(५-३-२६) एवं (७-१-१२) में शबर उद्धृत करता है—"अग्निचिता पक्षिणो न अशितव्याः (जो अग्निचयन करता है, उसे पक्षी नहीं खाने चाहियें) शालिसूपमांसापूपैर्देवदत्तो भोजयितव्यः" (चावल, दाल, मांस और पूओं से देवदत्त को भोजन कराना चाहिये) इन दोनों वाक्यों में प्रथम में पक्षियों के अशन का निषेध किया गया है, जो पूर्व प्राप्ति का सूचक है। द्वितीय में भोज्य पदार्थों की परिगणना कराई जाती है, एवं उसकी विधि का आगे चलकर यज्ञदत्त में भी अतिदेश किया जाता है। द्वितीय विधान एक शिष्ट के स्वागतार्थ है। इन दोनों पर विचार कर आचार्य मिश्र लिखते हैं कि शबर ऐसे प्रदेश में रहता था, जहाँ उपरिलिखित वस्तुऐं नियमित रूप से भोजन में आती थीं। उत्तर भारत विशेष कर विहार में उच्च परिवारों में अभी भी यह खान पान प्रचलित है।

७—इतना ही नहीं, मांसाहार के साथ साथ शबर मछली खाने की परंपरा का भी अभिज्ञ प्रतीत होता है। १०-७-६६ में वह कहता है—"ये ही एकस्मिन् कार्ये विकल्पेन साधकाः श्रयन्ते, ते परस्परेण विरोधिनो भवन्ति। विरोधिनां च न सह प्रवृत्तिः, लोकवत्—यथा मत्स्यान्न पयसा समश्नीयादिति। यद्यपि सगुणा मत्स्या भवन्ति, तथापि पयसा सह न समश्यन्ते"। (जो एक ही कार्य में विकल्प से साधक सुने जाते हैं, वे परस्पर में विरोधी हो जाते हैं। विरोधी वस्तुओं की एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती, लोक की तरह। जिस प्रकार यद्यपि मछली सगुण होती है,

तथापि उसे दूध के साथ नहीं खाया जाता") शबर के इस वाक्य की विवेचना करने पर वह हमें मछली खाने वाले प्रदेश से परिचित मात्र ही प्रतीत नहीं होता, अपितु उसका एक विशेषज्ञ भी मालुम होता है। एक ऐसे स्थान पर जहाँ किसी अन्य साधारण उदाहरण से भी काम चल सकता था, और साधारण उदाहरण सफलता के साथ सुगम हो सकते थे, मछलियों के उदाहरण देने से हमें विश्वास होता है कि वह इस पद्धति से घनिष्ठ संबन्ध रखता था। अभी भी मिथिला में प्रचुरता के साथ इस पद्धति का प्रचार है।

८—७-२-२० प्रकरण में आचार्य महोदय स्वयं को एक पाकक्रिया-विशेषज्ञ के रूप में प्रस्तुत करते हैं, और बताते हैं कि पाक नाम की वस्तु क्रिया की एक-वाचिता रहते हुए भी व्यवहार में अनेकरूपता रखती है। चावल बनाने का अलग तरीका है, तो सीरा पकाने का दूसरा। यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो चावल बनाना जानता है, वह बिना सीखे ही सीरा भी बना सके। "स्याद वैरूप्यम् यथा पाके। यथा एक एवायमर्थः पाको नाम। तस्यार्थान्तरे वैरूप्यं भवति। अन्यथा लक्षण ओदनस्य पाकः, अन्यथा लक्षणो गुडस्य। येन ओदनपाको गृहीतो न असौ आशिक्षित्वा गुडं पक्तुं जानाति"। डा० मिश्र कहते हैं कि वह इन दोनों क्रियाओं के भेद को स्पष्ट जानता था, और इस प्रकार के देश में रहता था, जहाँ ये दोनों क्रियायें प्रचलित थीं। उत्तर भारत के बिहार प्रान्त में इन दोनों ही का पर्याप्त प्रचार है। इसी प्रकार वह (६-४-५२) में कहता है—"ओदने दधिदत्त्वाभ्यवहर्तव्यम्" अर्थात् चावल में दही डाल कर खाना चाहिए, व आगे चल कर (१०-६-२२ में लिखता है—"दधिघृतशालिभिर्देवदत्तो भोजयितव्यः" देवदत्त को दही मट्ठा खिलाया जाना चाहिए। ये दोनों ही प्रथायें अब भी चावल प्रधान देश मिथिला में प्रचलित हैं।

६—केवल मट्ठा ही नहीं, तैल के भोजन को भी शबर स्वामी उपादेय बताते हैं, और उसे क्षणिक होते हुए भी शक्ति, स्मृति, बुद्धि,

एवं आयुवर्द्धक कहते हैं। "यथा तैलपानं घृतपानं वा भंगित्वेऽपि सति कालान्तरे मेधास्मृतिबलपुष्ट्यादीनि फलानि करोति, ७-१-५। इस एक ही स्थान पर नहीं, अपितु (१-२[१]-६५), १०[२]-६-५, १०[३]-६,२२ १०[४]-३-१६ इन प्रमुख प्रमुख स्थलों पर शबर तैल के महत्त्व का उपवर्णन करता है, और उसे उपादेयतम सिद्ध करता है। यह भी उस समय जब की घृत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। तैल की प्रशंसा यह प्रमाणित करती है कि वह किसी इस प्रकार के प्रदेश में रहता था, जहाँ तैल अधिक खान पान में लाया जाता था। विहार में आज भी तैल का प्रयोग अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक होता है।

१०—६[५]-१-५ में तृतीयकाश्चतुर्थकाश्च" इस वाक्य से वह निक्रमित रोग की चर्चा करता है, जो तीसरे चौथे दिन होता है। शायद यह मलेरिया बुखार ही हो सकता है, जो विहार में अधिक होता है।

११—६[६]-४-४१ वें प्रकरण में आचार्य शबर उस पद्धति का उल्लेख करता है-जिसके अनुसार मोटे चावल को दही, और बारीक चावल को दूध के साथ उबाल कर खाना चाहिए।

१—१०-२-६५ यद्यपि न श्रूयते तैलेन स्नेहयितव्यमिति, तथापि समानकार्यत्वम् तैलं घृतस्य विनिवर्त्तकं भवते।

२—१० ६-५ यथा मास घृततैलाभ्यां देवदत्तो भोजयितव्य इत्युक्तेऽर्द्धमासं घृतेनार्द्धमासं तैलेन।

३—१०-६-२२ 'देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्तैलेनेत्युक्ते स्नेहनसामान्याद् तैलं स्नेह न कार्ये एव विनियुज्यते न ओदनकार्ये।

४—(१०-३-१६ सामान्यं हि अस्य स्नेहनसामर्थ्यं घृतेनेति।

५—(६-१-५ विभाषां हि स्म भगवान् पाणिनिरधीते)

६—६-४-४१ ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरम्, येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुमिति।

आचार्य मिश्र के अनुसार ये दोनों ही प्रणालियां प्रथमतर काल में मिथिला में प्रचलित थीं।

माननीय मिश्र का यह अनुसन्धान शबर स्वामी की उत्तरदेशीयता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इन्हीं में कुछ आधार ऐसे भी हैं, जो इनकी दाक्षिणात्य-प्रतिपत्ति में सहायक होते हैं। २ "वराहं गावोऽनुधावन्ति" आदि के द्वारा जिन धार्मिक क्रियाओं का संकेत है, वे किसी न किसी रूप में दक्षिण में भी प्रचलित हैं। उद्वषभयज्ञ आदि अन्य भी इसी प्रकार की क्रियायें वहाँ प्रचार में आ रही हैं। ३-६० दिन में पैदा होने वाले जिस धान को दूध, और शाली को दही से खाने की चर्चा की गई है, दक्षिण में प्रचुर मात्रा में इस प्रथा का प्रचार अभी तक भी है। ४-जन्मजात दास के संवन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह भी किसी न किसी मात्रा में दक्षिण भारत में प्राप्य है। यह अवश्य है कि उसका उत्तर भारत की तरह वहाँ पर अधिक विकास नहीं हो पाया, फिर भी उच्चतम जागीरदारों के व जमींदारों के यहाँ इसका स्वरूप किसी न किसी दिशा में सुरक्षित है। ५-दुपट्टे की जिस झालर से संमार्जन करने का वर्णन किया गया है, दक्षिण भी इस रीति से शून्य नहीं है। इसी प्रकार तैल भोजन के आधिक्य को भी हम मिथिला और मद्रास प्रांत में समान रूप से देखते हैं। दही, मट्ठा, और चावल के प्रयोग के संबन्ध में जिन जिन अनेक विधाओं का वर्णन किया गया है, वे दोनों ही प्रदेशों में उसी रूप में आदृत हैं। मलेरिया भी चावल पैदा होने वाले प्रदेशों में सर्वशः प्रतिष्ठित रहता आया है। ये सब तथ्य तो जिस प्रकार मिथिला पर लगते हैं, उस प्रकार दक्षिण पर भी। शवर स्वामी आदि नाम भी अपने 'स्वामी' आदि विशेषणों के साथ दक्षिण भारत में अधिक प्रयुक्त होते हैं, इसलिए अनेक विद्वान् शबर स्वामी को दाक्षिणात्य सिद्ध करने का सयुक्तिक साहस करते हैं।

फिर भी उपर्युक्त उद्धरणों में मत्स्य भोजन आदि अनेक ऐसी प्रथाएें भी हैं-जिनका मिथिला की ओर अधिक प्रचार है। और अन्य

तर्क भी शबर की उत्तरदेशीयता साधने में सबल हैं। ऐसी अवस्था में यदि शबर को उत्तर भारत का निवासी माना जाता है, तो काश्मीर या तक्षशिला की अपेक्षा मिथिला के किसी अंश को उसका निवास स्थान मानना युक्तिसंगत होगा। सदा से ही मिथिला और दक्षिण भारत में मीमांसा-दर्शन के भंडार रहे हैं। अतएव उनमें शबर स्वामी जैसे महान् दार्शनिक का जन्म स्वाभाविक है। परन्तु एक ऐसा भी आधार है, जो उनकी दाक्षिणात्यता सिद्ध करने की प्रेरणा देता है। यदि सचमुच शबर ने बौद्धों के भय से भील रूप धारण किया, तो बौद्धों का प्रचार जितना दक्षिण भारत में पहले हुआ, उतना उत्तर भारत में नहीं। शबर के भाष्य में वर्णित विज्ञानवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों के खंडन को देख कर हम यह सहज ही में अनुमान लगा सकते हैं कि वह किसी बौद्ध-प्रचुर प्रान्त का निवासी था। आचार्य शंकर को भी उसी प्रदेश ने जन्म दिया। अस्तु, यह एक ऐसी संशयास्पद समस्या है-जिसके संबन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचना असंभव सा हो रहा है। फिर भी मिथिला और मद्रास इन दोनों में से ही शबर किसी एक स्थान के रहने वाले थे, और ये दोनों ही उनके विशेषतः कार्य क्षेत्र रहे। इन दोनों क्षेत्रों पर उनका पूर्ण प्रभाव था। इस प्रकार हम शबर स्वामी के जीवन, काल और देश सभी ओर से अनिश्चित अवस्था में है। संभवतः [१]उनका जन्म मद्रास प्रांत में हुआ-और बिहार उनका विचार-क्षेत्र बना रहा।

रचना

शाबर भाष्य ही शबर स्वामी की एक मात्र रचना है-जो उनकी ख्याति. और उन्हें सरस्वती का वरद पुत्र सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। मीमांसा के क्षेत्र में तो जैमिनि सूत्रों के अनन्तर सबसे प्रथम रचना यही है, जो भाष्य है। इसी से इसकी प्राचीनता सुस्पष्ट है। क्या भाषा, क्या विचार, क्या शैली इन सभी दृष्टिकोणों से शबर स्वामी की यह रचना इतनी व्यवस्थित और मौलिक है कि जिसे देखते हुए उसको इतनी प्राचीनतरता में भी संशय होने लगता है। किन्तु वह अनेक दृढ

१-विशेषतो द्रष्टव्य-कुप्पु स्वामी शास्त्री के लेख।

प्रमाणों से प्रतिपादित की जा चुकी है, इसी लिए उस प्रारंभिक काल में भी रचना की यह व्यवस्थिति, उच्चता व सर्वगुण-संपन्नता शबर की महत्ता के चार चाँद लगा देती है। संस्कृत साहित्य के जिन विभिन्न विषयों पर भाष्य लिखे गये, उन सबके लिए यही एक रचना आधार भूमि, पथप्रदर्शिका, अपिच उद्गमस्थली है। आचार्य शंकर ने तो इनकी शैली का अनुकरण ही नहीं किया, अपितु उसी रूप में उद्धरण किया है। किस प्रकार शबर कहते हैं:—

धर्मः प्रसिद्धः, अप्रसिद्धोवा, प्रसिद्धश्चेन्न जिज्ञासितव्यः, अप्रसिद्धश्चेन्नतराम्। (शाबर भाष्य—१-१-१)

उसी प्रकार शंकर भी कहते हैं:—

ब्रह्म प्रसिद्धम्, अप्रसिद्धम्, वा प्रसिद्धंचेन्न जिज्ञासितव्यम्, अप्रसिद्धञ्चेन्नतराम्। (शांकर भाष्य—१-१-१)

यह अनुकरण अनेक स्थानों पर इतनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है कि इसे अनुकरण न कह कर उद्धरण कहना अधिक संगत प्रतीत होता है। व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि भी शबर स्वामी के अनन्तरकालीन हैं, यह सिद्ध किया जा चुका है। इसी लिए हम पतंजलि और उनकी शैली पर भी शबर स्वामी का प्रभाव स्पष्ट देखते हैं। सरल से सरलतम भाषा में गंभीर से गंभीर विषय को छोटे छोटे वाक्यों में विभाजित कर विस्तार से निरूपण करने का जो प्रकार हम व्याकरण महाभाष्य में देखते हैं, वह आचार्य शबर ही की देन का विकसित स्वरूप है। अवशिष्ट भाष्यों के संवन्ध में तो कहना ही क्या है, क्योंकि वे अत्यन्त अर्वाचीन है।

शबर स्वामी की यह विस्तृत कृति हमें द्वादश अध्यायों के संकलन रूप में प्राप्त होती है, जिसमें सैकड़ों पाद, एवं हजारों अधिकरण हैं॥ मुख्य रूप से इसके दो भाग हैं, सूत्र और व्याख्या। पहले जो भी कुछ कहना होता है, उसके अवलंब की सूचना संक्षेप से दे दी जाती है—

जिसे ही हम सूत्र कहते हैं। फिर उसी संक्षिप्त मन्तव्य की विस्तार से आलोचना प्रत्यालोचना के साथ उदाहरणोपन्यासपूर्वक विवेचना की जाती है। इससे हम विवेच्य वस्तु को विस्खलित रूप में पाते हैं। अपनी इस शैली के द्वारा शबर ने जहां भाष्य को सर्वांगपूर्ण बनाया है, वहाँ जैमिनि सूत्रों की महत्ता की भी स्थापना की है। इसीलिए उनका भाष्य समान रूप से सर्वत्र समादृत हैं। शबर से पूर्व जैमिनि और उनका शास्त्र नियत रूपरेखा पर नहीं था; शबर ही सबसे पहले व्यक्ति थे— जिनने उसे अधिकरणों के रूप में विभाजित कर व्यवस्था प्रदान की। इससे यही एक प्रकार से मीमांसा की आने वाली प्रणालियों की उद्गमस्थली हुई, और जैमिनि सूत्र अध्ययन अध्यापन प्रणाली में गौण बन गये। जैमिनि के अनन्तर इसी ग्रंथ ने मीमांसा के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व किया, इससे मीमांसा में इसका स्थान स्पष्ट हो जाता है।

भाषा

भाषा के संबन्ध में शबर के विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं, उनने सरल से सरल भाषा का तो व्यवहार किया ही है, पर अपने भाष्य की पहली पंक्ति में ही अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट भी कर दिया है, वे कहते हैं—

[१]"लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि. तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्। नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः, परिभाषितव्यो वा। अन्यथा............इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्यते।

यद्यपि शबर की यह उक्ति जैमिनि के सूत्रों के संबन्ध में है, तथापि इस पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। वे भाषा को आडंबरहीन बनाना चाहते हैं, और कहते हैं—"यदि [२]भाषा को कठिन बना दिया जावेगा, तो भावों की गंभीरता के साथ साथ भाषा भी हमारी विवेचना का विषय बन जायेगी। इसमें हमें द्विगुणित श्रम होगा"। शबर का यह मंतव्य संपूर्ण उच्च कोटि के लेखकों के लिए आदर्श है, वे न इधर उधर के

१-२—शाबर भाष्य १-१-१

अध्याहार, आक्षेप आदियों को ही पसन्द करते हैं, और न मनगढंत शब्दों को ही। अपनी इसी विचार धारा को वे "नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः, परिभाषितव्यो वा" कह कर अभिव्यक्त करते हैं। इसी का पालन उनकी संपूर्ण रचना में हुआ है। गंभीर से गंभीर विवेचन के समय भी वे अपनी विचारधारा के साथ साथ भाषा को गंभीर व दुरूह नहीं होने देते, अपितु उसे वहाँ अधिक सरल बनाने का यत्न करते हैं, और उसे बातचीत की सी स्वाभाविक शैली का रूप दे देते हैं। शब्द और अर्थ के संबन्ध कर्ता का खंडन करते हुए वे लिखते हैं:—

"अवश्यमनेन संबन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्तव्यः, येन क्रियेत, तस्य केन कृतः ? अथान्येन केनचित् कृत, तस्य केनेति, तस्य केनेति ? नैवावतिष्ठते (१-१-५)

कितना स्वाभाविक रूप है, जैसा कि हम प्रतिक्षण व्यवहार में लाते रहते हैं। न्याय के आचार्यों और उनकी रचनाओं की तरह शब्दाडंबर प्रधान रचना न होने के कारण ही शबरकी शैली अनुकरणीय सिद्ध हुई, और प्रसन्नता इस बात की है कि शंकर और पतंजलि ने भी भाषा के क्षेत्र में यही दृष्टिकोण रखा।

शैली:—

शैली ही में लेखक का व्यक्तित्व निहित रहता है, इसी के आधार पर हम लेखक की मौलिकता का अनुमान लगा सकते हैं। जहाँ विचारों की महत्ता आवश्यक है, वहाँ उनके अभिव्यक्त करने का प्रकार भी कम महत्त्व नहीं रखता। कुशलता इस बात में है कि गंभीर से गंभीर विषय को सरल से सरल भाषा में गंभीर विवेचन के साथ उपस्थित कर दिया जाये। रचना के प्रत्येक पद पर इसी प्रकार लेखक का व्यक्तित्त्व अंकित रहता है। शबर को तो हम इस प्रकार की शैली का जन्मदाता कह सकते हैं। उनके भाष्य का विषय गंभीर है, किन्तु उनकी शैली उतनी

१—शबर भाष्य-(१-१-१)

ही अधिक सुगम है—जिसमें आवश्यकता के अनुसार विस्तार और संक्षेप किया गया है। विशेष कर प्रथम अध्याय के प्रथमपादस्थ विषयों को अपनी प्रणाली से उनने अधिक स्फीत दिखाने का यत्न किया है, जहाँ उन्हें लौकिक आख्यानों की सी सरलता व सरसता प्राप्त हो गई है। विवेचन के समय लोक में प्रचलित उक्तियों व मुहावरों को भी स्थान देकर विषय को विनोदपूर्ण बनाने का यत्न किया गया है। इसी लिए तो मीमांसा दर्शन ही नहीं, अपितु अनन्तर होने वाले संपूर्ण भाष्यकार इस महामना के सतत ऋणी हैं, और रहेंगे। शंकर और पतंजलि इसके निदर्शन हैं।

आचार्य शबर ने अपने विचारों को दो रूपों में बांटा है—पहले उन्हें सूत्र रूप में उपस्थित किया है, और फिर उन्हें विश्लिष्ट किया है। जैमिनि के विचारों को लौकिक और व्यावहारिक रूप देने का सबसे बड़ा श्रेय इसी महापुरुष को है। इस विश्लेषण में अधिकतर उनने वैदिक उदाहरणों के स्पष्टीकरण के लिए लौकिक उदाहरणों को स्थान दिया है। इससे उसकी दुरूहता सर्वथा दूर हो गई है। संक्षेप में शबर की शैली ने जहाँ मीमांसा शास्त्र को व्यवस्था प्रदान की, वहाँ उसे अपनी विशेषता के कारण लोकवेदोभयसंमत बनाया।

शबर के सूत्र भी जैमिनि सूत्रों की तरह अत्यन्त विस्तृत नहीं हैं। वे तो केवल प्रतिपाद्य विषय के प्रतीक मात्र हैं। न वे अधिक मात्रा में ही हैं—जिनके उपयोग में भी संशय हो। किन्तु यह अवश्य है कि शबर द्वारा प्रवर्त्तित विवेचना-शैली ने मीमांसा-दर्शन के प्रमुख उद्गम स्रोत होने पर भी शिक्षा-पद्धति में उन्हें महत्वपूर्ण अनिवार्य स्थान नहीं प्राप्त होने दिया। जैसा कि व्याकरण आदि अन्य शास्त्रों में सूत्रों का प्राधान्य आज तक भी सुरक्षित देखते हैं, मीमांसा-शास्त्र में नहीं। इससे यह विदित होता है कि यह शास्त्र अपनी विचार प्रधानता के कारण संक्षेप की अपेक्षा विस्तार को अधिक महत्त्व देता है। इसी प्रकार का प्रभाव अन्य भी विचार प्रधान शास्त्रों पर पड़े बिना नहीं रहा।

प्रमुख देन

जिस परिस्थिति में हमारे विषय-नायक का जन्म हुआ, उसका पूर्ण विवेचन ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है, इससे शबर को देन का अनुमान भी कर लेना कुछ सहज हो सकता है। विशेष कर मैं तो अपने मंतव्य में पहले ही प्रकट कर चुका हूँ कि मीमांसा की प्रारंभिक परिस्थिति व रूपरेखा के आधार पर आज भी अनेक उदाराशय इसे दर्शन कहने में हिचकिचाते हैं। किन्तु दर्शनों में उसे जो महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है एवं उनकी शास्त्रीय विचारधाराओं में उसे जो भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, वह इस हिचकिचाहट से परावृत्त नहीं हो सकती। संक्षेप में मीमांसा का यही सम्मान और उसकी यह प्रतिष्ठा ही आचार्य शबर की प्रमुख देन है—जिसकी विभुता को सीमित नहीं किया जा सकता।

इससे पूर्व मीमांसा की कोई स्वतंत्र दार्शनिक विचारधारा नहीं थी, न उसकी कोई तर्कप्रणाली ही थी। बौद्ध चारों ओर से भारतीय आत्मवाद, याज्ञिक परंपरायें, व वेद के खंडन में लीन थे, यहाँ तक कि वे वर्ण-व्यवस्था तक को उखाड़ कर समाज से दूर फेंक देना चाहते थे। ऐसी भयावह स्थिति से मीमांसा और उसके आधार वेद की रक्षा करते हुए उसे दार्शनिकता प्रदान करना एक कठिन कार्य था—जिसे पूर्ण करने का श्रेय महान् पुरुष शबर स्वामी को है। इस दिशा में शबरने जैमिनि के सूत्रों से अधिक प्रगति की और संपूर्ण दार्शनिक विषयों को धर्म व मोक्ष के प्रति अनन्य साधन सिद्ध करते हुए प्रतिपादन किया। इससे मीमांसा एक स्वतंत्र दर्शन सिद्ध हुआ और पहले जिस प्रकार उसे ब्रह्म-मीमांसा के साथ लगा हुआ रहना पड़ता था, (क्योंकि इसकी दार्शनिक स्वतंत्र विचारधारा न थी) अब पीछे न लगना पड़ा और पृथक् २ दार्शनिक सरणि होने के कारण दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व हो गया। एक ने धर्म को अपना लक्ष्य बनाया, तो दूसरी ने ब्रह्म को। संक्षेप में स्वतंत्र शास्त्र और विकसित दार्शनिक विचारधारा के रूप में मीमांसा की जो आज गणना है, वह सवशः इसी महामना की देन है।

विचारधारा के इस प्रवाह में शबर हमें अत्यन्त गतिशील प्रतीत होते हैं, शून्यवाद और निरालंबनवाद जैसे सिद्धान्तों का वे अपनी विस्तृत प्रतिभा के बल पर निराकरण करते हैं। उनने वेद और यज्ञ को अंध-श्रद्धा से हटाकर उपयोगिता की कसौटी पर कसा। अपने भाष्य के प्रारंभ में ही एक स्वतंत्र विचारक और समाज सुधारक के रूप में कहते हैं:—

"लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगंतव्यम्"

इस प्रकार अपने विचारों को उन्नति पर चढ़ाते २ वे लौकिक और वैदिक वाक्यों में कोई अन्तर नहीं मानते। स्थान २ पर वे वैदिक नियोग की भी प्रयोजनवत्ता को अनिवार्य सिद्ध करते हुए उपयोगिता का महत्त्व घोषित करते हैं। वे कहते हैं केवल वेद ने कहा है—इसी लिए किसी कर्म का अनुष्ठान अनिवार्य नहीं हो जाता, अपितु उसमें प्रवृत्ति के लिए उसकी फलवत्ता ही प्रयोजिका हो सकती है—

"प्रयोजनं विना न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते"

केवल इतना ही नहीं शबरने अपने विचारों को कहीं भी गुप्त रखने का यत्न नहीं किया। एक स्पष्ट सुधारक और विचारक होने के नाते उसने लोक की बड़ी से बड़ी परंपरा के खंडन करने में भी कहीं लेखनी को संकुचित न होने दिया। ईश्वर जैसी सर्वशक्तिशाली सत्ता को भी उसने अनिवार्य मानना आवश्यक न समझा, और उसके सामने केवल परंपरा के प्रामाण्य पर ही मस्तक झुकाना उचित न माना। जहाँ शब्द और अर्थ के संबन्धकर्ता की कल्पना का प्रश्न आता है, शबर प्रत्यक्ष उसका खंडन कर किसी कर्ता की संभावना को अनावश्यक और अव्यावहारिक सिद्ध करते हैं। इससे उनकी स्पष्टता, सिद्धान्तप्रियता और विचार-स्वतंत्रता निर्विवाद प्रमाणित हो जाती है।

वेद की रक्षा का उन्हें पद २ पर ध्यान रहा है इसीलिए उनका संपूर्ण विश्लेषण और विवेचन चाहे वह किसी भी इतर दिशा में ही जा

रहा हो, स्वभावतः घूम फिर कर जिस प्रकार नदी समुद्र में आ गिरती है, उसी प्रकार अपने लक्ष्य स्थान को प्राप्त कर ही शान्ति लेती है। अपने तृतीय चतुर्थ पंचम सूत्रों में वे अत्यन्त प्रौढिमा के साथ प्रमाणों का निष्पक्ष, निर्दोष एवं निर्विवाद विवेचन करते हैं, केवल इसलिए नहीं कि मीमांसा के मंतव्य में इनकी पृथक् सत्ता प्रमाणित हो, अपितु इसलिए कि उनकी अपेक्षा वेद की उच्चता प्रमाण को दिशा में अभिव्यक्त हो। वे शब्द की अपौरुषेयता व उसके अर्थ की अकृत्रिमता सिद्ध करते हैं। केवल इसलिए कि कहीं वेद में किसी भी प्रकार से पुरुष का प्रवेश न हो जाये। परंपरया यही स्थिति आकृतिप्रधान शब्दबोध की भी है। सक्षेप में ज्ञान की जितनी धाराएँ इस महापुरुष से उद्भूत होती हैं, वे केवल एक लक्ष्य को लेकर। यह इसकी विशेषता है कि उसकी धारा कहीं भी टूट नहीं पाती। इससे उनकी शक्ति का विकास सुज्ञेय है।

तर्कपाद उनके शास्त्रीय विवेचन का भंडार है—जिसमें हम विचारों का क्रमिक विकास पाते हैं। विकास की यह धारा शनैः २ प्रवाहित होती है और जहाँ वेद पर कोई भी आघात नजर आने लगता है, लेखनी की गति तीव्र, प्रभावशाली एवं व्यंग्यपूर्ण भी हो जाती है। वस्तुतः इसे हम ज्ञानकांड कह सकते हैं। विज्ञानवाद का खंडन करते हुए आचार्य शबर कुछ भी कमी उठा नहीं रखते, वे उसके स्थान पर आत्मवाद की स्थापना करते हैं—वेदार्थ की उपपत्ति के लिए शून्यवाद और निरालंबन-वाद का भी निरास इसी प्रसंग में होता है। अधिक क्या, वेद की रक्षा व मीमांसा की श्रीवृद्धि के लिए इस महापुरुष ने अपना जीवन सतत विचार संघर्ष में बिताया। इसीलिए हम जहाँ इसे मीमांसा की दार्शनिकता का उद्गम-स्थल मानते हैं, वहाँ उसका अंगरक्षक भी स्वीकार करते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव हम आगे आनेवाली परंपराओं में पाते हैं, जहाँ हिमालय की तरह इसके विचारवक्षस्थल से त्रिवेणी का उद्गम होता है। यह इसके श्रेयकी पराकाष्ठा का प्रतीक है ? जिसे हम शंकर जैसे अलौकिक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति में श्रद्धा के रूप में अंकुरित पाते हैं—जिसने

अपने भाष्य में स्थान-स्थान पर इसे अभिव्यक्त कर स्वयं को नतमस्तक किया है। संक्षेप में माननीय शबर मीमांसा-शास्त्र के हिमालय हैं।

उनकी स्वतंत्र विचारधारा के संबन्ध में हम पहले पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। शबर तो एक महान् क्रान्तिकारी थे, और संपूर्ण समाज में विभिन्न सुधारों द्वारा परिवर्तन लाने के लिए वे पद पद पर सचेष्ट रहते थे। उनने ईश्वर जैसी सर्वसम्मत सत्ता पर केवल आक्षेप ही नहीं किये, अपितु उसकी फलनियामिका शक्ति का प्रत्यक्ष खंडन किया और उसके स्थान पर अपूर्व की स्थापना की-जिसके परिणाम स्वरूप ईश्वर की कर्तव्य शक्ति नष्ट हो गई, और उसे विभिन्न सुख दुःख बांटने के जो अधिकार थे, वे छीन लिए गए। यह कोई साधारण और उपेक्षणीय पुकार नहीं है-जिसको कोई परवाह न करे। मीमांसा शास्त्र की स्वतत्र सत्ता का यह पहिला प्रतीक है। इसी प्रकार का दूसरा सिद्धान्त उसका भावना के संबन्ध में है-जिसे आने वाली संपूर्ण परंपराओं ने शिरोधार्य किया। वाक्यार्थ निर्णय आदि इसकी अन्य प्रमुख देन हैं। इस पूरे के पूरे विवेचन से हम महामना शबर के विचारों से पूर्ण परिचित हो जाते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से तो हम इसे मीमांसा का जन्मदाता ही मान सकते हैं। निश्चय ही मीमांसा को आज जो साहित्यिक महत्व मिला हुआ है, शबर ही के कारण। इससे पहले मीमांसा का अस्तित्व आवश्यक था, किन्तु वह एक विशृंखलित रूप में। सूत्रों को विषय के अनुसार विभाजित कर शबर ने उन्हें व्यवस्था ही नहीं प्रदान की, अपितु उनके भाष्य ने अपनी मौलिक पद्धति के सहारे इन्हें साहित्यिक वेष भूषा पहनाने में कोई कमी नहीं रखी। रूखे से रूखे विषय भी यहाँ आकर रस से ओतप्रोत हो गये। साधारण रूप में हम उनकी इन महान् साधनाओं को प्रमुख दो भागों में बांट सकते हैं:—

१—पहली वे जो उनने वेद व धर्म की रक्षा के लिए की।

२—दूसरी वे जो उनने मीमांसा शास्त्र के विकास के लिए कीं। उनकी इन महान् सेवाओं के लिए हम सब कृतज्ञ हैं।

त्रिवेणी

मीमांसा शास्त्र के इस हिमालय से तीन स्वतंत्र धाराएँ उद्भूत व विकसित होती हैं। जिनमें हम मीमांसा की पूर्णता के दर्शन करते हैं। इसी आधार भूमि से उनका जन्म होता है, और यहीं से उन्हें पोषण भी मिलता है। इन तीन ज्ञानधाराओं को, जो कि मीमांसा-क्षेत्र को पल्लवित पुष्पित एवं फलान्वित करती है, इन तीन मतों के रूप में प्रचलित पाते हैं, जिनमें प्रथम दो अनेक विचारसरिताओं के अधिक संमिश्रण के परिपुष्ट हैं, और अंतिम एक नाममात्र से गणनीय है। ये अपने प्रवर्त्तकों के नामों से प्रसिद्ध हैं:—

१—भट्टमत, २—प्रभाकरमत, ३—मुरारिमत।

इन तीनों पर ही स्वतंत्र २ रूप से आगे विचार किया जा रहा है। ये तीनों परंपरायें शबर स्वामी की विचारधाराओं की व्याख्याएँ हैं-जिनमें प्रथम दो पूर्ण विकसित एवं अंतिम अस्पष्ट है। शबर की महत्ता के प्रतिपादन और उसका मीमांसा में स्थान निर्धारण करने के लिए इनका एक एक आचार्य मूर्त निदर्शन है। शबर की इन व्याख्याओं से पूर्व के संक्रमणकाल में कतिपय आचार्यों के होने की संभावनायें हैं-जिनमें भर्तृमित्र प्रमुख है।

भर्तृमित्र

इन विभिन्न धाराओं के उदय से पूर्व भी हम शबर के अनन्तर एक स्वतंत्र विचारक को पाते हैं-जिसे हम अनेक स्थानों पर भर्तृमित्र के नाम से उद्धृत देखते हैं। भर्तृमित्र का शबर तक कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता, इसीलिए उसे शबर स्वामी के अनन्तरकालीन मानना युक्ति

संगत प्रतीत होता है। कुमारिल भट्ट ने तो उसके मत का स्थान २ पर खंडन किया है। केवल भट्ट ही को नहीं—उसकी धारा के बड़े २ अनुयायियों को भी इस महान् विचार शास्त्री के विचारों के खंडन करने के लिए बड़े २ आयोजन करने पड़े हैं, इसी से इसकी स्वतंत्र प्रतिभा-वैभव का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक विवादों में इसकी स्वतंत्र विचारधारा थी और वह इतनी दृढमूल स्थिर और संमत थी कि उसे हटाने के लिए अनेक वर्षों तक साधनाएँ करनी पड़ीं। सिद्धान्त भी इसके बड़े सबल थे, और परंपरा भी दुर्भेद्य। कुमारिल भट्ट अपने प्रमुख ग्रंथ श्लोकवार्तिक के आरंभ में उनकी ओर संकेत करता है—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥ श्लो०पे० ४।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य पार्थसारथि मिश्र भी स्पष्टीकरण करते हैं:—

"मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायतीकृता। नित्यनिषिद्धयोरिष्टानिष्ट फलं नास्तीत्यादि बह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति। तामास्तिकपथे कर्तुं वार्तिकारंभः प्रयत्नः कृतो मयेति"

इससे यह सिद्ध है कि उस काल में भर्तृमित्र के सिद्धान्तों का कितना सार्वदेशिक प्रचार था।

स्थान २ पर प्राप्त उदाहरणों से हमें यह भी विदित होता है कि भर्तृमित्र मीमांसा के प्रारम्भिक व्याख्याताओं में से सबसे अधिक प्रतिष्ठित थे, स्वयं पार्थसारथि ही इसे प्रमाणित करते हैं:—

"मीमांसायाश्चिरतनानि भर्तृमित्रादिरचितानि व्याख्यानानि विद्यन्ते"।
(श्लो० वा० पे० ३-४)

केवल पार्थसारथि ही नहीं. अनेक महान लेखकों ने भर्तृमित्र को सादर उद्धृत किया है। अपनी "न्यायमंजरी" में २२६ पृ०) जयन्त भट्ट, "सिद्धित्रय" में (६) पे यामुनाचार्य, "अभिधावृत्तिमात्रिका" में (पेज १७) मुकुन्द भट्ट एवं श्लोकवार्तिक में (७६३ पेज) श्री कुमारिल भट्ट ने विभिन्न विचारों के प्रसंग में इसे स्थान देकर मतभेद के रहते हुए भी इसके प्रति महान् श्रद्धा प्रकट की है।

इतना होने पर हम भर्तृमित्र के व्यक्तित्त्व में तो विश्वास कर लेते हैं, किन्तु दुर्भाग्य इस बात का है कि हम उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादक कोई एक स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं पाते, व न उसके जीवन के संबन्ध में ही किसी निश्चय पर पहुँच सकते हैं, उनके विचारों का कुछ संकलन यहाँ किया जा रहा है।

भर्तृमित्र के सिद्धान्त

१—सबसे प्रबल सिद्धान्त उसका नित्य और निषिद्ध कर्मों के विषय में हैं, जिसने चारों ओर तहलका मचा दिया, और सभी अनन्तर कालीन विचारशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया। इसने कहा कि नित्य और निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से न कोई बुरा परिणाम होता है, व न अच्छा ही होता है। इससे उसने केवल काम्य कर्मों को ही फल-दायक माना। यह परंपरया एक प्रकार से वेद पर आघात है—जो उसे नास्तिकवाद की ओर ले जाता है. यह एक प्रमुख समस्या बन गई—जिसे आस्तिकता की ओर उन्मुख करने का श्रेय भट्ट कुमारिल ने लिया। यह विचारधारा हमें भट्ट और मिश्र से ज्ञात होती है, किसी स्वतंत्र ग्रन्थ से नहीं, और इसी के आधार पर भर्तृमित्र पर मीमांसा को नास्तिकता की ओर अग्रेसर करने का आरोप भी किया जाता है।

२—श्लोकवार्तिक की टीका में चित्रा चोपपरिहारप्रकरण (१५ कारिका) में पार्थसारथि मिश्र इसे निदर्शन रूप में प्रस्तुत करते हुए

लिखता है कि चित्रा-यज्ञ के करने वाले को उसका फल "चित्रया यजेत पशुकामः (पशुरूप) इसी जन्म में प्राप्त हो जाता है। यह भर्तृमित्र ही का मंतव्य है, जिसके प्रति कुमारिल अविश्वास प्रकट करता है।

३—श्रोत्रेन्द्रिय के संबन्ध में भर्तृमित्र का मतव्य कुछ विलक्षण प्रतीत होता है-जिसके अनुसार श्रोत्र-इंद्रिय एक प्रकार का संस्कार मात्र है। कुमारिल भट्ट ही नहीं, जयंत भट्ट भी इसको महान् विस्मय के साथ लिखते हैं।

ये कुछ इने गिने मत हमें इधर उधर बिखरे हुए प्राप्त होते हैं। जितना विश्लेषण इनका आवश्यक होना चाहिए, मिल नहीं रहा है। इसी तरह और भी अनेक विषयों पर इस महारथी के महत्व पूर्ण विचार होंगे-जिनकी कल्पना इन निदर्शनों से की जा सकती है। दुःख है कि हम इस से अधिक इस विषय पर कुछ नहीं जान पाये।

७—भट्ट परंपरा

आचार्य कुमारिल भट्ट

सामान्य परिचय

शबरके अनन्तर होने वाले आचार्यों में कुमारिल भट्ट का नाम अग्रगण्य है। शबरने जिस धारा को प्रवाहित किया था—उसे पूर्ण विकास की ओर ले जाने का श्रेय इसी महा-मानव को है, यह एक निर्विवाद तथ्य है। कुमारिलके उदय से पूर्व वैदिक विचारधारा की स्थिति बड़ी डाँवाडोल बन रही थी। बौद्ध विचारक उच्छृंखल होकर हिन्दू संस्कृति. एवं वैदिक दर्शन पर दुरालोचनाएँ कर रहे थे। राजकीय आश्रय और संरक्षण ने बौद्ध विचारकों का मस्तक और भी उन्नत कर दिया था। नालंदा विश्व विद्यालय जो कि उस कालका संपन्न विद्यामंदिर था, इस प्रकार के आलोचकों व समीक्षकों का केन्द्र बन रहा था। तर्क, कुतर्क, विद्या, अविद्या व छल आदि हर संभव, असंभव उपायों से इस मस्तिष्क के भाग्यशाली दार्शनिकों ने वैदिक दर्शनों को आमूल उखाड़ फेंकने की एक प्रकार से प्रतिज्ञा सी करली थी, जैसा कि हमें धर्मकीर्ति के जीवन, दंतकथाओं, एवं तत्कालीन साहित्य की स्थिति से विदित होता है। इस प्रकार की संक्रमणशील परिस्थिति में कुमारिल का जन्म होता है। निश्चय ही यह काल दो परस्पर विरुद्ध विचारराशियों के संघर्ष का काल था—जिसमें हिन्दू-संस्कृति व वैदिक-दर्शनों के मूलोच्छेद का रहस्य छिपा हुआ था। इस संकट के समय उसकी रक्षा करना कुमारिल जैसे महान् साधकों का ही कार्य हो सकता था।

देश और काल

जैसा कि हम शबर स्वामी के संबन्ध में देख चुके हैं, कुमारिल के देश और कालके संबन्ध में भी वही स्थिति हमारे सामने आती है।

इत्यूचिवांसमथ भट्टकुमारिलं तमीषद्विकस्वरमुखाम्बुजमाह मौनी।
श्रुत्यर्थकर्मविमुखान् सुगतान् निहन्तुं, जातं गुहं भुवि भवन्तमहं नु जाने
इससे जहाँ इसकी समकालीनता प्रमाणित होती है, वहाँ कार्तिकेयावतारता भी। शंकराचार्य का काल १८८६ कालिवर्ष बीतने पर ८४५ वि. सं, ७१० शक, व A. D. ७८८ माना जाता है, इससे भी इसका काल सातवीं शताब्दी ही निश्चित होता है। अन्य भी ऐसे कई आधार हैं, जो इस कथन के समर्थन में सहायक होते हैं। कन्नौज के राजा यशोवर्मन के राज में-जिसका शासन-समय सन् ७२० है—भवभूति नाम का व्यक्ति था, जो स्वयं को कुमारिलका शिष्य घोषित करता था। इसी प्रकार तिब्बत के महन्त तारानाथ ने "भारतीय बौद्धधर्म का इतिहास" लिखते हुए कुमारिल को तिब्बत के सातवीं शताब्दी के शासक शृंगसाल के समकालीन घोषित किया है। धर्मकीर्ति-जिसका कि समय सन् ६३५ निश्चित है—और कुमारिल के शास्त्रार्थ तो विश्व के इतिहास में विख्यात हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध बौद्धलेखक शान्तरक्षिता ने अपने ग्रंथ "तत्त्व-संग्रह" में कुमारिल को उद्धृत किया है, जिसका काल ८ वीं शताब्दी माना जाता है? इससे भी कुमारिलकी पूर्वकालीनता प्रमाणित होती है। भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप का कुछ पंक्तियां का उद्धरण भी कुमारिलका काल निर्धारण में सहायक है। भर्तृहरि का काल षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सप्तम का पूर्वार्द्ध निश्चित किया गया है। अपनी ब्रह्मसिद्धि की प्रस्तावना में महामहोपाध्याय श्रीयुत कुप्पुस्वामी शास्त्री ६०० से ६६० ई० के मध्य, व डा० गंगानाथ झा ६०० से ६५० के मध्य काल को कुमारिल काल निश्चित करते हैं। इन दो महान् आलोचकों का एक मत हो जाना इस विषय को निर्विवादता का साक्षी है।

सबसे बड़ी सहायता जिस ओर से हमें इस दिशा में मिलती है, वह है शंकराचार्य का जीवनवृत्त। शंकरदिग्विजय में अनेक स्थानों पर सम्मान के साथ कुमारिल और आचार्य शंकर के संबन्ध में प्रकाश डाला गया है। बहुत सी किवदन्तियां इस संबन्ध में प्रचलित हैं। कहा जाता

है कि कुमारिल ने प्रच्छन्न रूप से बौद्धों से बौद्ध धर्म के तत्त्वों की शिक्षा ग्रहण की और फिर उन्हें ही—जो उसके शिक्षक थे, उसने परास्त किया। अपने गुरु का अपमान करने के प्रायश्चित्त में वह प्रयाग आया और वहां स्वयं को तुषद्रव्य में जला कर पाप-मुक्त किया। जलने की अर्द्ध अवस्था में वहां जगद्‌गुरु शंकर आये। उनने उसे पुनर्जीवित करने की कामना की, पर कुमारिल ने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार के अनेक कथा-वृत्तों, व प्रमाणिक आधारों से इन दोनों की समकालीनता एक असंदिग्ध तथ्य हो गया है, व इसीलिए सातवीं शताब्दी ही कुमारिल का काल निश्चित होता है।

उसका साहित्य

साहित्य की दृष्टि से मीमांसा-दर्शन का यह पहला स्तम्भ है—जिस पर वह टिका हुआ है। लेखनी पर कुमारिल का व्यापक अधिकार रहा, यह एक सर्व-संमत सत्य है। आचार्य शबर और उसके भाष्य को ही श्री भट्टने आधार-ग्रंथ माना, और उसके मूल पर व्यापक दृष्टि से उनने प्रकाश डाल कर—मीमांसा को दार्शनिकता प्रदान करने का धारा प्रवाहित की, उसे पुष्पित एवं फलित किया। शबर भाष्य पर तीन भागों में उसने व्याख्याएँ कीं। प्रथम अध्याय के प्रथम तर्कपाद पर उसका व्याख्यान "श्लोकवार्तिक" नाम से, प्रथम अध्याय द्वितीय पाद से तृतीयाध्याय तक "तन्त्रवार्त्तिक" के नाम से, एवं चतुर्थ अध्याय से भाष्य के अंत तक का व्याख्यान "टुप्टीका" के नाम से विख्यात है। इन तीनों रचनाओं के अतिरिक्त "वृहट्टीका" एव "मध्यमटीका" के लेखक के रूप में भी लोग कुमारिल को स्वीकार करते हैं। स्वयं इसी ने श्लोकवार्त्तिक के अर्थापत्ति परिच्छेद में इसका उल्लेख किया है। वर्धमान विरचित गणरत्नमहोदधि की वृत्ति में:—

संपीड़िताङ्गावयवा उदीयुः, पद्मा न वा कंटकितोर्ध्वदंडाः।
अन्तर्जलावासविवृद्धशीतत्रस्ता वसन्तातपकाम्ययेव॥ (न्यायमालाभूमिका३)

कुमारिल को इस श्लोक का रचयिता सिद्ध किया गया है, जिससे काव्यकार के रूप में भी कुमारिल को प्रसिद्ध संभव है। काव्यकार और वार्तिककार दोनों कुमारिलों की अभिन्नता-प्रतीति में अभी कोई प्रामाणिक वृत्त उपलब्ध यद्यपि नहीं हुआ है, फिर भी उसकी श्लोकवार्तिक की कारिकायें उसका कवित्त्वशक्ति की प्रत्यक्ष साक्षी हैं। इसके अतिरिक्त कुमारिल की अन्य रचनाओं के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

इन तीनों ग्रंथों में श्लोकवार्तिक और तंत्रवार्तिक का आकार विशाल है, उनमें भरा हुआ ज्ञान-भंडार भी अगाध है। इन दोनों ही पुस्तकों पर शबर के अनेक अनुयायियों ने अनेक प्रकार के शास्त्रीय विवेचन किये हैं। श्लोकवार्तिक का मूल ग्रंथ सब से पहले संस्कृत की पत्रिका "काशीविद्यासुधानिधि" में प्रकाशित हुआ था। कुल तीन व्याख्यायें निम्न रूप से इस पर हुई—

१—उम्बेक भट्ट	तात्पर्यटीका	स्फोटवादान्त म० वि०
२—पार्थसारथि मिश्र	न्यायरत्नाकर	पूर्ण, चौ० सं० सी०
३—सुचरित मिश्र	काशिका	स्फोटवादान्त,त्रिवेन्द्रम०सं०सी०

इनमें सबसे प्रथम व्याख्या डा० मिश्र के मतानुसार उम्बेक भट्ट की तात्पर्य टीका है—जिसका प्रकाशन सब के अंत में मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा किया गया है, यह अपूर्ण है। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि इस अपूर्ण व्याख्या को पूर्ण करने का कार्य कुमारिल भट्ट के पुत्र श्री जय मिश्र ने किया—जिसकी पांडुलिपि मद्रास विश्वविद्यालय के पास पाई गई है।

पार्थसारथि मिश्र की व्याख्या ही एक ऐसी है—जिसे पूर्ण कहा जा सकता है, यह अत्यन्त सूक्ष्म और भावात्मक है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा इसका प्रकाशन किया गया है।

सुचरित मिश्र की काशिका इन सबकी अपेक्षा विस्तृत है-इसका प्रकाशन "त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज" की ओर से किया गया है, किन्तु इसमें संशोधन आवश्यक है। यह अभी तक अपूर्ण ही है।

इसी श्लोकवार्त्तिक का अंग्रेजी अनुवाद महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने "बिब्लिओथिका इंडिया सीरिज" में प्रकाशित किया है, जो सर्वथा संपन्न है।

अलवर स्टेट लाइब्रेरी में उपलब्ध एक पांडुलिपि के द्वारा यह भी ज्ञात हुआ है कि कुमारिल श्लोकवार्त्तिक को पूर्ण करने से पहले ही मर गया। इसलिए नारायण भट्ट के प्रपौत्र रामकृष्ण के पौत्र एवं दिनकर के पुत्र विश्वेश्वर उपनाम गागाभट्ट ने अपने आश्रयदाता भौंसला वंशज शाहजी के सुपुत्र छत्रपति शिवाजी के आदेश पर इसे पूर्ण किया। इसीलिए इस ग्रंथ को "शिवार्कोदय" भी कहा गया, किन्तु इस किंवदंती में विश्वास के योग्य प्रमाणों की संपत्ति नहीं है।

इसके अनन्तर का महत्वपूर्ण ग्रंथ "तंत्रवार्त्तिक" है। जिसने अनेक व्याख्याताओं का ध्यान अपनी ओर खींचा, निम्न रूप से इस पर व्याख्याएँ की गईं—

१—माधव के पुत्र सोमेश्वर	न्यायसुधा उपनाम राणक चौखंबा सं०सी०
२—रामकृष्ण और उमा के पुत्र कमलाकर भट्ट	भावार्थ
३—गोपाल भट्ट	मिताक्षरा
४—परितोष मिश्र	अजिता (पांडुलिपि झा-लाइब्रेरी)
५—राघव सोमयाजी वंश के तिरूमलाचार्य के पुत्र अन्नभट्ट	सुबोधिनी अथवा राणकोजीवनी
६—गंगाधर मिश्र	न्यायपारायण

इनके अतिरिक्त पार्थसारथि, मंडन मिश्र, और भवदेव भट्ट द्वारा भी इसकी व्याख्या करने का उल्लेख प्राप्त होता है। पार्थसारथि के संबन्ध में अपने "तंत्र-चूडामणि" ग्रंथ में श्री कृष्णदेव ने उल्लेख किया है। यदि यह श्लोकवार्त्तिक की व्याख्या मीमांसा न्यायरत्नाकर ही नहीं है, तो इसकी अतिरिक्त सत्ता होना आवश्यक है, जो आज तक अप्राप्य है। मंडन मिश्र के संबन्ध में शास्त्रदीपिकाकार (१-२-१-१०१ पेज निर्णय सागर प्रेस) "विवृतम् चैतन्मंडनेन" कह कर इस ओर संकेत करता है। पर अभी तक इनकी पांडुलिपियां भी हमें नहीं मिल सकी हैं।

टुप्टीका-जो कि आचार्य भट्ट की तीसरी कृति है, अत्यन्त ही संक्षिप्त है। वस्तुतः इसमें हम भट्ट के पांडित्य-प्रवाह को भी नहीं देखते। जैसा कि अंतिम ग्रंथ होना चाहिए था, उस प्रकार के विकास को हम इस में नहीं देख पाते। फिर भी भट्ट की महनीयता के कारण इस पर व्याख्याताओं का ध्यान गया और अधिकृत व्याख्याएँ की गई-जिनमें निम्न के स्वरूप अब तक उपलब्ध हो सके हैं—

१—पार्थसारथि	तंत्ररत्न (विस्तृत)	सरस्वती भवन बनारस (अपूर्ण)
२—वेंकटेश (१७ शताब्दी)	वार्त्तिकाभरण	अप्रकाशित
३—उत्तम श्लोकतीर्थ	लघुन्यायसुधा	"

इसी ग्रंथ को "लघुवार्त्तिक" के नाम से भी पुकारा जाता है-जिससे "बृहत्[1] वार्त्तिक" की कल्पना भी लोग करते हैं। यह सब आचार्य भट्ट का साहित्य और उसकी विवेचनाएँ हैं।

इतना वैदुष्य, प्रभाव और प्रगाढता होने पर भी कुमारिल के ग्रंथों की उतनी मात्रा में व्याख्याएँ नहीं हुई-जितनी मात्रा में संभव थीं। अनेक अनुयायी इसके हुए और उनके द्वारा इसके ग्रंथों की व्याख्याएँ अधिक से अधिक मात्रा में की गईं, यह तो एक संभव तथ्य है। हो

१—उल्लेख-शांतरक्षिता, शालिकनाथ, जयनाथ, पार्थसारथि व सोमेश्वर आदि।

सकता है, उनमें बहुत सी लुप्त हो गई हों। प्राप्त आधारों पर तो हम पार्थ सारथि ही को उसका प्रमुख प्रचारक और तत्त्वज्ञाता मान सकते हैं। उसके अध्ययन ने कुमारिल के साहित्य को समझने में पर्याप्त सहायता हमें पहुँचाई, यह एक निर्विवाद तथ्य है।

एक भाषा विशेषज्ञ

इन सभी रचनाओं में हम कुमारिल की भाषा-विशेषज्ञता का परिचय पाते हैं। संस्कृत पर तो उसका पूर्ण अधिकार है ही है, पर साथ में विभिन्न भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की विज्ञता का भी हम परिचय इसमें पाते हैं, जैसा कि हमें उसके प्रयोगों से विदित होता है।

"किमुत यानि प्रसिद्धापभ्रष्टदेशभाषाभ्योऽपि अपभ्रष्टतराणि "भिक्खवे" इत्येवमादीनि, द्वितीयाबहुवचनस्थाने ह्येकारान्तं प्राकृतं पदं दृष्टं. न प्रथमाबहुवचनस्थाने, संवोधनेऽपि संस्कृतशब्दस्थाने चकारद्वयसंयोगोऽनुस्वारलोपः ऋवर्णाकारापत्तिमात्रमेव प्राकृतापभ्रंशेषु दृष्टं, न उकारापत्तिरिति" (तंत्रवार्त्तिक ७३-७४)

तंत्रवार्त्तिक के इस प्रकार के उद्धरणों से हम जान सकते हैं कि यह भाषाओं के संबन्ध में कितना वैज्ञानिक वर्गीकरण जानता था।

इसी प्रकार "जर्भरी, तुर्फरी, पर्फरीका नैताशौ, जेमनौ, भदेरौ, आदि अनेक शब्द (तंत्रवार्तिक ६५) इसकी लेखनी से प्रयुक्त हुए हैं— जिनके आधार पर हम उसकी शब्द शक्ति की महत्ता का अनुमान कर सकते हैं। द्रांवड़ और आंध्र भाषाओं पर तो उसका व्यापक अधिकार था ही था। इतना होते हुए भी उनकी भाषा एक स्फीत और प्राञ्जल रूप लिये हुये है, वह खिचड़ी नहीं बन पाई है। उसमें एक स्वाभाविक प्रवाह है, जो गंभीरता के साथ साथ सरलता की आगार है।

शैली और व्यक्तित्व

वैदिक विषयों को लौकिक रूप दे देना भट्ट की एक प्रमुख विशेषता है। उसकी शैली में स्वाभाविक माधुर्य है—जो दार्शनिक विषयों को साहित्यिकता प्रदान करती है। मैं तो पहले ही लिख चुका हूँ कि हम कुमारिल में मस्तिष्क और उद्भावनाशक्ति का समन्वय पाते हैं। जहाँ तक उसकी रचनाओं के उच्चतम भावपक्ष का प्रश्न है, हम उसमें उसकी मस्तिष्क और उद्भावना शक्ति का विकास देखते हैं। छोटे से तर्कपाद जैसे विषय पर अनेक विषयों और शास्त्रीय तथ्यों का संकलन करने में उसने अपने वैदुष्य की प्रखरता का प्रदर्शन किया है—जिसके कारण एक अमिट छाप दर्शन शास्त्र पर उसकी शाश्वत रूप से लग गई है। विशेषता यह है कि यह सब कुछ विना किसी आडंबर और आयोजन के हो पाया है।

केवल "श्लोकवार्त्तिक" में ही नहीं, तंत्रवार्त्तिक में भी इसी प्रकार अलग २ अधिकरणों में धर्म्मशास्त्र, स्मृति, व्याकरण, विभिन्न दर्शन, आचार शास्त्र आदि का स्वाभाविक समावेश कर कुमारिल ने अपने व्यापक ज्ञान वैभव का परिचय दिया है। यह अवश्य है कि श्लोकवार्त्तिक की अपेक्षा "तंत्रवार्त्तिक" की प्रतिपादन शैली को हम अधिक प्रौढ़ पाते हैं। विस्तार तो दोनों का एक सा ही है। पद्यवद्ध होने के कारण श्लोकवार्त्तिक में किन्हीं अंशों में रागात्मकता का समावेश हो पाया है और तंत्रवार्तिक गद्यमयता के कारण इस देन से वंचित रही है। इन दोनों ग्रंथों की एक एक पंक्ति पर कुमारिल के व्यक्तित्व की अमिट छाप है, इस में कोई संदेह नहीं।

एक महान् लक्ष्य

कुमारिल प्रयोजन को अत्यन्त महत्ता प्रदान करता है, उसका एक एक वाक्य किसी महान् आशय को लेकर प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि सारा संसार जानता है—वह वैदिक धर्म की रक्षा का एक महान् लक्ष्य

लेकर चलता है। और उसे अपने इस उद्देश्य का पद पद पर ध्यान रहता है, वह कभी भी थोड़ा सा भी अपने इस महान् पथ से विचलित नहीं होता। जैमिनि का काम था–धर्म की जिज्ञासा करना, किन्तु कुमारिल ने उस जिज्ञासा की अपेक्षा उस पर आने वाले आघातों से उसे सुरक्षित रखने की ओर विशेष ध्यान दिया, किन्तु यह सब हुआ है, शास्त्रीय विवेचना के मार्ग से। अपने श्लोकवार्तिक के उपोद्घात में–जो कि उसका प्रथम प्रामाणिक ग्रंथ है, वह अपने इस महान् लक्ष्य की सडिण्डिम घोषणा कर देता है—

प्रायेणैव हि मीमांसा, लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ॥

वस्तुतः यही उसके शास्त्र का ही नहीं, अपितु जीवन का लक्ष्य रहा। उसने अपने इस पावन उद्देश्य के सामने आने वाली अडिग से अडिग और अटूट से अटूट दीवारों तक की परवाह न की। इसकी पूर्ति के लिए जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, उसने अपनी गंभीर तर्कशक्ति का चमत्कार दिखाया। यही नहीं, हर संभव असंभव उपायों तक की शरण ली। यह उसके जीवन–वृत्त से संवन्धित किंवदन्तियों अथवा लोकोक्तियों से जाना जा सकता है। उसके एक एक वाक्य पर हम इस तथ्य की अमिट छाप पाते हैं। आजीवन इसी लिए इसे बौद्धिक और शारीरिक संघर्ष लेना पड़ा। विशेष कर बौद्ध अनुयायी उस लेखनी की आलोचना के पात्र रहे। कुमारिल ने उनकी खूब खबर ली, इसमें तो कोई संदेह नहीं है। ऐसा करते समय मस्तिष्क के साथ साथ उसे आग्रह-शीलता से भी काम लेना पड़ा। उसी ने नहीं, उसके अनुयायी जितने भी हुए उनने इस पथ से जरा भी विचलित होने का साहस नहीं किया– जैसा कि निम्न उद्धरणों से जाना जा सकेगा।

बौद्ध दर्शन के सभी सिद्धांतों का उसने प्रसंगतः अथवा बिना प्रसंग के भी जान बूझ कर अक्षरशः खंडन किया। इसे खंडन करते

समय उसे अपनी वेद-निधि पर सदा गर्व रहा, उसने अनेक स्थानों पर इस ओर प्रत्यक्ष संकेत ही नहीं, अपितु घोषणाएँ भी कीं:—

आगमप्रवणश्चहं, नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मनागच्छन्, स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

अपनी इस आगमप्रवणता पर उसे गौरव है, और इसीलिए वह अपने विश्लेषणों पर श्रद्धा तक की अनिवार्यता प्रकट करता है—

यथाकथंचिरारब्धा त्रयीमार्गानुसारिणी ।
वाग्वृत्तिरल्पसारापि, श्रद्दधानस्य शोभते ॥ (श्लोक० उ०)

अपने विनम्र किन्तु प्रभाव पूर्ण वाक्यों में उसने अपने कार्य पर गर्व प्रदर्शित किया है। आज की परिपाटी के अनुसार तो हम इनकी इस दृढ़ता को कट्टरपंथीपन भी कह सकते हैं, और यह भी मान सकते हैं कि इन लोगों की लेखनी से संकुचित मार्ग नहीं छोड़ा गया। एक निश्चित सीमा वेद ने इन्हें नियंत्रित रखा—जिससे सदा उन्हें अपनी उस परिधि का ध्यान रखना पड़ा। किसी काल में यह एक सबसे बड़ा गुण था, किन्तु आज की स्वतंत्र धारा इसे कट्टरता कह सकती है।

चाहे कट्टरता कहिये—या दृढ़ संकल्प, पर इस महान् विचारक ने बौद्ध-दर्शन का तो ऐसा कोई अंग नहीं छोड़ा—जिसे खंडन कर छिन्न भिन्न न कर दिया हो। उसे ऐसा करते समय अन्य विभिन्न शास्त्रों से भी सहायता मिली—जिनमें आस्तिकदर्शनों की प्रधानता है, पर यह भी उसकी विद्याविभव की ही देन है। निरालंबनवाद, शून्यवाद, केवल निर्विकल्पकप्रत्यक्षता, विज्ञानात्मवाद, आदि हम कितने ऐसे स्थल गिनायें—जिनमें कुमारिल ने ठीक बौद्धों के विपरीत सिद्धान्त स्थिर किये हैं। यहाँ तक कि इन लोगों ने बुद्ध की ईश्वरता को हठाने के लिए ईश्वर जैसी सार्वभौम सत्ता को भी उदासीन दृष्टि से देखा। यह तो प्रायः सब जानते हैं कि मीमांसा-दर्शन एक महान् आस्तिक विचार शास्त्र है, एवं

इसके सभी प्रतिपादकों का किसी न किसी रूप में हम ईश्वर पर विश्वास भी देखते हैं—जैसा कि अधिकतर इनके मंगलाचरणों से विदित होता है। किन्तु यह सब होते हुए भी कुमारिल जैसा सूक्ष्म समीक्षक ईश्वर जैसे अनुपेक्षणीय विषय पर जब मौन धारण किये हुये पाता है, तो हम इसमें अवश्य किसी न किसी महान् रहस्य की आशंका करने का अधिकार रखते हैं। मेरा जहाँ तक मंतव्य है—वह यह है कि यदि ईश्वर नाम की कोई भी सत्ता उनकी लेखनी से प्रमाणित हो जाती, तो उसके आधार पर बुद्ध आदि का भी ईश्वरत्व प्रमाणित ही नहीं, आरोपित किया जा सकता था—जिस अप्रिय सत्य से बचने के लिए उन्हें इस दिशा में चुप रहना पड़ा। इससे हम जान सकते हैं कि कुमारिल अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए कितना सचेष्ट था।

मेरा इस आशय का समर्थन वहाँ जाकर तो और भी दृढ़ हो जाता है—जहाँ हम इसके प्रिय ग्रंथ श्लोकवार्त्तिक के प्रारंभ में ही सर्वज्ञ का खंडन पाते हैं। हो सकता है—कुमारिल से पहले "अमरकोश', प्रचार में आ गया हो—जिसके आधार पर बुद्ध की सर्वज्ञता उन दिनों में अत्यन्त मान्यता में आ रही हो—

"सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो...........।

या उसे इस प्रकार की आशंका हो गई हो—जिसके लिए उसे पहले ही एक स्पष्ट मार्ग निर्धारित कर देना पड़ा हो। वह तो इस संबन्ध में यहाँ तक कहता है कि ऐसा कोई प्रमाण नहीं—जिस एक की सहायता से सर्वज्ञ की कल्पना भी की जा सके। यदि ऐसा होने लगे, तो फिर यह भी होना चाहिए कि आँख से भी रसास्वाद किया जा सके। संसार के इस विस्तृत परिवार में कोई सर्वज्ञ उसे नजर नहीं आया, और न उसे इस प्रकार का कोई शास्त्र ही मिला—जिसमें सर्वज्ञ प्रमाणित करने की शक्ति विद्यमान हो, यदि ऐसा कोई साहस भी करे, तो कुमारिल उसे उस शास्त्र की अयोग्ता, अनित्यता और असारता बताता है।

एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते।
नूनं स चक्षुषा सर्वान्, रसादीन् प्रतिपद्यते ॥११२॥
सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ॥११६॥
न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयोऽन्योन्यसंश्रयात् ॥११८॥
नित्यश्चेदर्थवादत्वं, तत्परे स्यादनित्यता ॥११९॥

ये कुछ उद्धरण उसकी उस कुशलता के परिचायक हैं-जिसके सहारे उसने बौद्ध सिद्धान्तों के प्रवेश तक के लिए कोई गुंजाइश और उनका मूलोच्छेद करने में कुछ कमी न उठा रखी। यह एक विचार अथवा बौद्धिक असहिष्णुता का प्रत्यक्ष निदर्शन है-जिसमें एक प्रगाढ वैदुष्य अन्तर्हित है।

आचार की महत्ता

दूसरी एक विशेष बात-जो कुमारिल से प्रारंभ हुई, और आगे होने वाले उसके अनुयायियों ने उस पर अविचलित भाव से अनुगमन किया, वह है-वाक्यों व आचारों की मान्यता के संबन्ध में। बुद्ध ने भी सत्य और अहिंसा की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला, और वेद ने भी। इस विषय में केवल वैदिकी अहिंसा को छोड़ कर दोनों एक मत है। यही नहीं, और भी ऐसे बहुत से ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा, त्याग आदि गुण व स्थल हैं-जिन पर इन्हीं दोनों में नहीं, सारे संसार के दार्शनिक विचारकों और महान् साधकों का एक मत रखना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी रहा है? किन्तु जहाँ इस प्रकार के आचारों व वाक्यों के प्रामाण्य के संबन्ध में चर्चा आती है, कुमारिल एक विचित्र एवं सयुक्तिक मार्ग निर्धारित करते हैं कि सत्य प्रमाण है, आवश्यक है, किन्तु बुद्ध ने जिस सत्य का उपदेश दिया है, वह उपादेय नहीं है। सत्य तो एक प्रतीक मात्र है, यह तथ्य उपरिनिर्दिष्ट एवं अन्य सभी गुणों पर लागू होता है। वेद द्वारा निर्दिष्ट सत्य और बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट सत्य इन दोनों में कुमारिल के मंतव्य में महान् अन्तर है। वह कहता है-सत्य सत्य है, किन्तु क्यों कि उसका संबन्ध बुद्ध से हो गया, अतः वह सत्य दुष्ट हो

गया। जिस तरह लवण के समुद्र में पड़ी हुई अच्छी से अच्छी और बुरी से बुरी भी वस्तु नमक बन जाती है, उसी तरह सत्य सत्यता के रहते हुए भी बुद्ध के वाक्यों के आधार पर प्रामाणिक नहीं है।

यथा रुमायां लवणाकरेषु, मेरौ यथा वोज्ज्वलरुक्मभूमौ।
यज्जायते तन्मयमेव तत्स्यात्.........................आदि॥

(तंत्रवार्त्तिक १३२)

यह दूसरा उदाहरण है–जिसे आज के लोग कट्टरता कह सकते हैं। पर हमें तो यहाँ यह देखना है कि उसका बुद्धि–भंडार कितना अगाध है, जो अपने विरुद्ध पदार्थों व प्रतिपत्तियों को विजय तक पहुँचाना तो दूर रहा, पास तक नहीं फटकने देता, और अपनी नियत सीमा तक से बाहर निकाल फेंकता है। इसी का समर्थन न्यायमाला[1] कारने भी किया।

जातीय गौरव

बौद्ध–वचनों को अप्रमाणित सिद्ध करने में जहाँ उसने अपने वैदुष्य से काम लिया है, वहाँ बुद्ध के व्यक्तिगत जीवन को भी उसने एक सहारा बनाया है। यहाँ आकर वह वर्ण और कर्म व्यवस्था का अनन्य उपासक बनता है, और अपने ब्राह्मणत्त्व पर भी सांकेतिक गर्व दिखाता है। बुद्ध के उपदेश इसलिए भी प्रामाणिक नहीं माने जाने चाहिएं, क्यों कि उसने क्षत्रिय होते हुए क्षत्रियों का कर्म रक्षा आदि छोड़ कर ब्राह्मणों का कर्म उपदेश देना प्रारंभ कर दिया। अपने कर्म का त्याग एक महान् अनर्थ है—जिस पर प्राचीन वर्ण–व्यवस्था अवलंबित है। इन विचारों से बुद्ध ने गृह, राज्य और शस्त्र त्याग कर एक महान् पाप किया–जिसके कारण कुमारिल उसे प्रामाण्यकोटि में नहीं टिकने देता।

१—शाक्योक्ताहिंसनं धर्मो न वा धर्मः श्रुतत्त्वतः।
न धर्मो नहि पूतं स्यात्, गोक्षीरं श्वदृतो धृतम् (३० पेज न्यायमाला)

स्वधर्म्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ, स धर्म्ममविप्लुतमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः । (तंत्रवार्त्तिक १६६)

"स किल लोकहितार्थं क्षत्रियधर्म्ममतिक्रम्य ब्राह्मणवृत्तं प्रवक्तृत्वं प्रतिपद्य प्रतिषेधातिक्रमसमर्थैर्ब्राह्मणैरननुशिष्टं धर्म्मं बाह्यजनाननुशासद्धर्मपीडामप्यात्मनोऽङ्गीकृत्य परानुग्रहं कृतवानिति । (तंत्र० ११६)

और बहुत से ऐसे स्थल हैं, जहाँ हम उपरिप्रतिपादित विचारधाराओं का समर्थन पाते हैं। बुद्ध के इस वाक्य को उद्धृत करते हुए कुमारिल

कलिकलुषकृतानि यानि लोके ।
मयि निपतन्तु विमुच्यतां तु लोकः ॥ (११६ तं. वा.)

सचमुच बुद्ध को कलुष का भाजन सिद्ध करने की ओर संकेत करता है, उस समय वह इतना भी ध्यान नहीं रखता कि इस प्रकार के विनय-वाक्य प्रत्येक महान् आत्मा की प्रेरणा होते हैं–जिससे उसके गुणों का ही परिचय मिलता है, न कि उन्हें हम उसके दोषों की स्वीकृति मान बैठें। संक्षेप में इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि कुमारिल जिस महान साधना को लेकर प्रवृत्त हुए थे–उसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली, और उसके लिए आस्तिक जगत् उनका सदा ऋणी रहेगा।

चाहे जो कुछ हो, जिन किन्हीं भी उपायों की शरण लेकर कुमारिल ने वैदिक ज्ञान–राशि की जो सुरक्षा की, वह एक असाधारण कार्य था–इसमें कोई संशय नहीं। वैदिक सदाचार की–जो एक महान् परंपरा अनादि काल से चली आ रही थी, उस पर बौद्ध विद्वानों ने आघात करने में कोई कमी न रखी थी। यदि ऐसे संकट के समय कुमारिल का आविर्भाव नहीं होता, तो आज सारे संसार में सनातन संस्कृति का नामावशेष भी नहीं रह जाता। बौद्ध–धर्म का प्रचार सारे संसार में अनीश्वरवाद के साथ साथ क्षणिक और शून्य सिद्धांत भी फैला देता-जिससे लोगों की संसार की ओर से रुचि हठ जाती, और अधिक से अधिक अकर्मण्यता का साम्राज्य बढ़ जाता ? जिसे कर्मवाद के इस महान् साधक ने अपनी आजीवन साधना से हठा कर समाज को एक महान् महामारी

से बचाया। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है—जिससे कुमारिल का यह महान लक्ष्य केवल शास्त्रीय वाद–विवाद तक ही सीमित न रह कर सार्वजनिक हित के रूप में परिणत हो जाता है। उसकी इसी दृढत्ता, विद्वत्ता और विपक्षियों को पराजित करने की अमोघ शक्ति ही के कारण तो उसे स्कन्द जैसी महान् आत्मा के अवतार के रूप में असंख्य जनता आदृत करती है।

लोक और वेद का समन्वय

सबसे बड़ी देन मीमांसा-दर्शन की सारे संसार को यह है कि उसने लोक और वेद के पृथक् २ अस्तित्त्व को नष्ट कर एक दूसरे को समन्वित किया। जैसा कि हमें अन्य दर्शनों के मौलिक सिद्धान्तों से अवगत होता है, और आज हम प्रत्यक्ष देखते हैं—कि लोक की उपेक्षा करने वाले मंतव्य कितने उपेक्षणीय होते हैं। संसार में रहते हुए हम संसार के प्रति उदासीन अपि च हीनता की भावना नहीं रख सकते। यदि हम इस ओर प्रवृत्त होते भी हैं, तो एक दिशा में अपने आपको हीन बनाते हैं। सामने प्रत्यक्ष दिखती हुई दीवार को शून्य वताने वाला मार्ग कब तक सामान्य जनता के स्तर तक पहुँच सकता है, जब कि वह अडिग खड़ी है, व जरा से उसके अभाव की कल्पना ही टक्कर से सिर फूटने की याद दिला देती है। न हम पारिवारिक वन्धनों और सामाजिक कर्तव्यों से ही पृथक् रह कर जीवित रह सकते हैं। इस प्रकार संसार को छोड़ कर, अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्वों से वंचित होकर जंगल में जा कर किया जाने वाला आत्मिक उत्थान भी अधिक महनीय नहीं है। इसीलिए मीमांसा–दर्शन ने अपने चरम लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक श्रेष्ठ राजमार्ग निर्धारित किया–जिसके अनुसार हमें लौकिक मर्यादाओं की रक्षा करते हुए भी आत्मोत्थान का सुअवसर प्राप्त हो सका। इस प्रकार के सिद्धान्त निश्चित करते हुए उसे एक मध्यमार्ग की ओर जाना पड़ा–जिसे स्थिर करने का श्रेय आचार्य भट्ट को है।

भट्ट द्वारा निर्धारित मार्ग केवल पुस्तकों के पृष्ठों तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्हें लोक और शास्त्र दोनों ओर से व्यावहारिक मान्यताएँ मिलीं—इसलिए तो कहा जाता है—

"व्यवहारे भट्टनयः"

यह एक उक्ति ही भट्ट की नीति की मान्यता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। भट्ट ने अपनी नीति के निर्धारित करने में समन्वय की भावना को महत्ता प्रदान की। न उसने लोक की उपेक्षा की, और न अध्यात्म की अवलेहना। दोनों ही को उसकी लेखनी ने समान अवसर ही नहीं, अपितु महत्वपूर्ण स्थान भी प्रदान किया। जैसा कि हमें निम्न उदाहरणों से विदित हो सकेगा। अपने श्लोकवार्त्तिक के प्रारम्भ में वह सबसे पूर्व—

"प्रयोजनं विना न मंदोऽपि प्रवर्त्तते"

कहकर प्रयोजन की अनिवार्यता बताता है। उसने तो पद पद पर यह सिद्ध किया है कि किसी भी वैदिक कर्म में किसी भी आदमी की प्रवृत्ति केवल इसलिए कभी भी नहीं हो सकती कि वह वेद में लिखा है, किन्तु प्रवृत्ति कराने में सब से बड़ा निमित्त यदि माना जा सकता है तो वह प्रयोजन है। जैसा कि हम लोक में प्रत्येक लौकिक व्यक्ति के दृष्टिकोण को पाते हैं कि वह बिना किसी मतलब के छोटे से छोटे काम में भी भाग नहीं लेता। ठीक यही दृष्टिकोण वैदिक कर्मों के लिए भी निश्चित कर कुमारिल ने लौकिक नियमों की उपादेयता प्रकट की है।

इतना ही नहीं—वह तो मीमांसा के अध्ययन तक के लिए प्रयोजन का उपदेश आवश्यक मानता है, और कहता है—

मीमांसाख्यातु विद्येयं, बहुविद्यान्तराश्रिता।
न शुश्रूषयितुं शक्या प्रागनुक्त्वा प्रयोजनम्॥ (१२ श्लो. वा.)

केवल इसी ओर नहीं, और भी ऐसे स्थान हैं, जहाँ हम उसके इस तथ्य को प्रस्फुटित पाते हैं। फल के संबन्ध में मीमांसा दृष्ट और

अदृष्ट के नाम से दो प्रकार प्रस्तुत करती है। उन दोनों में किसको महत्त्व दिया जाये ? इस प्रकार की जब समस्या आती है, तो कुमारिल कहता है–जब तक दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष फल दिखाई दे रहा है, या प्राप्त हो रहा है, अदृष्ट अर्थात् अप्रत्यक्ष फल की तो कल्पना करना भी अन्याय है—

"लभ्यमाने फले दृष्टे, नादृष्टपरिकल्पना" (श्लो० वा०)

उसका यह मंतव्य इसी रूप से संपूर्ण मीमांसकों को शिरोधर्य करना पड़ा। यदि कुमारिल की दृष्टि में लोकका कोई महत्त्व नहीं होता, तो वह शायद कभी भी दृष्ट फल को प्रधानता नहीं देता, और अदृष्ट को ही सर्वस्व सिद्ध करता, लेकिन उसके लिए लोक की उपेक्षा भी सह्य नहीं थी।

इस सब विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि उसने लोक के सामने वेद का कोई महत्व कम कर दिया हो, अपितु उसे अधिक से अधिक बढ़ाने में सहायता की। वस्तुतः जहाँ उसने वेद को प्रमाणता दी, लोक को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण बताया। सारे संसार का ज्ञानराशियों को उसने दो भागों में विभाजित किया—एक लोकमूलक और दूसरा वेद-मूलक। उसके इन दोनों विभागों में संपूर्ण ज्ञान-राशि समा जाती है, और कुछ भी शेष नहीं रह जाता। जहाँ तक लौकिक आवश्यकताओं एवं व्यवहारों का प्रश्न है, उसके लिए समुदित साहित्य एक प्रकार से स्वतन्त्र है–जिसे लोक-दर्शन कहा जा सकता है। उससे अवशिष्ट सभी वेद-दर्शन की देन है, चाहे वे आस्तिकता से संबन्ध रखती हों, या उसके खंडन से। इनके अतिरिक्त ज्ञान की और कोई धारा कुमारिल को मान्य नहीं है, इसी लिए वह संक्षेप में कहता है—

"तत्र यावद्धर्ममोक्षसंबन्धि तद्वेदप्रभवम्।
यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्। (तंत्र. ७६)

वह केवल इतना कह देने मात्र ही में शान्त नहीं हो जता; अपितु उसका विवेचन भी करता है। वर्ण-व्यवस्था भी वेदमूलक है,

क्योंकि वह भी कर्मानुष्ठान में सहायता पहुँचाती है, इसीलिए उसके शास्त्रों का (संवन्धित) भी प्रामाण्य निर्विवाद सा है। ज्यौतिष संपूर्ण अंग, इतिहास, पुराण, सामुद्र–वास्तुविद्या आदि सभी का किसी न किसी रूप में वेद से संबन्ध है, और लोक और वेद दोनों की संमति के बिना ज्ञान के अच्छे से अच्छे समुदायका भी प्रामाण्य हमें स्वीकार नहीं है। संक्षेप में किये गये इस विवेचन से हम निश्चित जान सकते हैं कि कुमारिल के लिए लोक और वेद दोनों ही मान्य थे और उनके समन्वय का सब से बड़ा काम उसकी लेखनी से संपन्न हुआ।

इतना ही नहीं, जहाँ पर लौकिक और वैदिक अर्थों की स्वीकृति के संवन्ध में चर्चा आती है, कुमारिल शवर के बताये हुए रास्ते पर चलते हुए दोनों की अभिन्नता स्वीकार करता है। वह तो प्रारम्भिक सूत्र के विवेचन के अवसर पर ही इस ओर संकेत करते हुए कहता है कि इसके पहले पदों (अथवा धर्मजिज्ञासा) की व्याख्या करते हुए कुछ एक वृत्तिकारों ने लौकिक अर्थ का उल्लंघन करने का साहस किया है, जो उसकी दृष्टि में असह्य है, एवं वह उसके अपाकरण के लिए उन्हें बहुत बड़ा उलहना भी देता है—

वृत्त्यन्तरेषु केषांचिल्लौकिकार्थव्यतिक्रमः।
शब्दानां दृश्यते तेषामुपालंभोऽयमुच्यते॥ (श्लो. ३-)

इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्त हम आगे आने वाले और भी कई अधिकरणों में पाते हैं–जिससे कुमारिल की लोक में अनन्य आस्था बढ़ जाती है। वह अपने इस क्षेत्र में आचार्य शवर से भी अधिक प्रगति कर पाया है; इसमें कोई सन्देह नहीं।

मीमांसा में अनन्य श्रद्धा

एक सब से नई चीज कुमारिल में हमें जो प्राप्त होती है–वह है उसकी मीमांसा के प्रति श्रद्धा-भावना। इससे हम उस काल के मीमांसा–

१—तंत्रवार्त्तिक—(७९-८०)

शास्त्र के महत्त्व का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं और यह भी स्पष्ट रूप से जान सकते हैं कि भट्ट से पूर्व मीमांसा का स्वरूप ही निश्चत नहीं था, अपितु चारों ओर उसका प्रभाव भी था। उस प्रभाव पर थोड़ा सा आक्रमण अवश्य इतर आलोचकों की ओर से होने लग गया था–जिसके लिए कुमारिल को आजीवन संघर्ष की तैयारी करनी पड़ी। वह मीमांसा को साधारण विद्या नहीं बताता, अपितु विभिन्न विद्याओं का भंडार कह कर पुकारता है–जिसकी शुश्रूषा करना एक महान् कठिन साधना है। मानव की विद्वत्ता और कर्मपरायणता के लिए मीमांसा का अध्ययन अनिवार्य है और वह अध्ययन अन्य विद्याओं की अपेक्षा थोड़ी सी भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। अन्यथा महान् अनर्थ की भावना रहती है। यह एक महान् न्यायमार्ग है—जिससे थोड़ी सी भी अनभिज्ञता महान् अन्याय का भाजन बन सकती है और थोड़ी सी भी असावधानी से सम्पन्न अन्यथाज्ञान अत्यन्त हानिकारक हो सकता है, इसीलिए इस ओर सचेष्टता रखना अनिवार्य है। भट्ट के इन वाक्यों से हम मीमांसा की तत्कालीन उपयोगिता और मान्यता की कल्पना कर [1] सकते हैं:—

कुमारिल के इसी अभिप्राय को पार्थसारथि[2] मिश्र स्पष्ट करते हुए मीमांसा की विशालता प्रकट करता है, और उसकी अपेक्षा अन्य विद्याओं के क्षेत्र को संकुचित घोषित करता है।

१—मीमांसाख्या तु विद्येयं, बहुविद्यान्तराश्रिता।
न शुश्रूषयितुं शक्या प्रागनुक्तवा प्रयोजनम् ॥१३॥
विद्यान्तरेषु नास्त्येतत् यद्यभीष्टं प्रयोजनम्।
अनर्थप्रापणं तावत्तेभ्यो, नाशंक्यते, क्वचित् ॥१४॥
मीमांसायां त्विहाज्ञाते दुर्ज्ञाते व विवेकनः।
न्यायमार्गे महान् दोष इति यत्नोपचर्यता ॥१५॥ (श्लो. वा.)

२—अल्प एव प्रत्यवायः, तेषामल्पविषयत्वात (श्लो. व्या०)

वस्तुतः सत्य भी है, जैसा कि प्रारम्भिक प्रकरणों में मीमांसा शास्त्र के अनेक रूपों पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि वह एक वाक्य शास्त्र है, न्याय शास्त्र है, एवं विचार शास्त्र है, इसीलिए इन तीनों ही तत्वों पर सब विद्याओं को आश्रित रहना पड़ता है, एवं जहाँ तीनों के आश्रय का प्रश्न आजाता है, मीमांसा से उनका स्वतः सम्बन्ध होजाता है, और मीमांसा की विभुता स्वाभाविक रूप से सिद्ध हो जाती है ।

अपनी[1] वाणी के इस व्यापार को वह वेद मार्ग पर आधारित मानता है, और इसी लिए इसकी पवित्रता पर मानसिक गर्व भी करता है । वेद के साथ उसे अत्यन्त आत्मीयता है, पर वह मीमांसा ज्ञान से शून्य वेद के ज्ञान को भी अपूर्ण मानता है, और अपनी तृष्णा अर्थात ज्ञानपिपासा की शान्ति के लिए पर्याप्त नहीं मानता । उसे अपने इस वाणी–विलास की सत्य और शाश्वतता पर अभिमान है । इसीलिए वह स्वयं जिस प्रकार इस ओर श्रद्धा रखता है, दूसरों को भी श्रद्धालु बनाना चाहता है ।

लोकजन्यता

अपनी इस अनन्य श्रद्धा के अथवा अत्यन्त आस्था के साथ साथ वह मीमांसा के सवन्ध में उसे लोक से उत्पन्न घोषित कर एक नया दृष्टिकोण देता है । मीमांसा एक विशाल ज्ञान–सागर है, और उस सागर का उदय किसी एक व्यक्ति से नहीं हो सकता । वह सांसारिक व शास्त्रीय विभिन्न अनुभवों से परिपक्व न्यायों का भंडार है, उक्तियों अथवा तर्कों का समुदाय है–जिसका उद्गम किसी एक मानवीय मस्तिष्क से संभव नहीं है । विशेषकर लौकिक उक्तियों एवं व्यवहारों का संकलन

१—मीमांसाशास्त्रतेजोभिर्विशेषेणोज्ज्वलीकृते । वेदार्थज्ञानरत्ने मे तृष्णातीव विजृम्भते ॥
धर्मस्तुतिपरो वाचो व्यापारोऽयं सनातनः श्रद्धालोर्वेदनिष्ठस्य नापवादः कदाचन ।
यथाकथंचिदारब्धा त्रयीमार्गानुसारिणी. वाग्वृत्तिरल्पसारापि श्रद्धधानस्य शोभते ।

२—मीमांसा तु सर्ववाक्यन्यायनिरूपणात्मिका (पार्थ सा थि श्लो. व व्या०)

है, जो किसी एक समय[१] विशेषकी देन नहीं, अपितु भिन्न भिन्न अवसरों पर हजारों वर्षों की लंबी सीमा में संसार ने जो जो तथ्य प्रस्तुत किये, उन्हीं का संकलित लेखा है। इससे हम जहाँ मीमांसा और लोक के संबन्ध का परिचय पा लेते हैं, वहां उसकी सार्व-कालिकता-सार्वदेशिकता एवं उपयोगिता पर भी निर्विवाद हो जाते हैं।

यदि केवल शास्त्र या वेदों से समुद्भूत अथवा किसी एक महामना के द्वारा प्रवर्तित सिद्ध किया जाता, तो शायद मीमांसा में कुछ संकुचितता का समावेश हो जाता, किन्तु कुमारिल जैसे महान् विचारक के लिए अपनी श्रद्धेय विद्या का यह संकोचीकरण भला कैसे सह्य हो-सकता था। वह तो इसे संपूर्ण प्रमाणों की कसौटी पर परखा हुआ व निखरा हुआ हीरा बताता है। उसकी दृष्टि में तो यह एक इस प्रकार का नवनीत है, जो विभिन्न संप्रदाय के पंडितों, और उनकी अविच्छिन्न परंपराओं, एवं अटूट व्यवहारों के मंथन से समुद्भूत हुआ है। इसीलिए इसका लोकजन्य होने पर लोक और शास्त्र दोनों के लिए समान मान होना स्वाभाविक है, क्योंकि उन शास्त्रीय विद्वानों के व्यवहारों से शास्त्र कहीं दूर थोड़ा ही चला गया था। यह एक नवीन दृष्टिकोण-अपने पूर्वजों की अपेक्षा-देकर कुमारिल ने अपने मस्तिष्क की महानता का प्रमाण दिया है।

वेदान्त में अनन्य आस्था

इतना सब होते हुए, व कहीं कहीं अत्यन्त आग्रहशीलता का परिचय पाते हुए भी हम कुमारिल की वेदान्त में अनन्य आस्था देखते हैं, यह उसकी एक उदारता है। उसके श्रद्धेय शबर ने अपने भाष्य में किसी प्रकार भी इस प्रकार का कोई संकेत नहीं किया, किन्तु श्री भट्ट ने

२—मीमांसातु लोकादेव प्रत्यक्षानुमानादिभिरविच्छिन्नसंप्रदायपण्डितव्यवहारैः प्रवृत्ता नहि कश्चिदेतावन्तं युक्तिकलापमुपसंहर्तुं क्षमः। (तंत्रवार्तिक चौ. सी.)

विभिन्न विशेषणों से मीमांसा की महनीयता बताते हुए भी जहाँ आत्मा के विवेचन का प्रकरण आया, वहाँ इस विषय की दृढता, और सम्यक् प्रतीति के लिए स्पष्ट रूप से वेदान्त के सेवन की साधन रूप में घोषणा की। इसका यह अर्थ नहीं है कि मीमांसा का आत्म-प्रकरण किसी दिशा में अपूर्ण है, किन्तु मीमांसा के लिए यह प्रधान-विवेचनीय विषय नहीं है। वेदान्त (उपनिषद्) का तो एक एक वाक्य इसी पर अवलंबित है और यही उसका लक्ष्य है। इस वस्तु-स्थिति का ध्यान रखते हुए मीमांसा का कट्टर भक्त और श्रद्धालु भट्ट जहाँ वेदान्त में आस्था प्रकट करता है, वहाँ उसका विशाल हृदय मूर्त्त बन जाता है। यह सब उस समय तो और भी अधिक शोभास्पद हो जाता है, जब कि वह अन्य प्रकरणों में वेदान्त का खंडन करता है। यह एक उसकी निष्पक्ष समीक्षा-शक्ति का प्रत्यक्ष निदर्शन है।

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः, प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥ (श्लो. ३.)

ऐसे ही अनेक स्थलों में अद्वैतियों ने भट्ट के मार्ग को शिरोधार्य किया है, और उसकी नीति को अपने शास्त्र के अन्तः प्रवेश के लिए अनिवार्य स्थान दिया है।

सामाजिक मान्यताऐं

एक महान् विचारक और कट्टर समीक्षक होते हुए भी भट्टने सामाजिक मान्यताओं पर जरा सी भी आँच नहीं आने दी, अपितु उन्हें विशेष महत्ताऐं प्रदान कीं। जहाँ भी सामाजिक परंपराओं का प्रश्न आया, वहाँ कुमारिल ने या तो मौन धारण किया, अथवा उन्हें हर संभव उपायों से प्रमाणित करने का यत्न किया। इस प्रकार के हम कई उदाहरण उसकी रचनाओं में देख सकते हैं।

१—जहाँ पर आचार के प्रामाण्य का प्रश्न आता है, कुमारिल शास्त्रीय विवेचन के साथ वहाँ स्वयं अग्रेसर हो कर समाज के माननीय पुरुषों के वाक्य और चरित्र ही को नियामक बताता है, शास्त्र को

नहीं। क्यों कि सामाजिक आचार इतनी विस्तृत मात्रा में फैले हुए हैं कि उनके लिए शास्त्रों के मूल ढूढना प्रायः असम्भव सा हो गया है। ऐसी स्थिति में कुमारिल उन आचारों की अप्रामणिकता बताने की अपेक्षा सामाजिक मानवों की परंपराओं के आधार पर उन्हें प्रमाणित करता है, और लोक या समाज जिन्हें धार्मिक या शिष्ट मानता है, उनके [1] चरितों को अनुकरणीय घोषित करता है।

आगे चल कर वह होलाकाधिकरण से उन सब आचारों को आवश्यक, अनिवार्य और उपादेय बताता है, जो विभिन्न प्रदेशों में सामाजिक मान्यताओं के रूप में आदृत हैं। इससे उसकी सामाजिकता पर विश्वास किया जा सकता है।

निष्पक्ष समीक्षक

इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने विना सोचे समझे ही अंधे अनुकरण की दृष्टि से सब के प्रामाणिकता की छाप लगा दी हो। ऐसा करते समय उसे अपने कर्तव्य का सतत ध्यान रहा है, इसीलिए जहाँ बहुत से इस प्रकार के आचारों को सामाजिक मान्यताएं मिल गई हैं— जिनका सामाज के हित में कोई उपयोग नहीं है, कुमारिल उन्हें मान्यता परिधि तक से निकाल वाहर फेंकता है। ऐसे स्थानों पर हम उसे एक योग्य समीक्षक के रूप में देखते हैं—जो अपने कर्तव्य के लिए सतत

१—एवं च विद्वद्वचनाद्विनर्गतं प्रसिद्धरूपं कविभिर्निरूपितम्।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

"अत्यक्तवेदविहितधर्मक्रिया हि लब्धशिष्टत्वव्यपदेशाः यत्परंपराप्राप्तमन्यदपि धर्मबुद्ध्या कुर्वन्ति, तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव (१३१ पृ० त० वा०)

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु. प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

तथाचारात्मतुष्ट्यादिर्धर्म्यं धर्मयात्मनाम्।

वेदोक्तमिति निश्चित्य, माह्यं धर्मबुभुत्सुभिः॥ (११३ पृ० तंत्र० वा०)

स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते॥

सचेष्ट और आवश्यक योग्यताओं व अनुभवों से संपन्न नजर आता है। आचार की जब समीक्षा करने चलता है, तो हम उसे एक आचारशास्त्र के विशेषज्ञ रूप में पाते हैं—जो प्रायः सभी प्रदेशों के निन्दित आचारों को निष्पक्ष रूप से हेय बताता है—

२—मथुरा निवासी[1] ब्राह्मणियों का सुरापान, भार्या, अपत्य, मित्र आदि के साथ भोजन, खर, उष्ट्र आदि का क्रय विक्रय उदीच्यों के, मामा की लड़की के साथ विवाह व कुर्सी पर बैठ कर खाना आदि दाक्षिणात्यों के गर्हणीय आचार उसे बहुत ही अप्रिय लगे हैं। स्वयं[2] दाक्षिणात्य होते हुए भी उसे दाक्षिणात्यों के आचार पर तो और भी घृणा है, इसीलिए वह उसे वार बार त्याज्य दृष्टि से दुहराता है—यह सब उसकी अधिकृत समीक्षा-शक्ति के साक्षी हैं ? एवं इसी प्रकरण के इतर भागों में हम उसके मस्तिष्क का चमत्कार देखते हैं, जहां वह पौराणिक आख्यानों का समाधान करता है (तंत्रवार्तिक-आचाराधिकरण)

यहीं नहीं अन्य[3] भी वहुत से ऐसे स्थल हैं, जहां उसने समीक्षा की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। जैमिनि का तृतीय सूत्र तो खैर इसका

१—अथर्ववेऽप्यहिच्छत्रमथुरानिवासिब्राह्मणीनां सुरापानम्, केसर्यश्वाश्वतरखरोष्ट्रोभयतोदन्तप्रतिग्रहविक्रयव्यवहारभार्यापत्यमित्रसहभोजनादीन्युदीच्यानाम् । मातुलदुहितृद्वाहासन्दीस्थभोजनादीनि दाक्षिणात्यानाम्। (१२८)

२—स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति ॥ (१२७)

३—स्वलक्षणविविक्तैस्तैः प्रत्यक्षादिभिरंजसा ।

परीक्षकार्पितैः शक्या, प्रविवेक्तुं न तु स्वतः (८० तंत्र० वा०)

विशेषतो द्रष्टव्य (८१ पृ० तं० वा०)

प्रतिभान्त्यः स्वयं पुंसामपूर्वाह्युपपत्तयः। भ्रान्ति बहुमताः सत्यः कुपुंरज्ञानबोधनात् ॥

सर्वासु तु प्रदर्शितासु स्वातन्त्र्येण विशोधयन्तः काश्चिदुत्सज्यान्या प्रमाणीकरिष्यन्ति(८१)

उद्भवस्रोत है ही है, पर कुमारिल ने स्वयं भी इस ओर समय समय पर पर्याप्त संकेत किये हैं। वह कहता है—किसी भी पदार्थ की पूर्णता के विवेचन के लिए या निश्चित प्रतिपत्ति के लिए पहले उसके सभी पत्तों अथवा उपपत्तियों का विस्खलित रूप से प्रदर्शन अनिवार्य है। केवल एक पक्ष के प्रस्तुत कर देने से ही उस विषय में निश्चित प्रतीति कर लेना समुचित नहीं है। सब तरह के तर्कों के विस्तार से उपस्थित कर देने पर ही निर्णय करने का मार्ग खुलासा होता है—उस समय ही एक को छोड़ने और दूसरे को अपनाने का अवसर रहता है। यह एक समीक्षा की स्वाभाविक प्रणाली है—जिस पर कुमारिल ने समय समय पर प्रकाश डाला है।

वेदांत की महत्ता के संबन्ध में लिखा गया संपूर्ण स्तम्भ भी इसका ही परिचायक है। विशेषता इस बात की है कि उसने इन सभी समीक्षाओं के करते समय दृष्टान्तों के स्थान में लौकिक तथ्यों को उपस्थित कर उन्हें रोचक, लोकप्रिय और सरल बना दिया है। अधिक से अधिक स्थलों में तो व्यंग्यमर्यादा को अपना कर उसे मनो-रंजन का भी एक साधन सिद्ध कर दिया है। भाषा पर पूर्ण प्रभुता और उसकी पटुता ने उसकी समीक्षाओं को महान् प्रभावशाली सिद्ध कर दिया है, इसमें कोई संशय नहीं है।

स्त्रियों की मान्यता

हम महर्षि जैमिनि के प्रकरण में यह वता चुके हैं कि स्त्रियों की समानता के संबन्ध में मीमांसा-दर्शन का क्या मन्तव्य है? आचार्य भट्ट भी उस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। पुरुषों की तरह कुमारिल की लेखनी स्त्रियों को भी समान अधिकार और मान्यताएं प्रदान करती है उदाहरण के लिए तंत्रवार्तिक के आचार प्रकरण ही को लीजिये—वहां चर्चा चलती है कि "न ब्राह्मणं हन्यात्" यह प्रतिषेध ब्राह्मण-विषयक

है, इसलिए ब्राह्मणी के मारने पर कोई पाप विशेष नहीं होना चाहिए, एवं ब्राह्मण के लिए सुरापान का जो निषेध है, वह भी ब्राह्मणी पर लागू नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनों जगह पुल्लिंग का स्पष्ट निर्देश किया गया है! ऐसी समस्या उपस्थित होने पर कुमारिल उसका खंडन करता है, और पुरुष स्त्री में किसी प्रकार के भेद-भाव की कल्पना को अशास्त्रीय सिद्ध करता है—इससे हम उसकी मान्यता से सुपरिचित हो जाते हैं।

ब्राह्मणस्त्रीवधे को वा ब्रह्महत्यां निषेधति। (तं.वा. १४२)

अत एव वध और सुरापान दोनों ही पाप-मूलक हैं।

संक्षेप में उपर्युक्त सभी स्तांभों से हम कुमारिल और उसके विचारों के संबन्ध में एक निश्चित मार्ग तक पहुँच जाते हैं। उसकी प्रगाढ विद्वता और विस्तृत अध्ययन के सम्बन्ध में तो जितना लिखा जाये, उतना ही थोड़ा है। यही कारण है कि सैकड़ों की मात्रा में उसकी परंपरा के अनुयायी रहे और आज तक आगम की विभिन्न प्रणालियां उसके ऋण को भुला नहीं सकीं। अब हमें उसके अनुयायियों पर दृष्टिपात करना है।

१ —मंडनमिश्र

भट्ट कुमारिल के अनुयायियों में मंडन मिश्र का एक ऐतिहासिक स्थान है। अपने जीवन की अनेक विशेषताओं एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं के कारण मंडन मिश्र ने भारतीय संस्कृति और वाङ्मय के इतिहास में अपना एक गणनीय स्थान बना लिया है। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी इसके संबन्ध में कुछ न कुछ अवश्य जानता है और इसका नाम महान् आदर के साथ लेता है। इसकी विद्वत्ता पर लोक और शास्त्र मुग्ध रहे हैं—विशेषतः मीमांसा-दर्शन और भट्ट-परंपरा को इसके जैसे आचार्य से गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है—यह एक निर्विवाद तथ्य है। दन्तकथाओं एवं तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रंथों से यह प्रमाणित होता है कि यह अपने

युग का सर्वश्रेष्ठ मीमांसक था—जिसे ब्रह्म की अपेक्षा कर्म-कांड में अधिक विश्वास था। कुमारिल के सिद्धान्तों को ग्रहण एवं समुचित रूप से परिवर्तित व परिवर्द्धित कर इसने अपने वैदुष्य की इतनी गहरी छाप तत्कालीन समाज पर लगा दी थी—जिससे कि शंकराचार्य जैसे महान् अवतार को भी अपनी आचार्यता की उपपत्ति के लिये इसकी शरण में आना पड़ा और निश्चय ही वे इसे शास्त्रार्थ में पराजित कर ही अपना अखिल भारतीय आचार्यत्व सिद्ध कर सके—यह एक लोक-प्रसिद्ध वृत्तान्त मंडन मिश्र की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त है।

हाँ, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है—श्री मिश्र की कर्मकांड में अनन्य आस्था थी और शंकर की ब्रह्म में। शंकराचार्य के ब्रह्म के लिये यह कर्म बाधक प्रतीत हुआ, इसी लिए उसको अपने ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता पर मंडन मिश्र की संमति लेना अनिवार्य हो गया। अपनी उस दिग्विजय-यात्रा में शंकर को मंडन से उत्कृष्ट कोई विद्वान् प्राप्त नहीं हुआ। यही एक ऐसा व्यक्ति था—जिस पर विजय प्राप्त करते हुए उसे थोड़ा बहुत हिचकिचाना पड़ा। ये सब तथ्य डिण्डिम घोष के साथ यह घोषित कर रहे हैं कि मंडन अपने काल का सर्वश्रेष्ठ मीमांसक था—इसीलिए उस पर विजय प्राप्त कर लेना एक प्रकार से तत्कालीन संपूर्ण विद्वत् समाज पर विजय पा लेना था।

जीवन और काल

मंडन मिश्र के जीवन के संबन्ध में सबसे अधिक प्रचलित घटना अथवा वृत्तान्त उसका शंकराचार्य से शास्त्रार्थ है। शंकरदिग्विजय के अनुसार इतिहास के संपूर्ण ग्रन्थों में मंडन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ का उल्लेख मिलता है। एक दूसरे की शिष्यता ही इन दोनों के शास्त्रार्थ का पुरस्कार था—जिसकी निर्णायिका मंडन मिश्र की धर्मपत्नी महाविदुषी भारती थी। मंडन मिश्र के पराजित होने के बाद भारती ने अर्धाङ्ग होने के कारण कुछ एक काम-शास्त्र से संबद्ध प्रश्न शंकर से

किये-जिनका वह जन्मजात सन्यासी होने के कारण उत्तर न दे सका, एवं उनके उत्तर के लिए उसे छै महीने की अवधि माँगनी पड़ी। इस काल में उसने योग-बल से शरीर-परिवर्तन द्वारा एक राजा के रूप में रह कर काम शास्त्र का सांगोपांग प्रायोगिक अध्ययन किया और उसके अनन्तर भारती को अपने उत्तरों से सन्तुष्ट कर देने के बाद वह मंडन मिश्र को विजय की निश्चित शर्त के आधार पर अपना शिष्य बना सका। दन्तकथा के अनुसार यहीं से मंडन मिश्र के सिद्धांतों एवं धर्म में ही नहीं, अपितु जीवनचर्या व नाम तक में आमूलचूड़ परिवर्तन हो गया। महान् मीमांसक वह मंडन मिश्र अब एक महान् वेदान्ती के रूप में सुरेश्वराचार्य के नाम से अपने आपको शंकराचार्य का शिष्य घोषित करते हुए अवतरित हुआ और उसने वेदान्त दर्शन पर मीमांसा ही की तरह अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे—जिनकी चर्चा आगे की जायेगी। इस तरह मंडन मिश्र और सुरेश्वराचार्य नाम से मीमांसा और वेदान्त के उच्चतम ग्रंथो की रचना करने वाला व्यक्ति एक ही है—जिसकी ये दो अभिख्याएँ हैं—जिनके परिवर्तन का एक ऐतिहासिक रहस्य है। मंडन मिश्र का जीवन जहाँ पूर्व और उत्तर मीमांसा के संगम का साक्षी है, वहाँ वह ब्रह्म और कर्म के अटल संबन्ध का भी प्रत्यक्ष निदर्शन है।

परन्तु इन दोनों विद्वानों की यह एकात्मता निर्विवाद सत्य नहीं है। श्री पी.[1] वी. काणे एवं डा. श्री गंगानाथ झा जैसे समालोचकों को इसमें विश्वास[2] नहीं है। वस्तुतः अपनी अतिशय प्रसिद्धि के कारण इन दोनों की अभिन्नता एक ऐतिहासिक आधार बन गई है—जिसे बिना किन्हीं स्थूल और सूक्ष्म प्रमाणों की उपलब्धि के छिन्न भिन्न करना असंभव है। नैष्कर्म्य-सिद्धि के प्राक्कथन में उसके संपादक श्री जी. ए. जैकब महोदय ने तो विभिन्न उदाहरणों से इन दोनों की एकता प्रमाणित की है।

१—धर्म शास्त्र का इतिहास (४८०)

२—तत्वबिन्दु प्राक्कथन पृ. ४०, अन्नामलै यूनीवर्सिटी।

कुमारिल से संबन्ध

ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से लोग इसे कुमारिल का शिष्य बताते हैं—ऐसा ही प्रसिद्ध भी है। डा. झा ने मीमांसानुक्रमणिका के प्राक्कथन में इसी तथ्य को प्रमाणित किया है, किन्तु आनन्दगिरि के मतानुसार तो यह कुमारिल का बहनोई प्रतीत होता है, पर यह मत कुछ कम विश्वसनीय है। शिष्य होते हुए भी उसकी कुमारिल में अन्धश्रद्धा नहीं है—यही कारण है कि वह विधिविवेक आदि ग्रंथों में अनेक स्थानों पर कुमारिल से विभिन्न मत रखता है। वह उससे पर्याप्त शास्त्रार्थ एवं मतभेद रखते हुए भी अन्त में उसके प्रति अपनी आस्था प्रकट [1]करता है। इन दोनों ही उपर्युक्त आधारों से हमें इसकी शंकराचार्य और कुमारिल की समकालीनता में विश्वास हो जाता है। इनमें भी आचार्य शंकर से शास्त्रार्थ करते समय यह अत्यन्त वयोवृद्ध था—जब कि शंकर एक नवयुवक था— यह भी निर्विवाद है। म. म. कुप्पुस्वामी शास्त्री इसका काल ६१५ से ६९५ ई० निर्धारित करते हैं, जब कि पी. वी. काणे ६२०[2] से ७१०। पर इन दोनों में कोई महान् अन्तर नहीं है—इसीलिए हम इसके काल के संबन्ध में एक प्रकार से प्रकाश में हैं।

भिन्न भिन्न आधारों पर हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे हैं कि यह मिथिला का रहने वाला था। आज ही नहीं, अपितु इतिहास के स्वर्णिम अक्षरों में वहाँ की मिश्र-परंपरा की विद्वत्ता अंकित है। इस प्रकार की आख्यायें भी उस ओर अधिक होती हैं—मिथिला उस काल में विद्वानों का एक गणनीय केन्द्र था। आचार्य श्री उमेश मिश्र इसे मिथिला के एक प्रदेश माहिष्मती (महिषी) अर्थात् भागलपुर जिले का निवासी सिद्ध करते हैं। विशेषतः मंडन मिश्र के जीवन से हमें सबसे अधिक प्रभावशाली तथ्य जो अवगत होता है—वह उसकी स्त्री का वैदुष्य है। उसकी धर्मपत्नी भारती तत्कालीन समुन्नत स्त्री-शिक्षा की एक

१—अलंवा गुरुभिर्विवादैन (विधिविवेक—२८५ पेज)

२—हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र वाल्यूम १ (पेज २५२-६४)

ज्वलन्त प्रतिमूर्ति है—जो कि आज के इन स्त्री-शिक्षा के ठेकेदारों और विशेषत: प्राचीनकालीन इतिहास पर आक्षेप करने वालों के लिए देदीप्यमान दृष्टान्त है। केवल विद्वत्ता नहीं, अपितु शिक्षा की दृष्टि से स्त्रियों के संमान का भी हम एक श्रेष्ठ उदाहरण इस चरित्र में पाते हैं—जहाँ शंकराचार्य जैसे विश्वविख्यात अधिकृत विद्वान् एवं मंडन मिश्र जैसे कर्मकांड के विचक्षण अत एव एक प्रकार से ब्रह्म और धर्म के विवाद की निर्णायिका होने का प्रतिष्ठित पद भारती को प्राप्त होता है। मंडनमिश्र से भी अधिक युग युगों तक भारती की यह गुणगरिमा इतिहास में महनीय रहेगी—और वह स्त्री-जाति का मस्तक सदा उन्नत करती रहेगी-इसमें कोई संशय नहीं है।

रचनाएँ

मंडन मिश्र की प्रत्येक रचना में उसके वैदुष्य की अमिट छाप है। १-विधिविवेक, २-विभ्रमविवेक, ३-भावना-विवेक, ४-मीमांसानुक्रमणिका, ५-स्फोटसिद्धि, ६-ब्रह्मसिद्धि, ७-नैष्कर्म्य सिद्धि, ८-बृहदारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य पर वार्तिक ये इसके प्रकाशित ग्रंथ हैं—जो मंडन मिश्र और सुरेश्वराचार्य के नाम से प्राप्त हैं। यह भट्टमत का सबसे प्राचीन प्रतिपादक है। इसने कुमारिल के तंत्रवार्तिक की भी व्याख्या की—जिसका उल्लेख शास्त्र दीपिका (२-१-१) में हुआ है, किन्तु वह प्राप्य नहीं है। १-विधिविवेक में विधि लिङ् पर विचार किया गया है। इस संबन्ध में कुमारिल का अनुयायी होते हुए भी यह स्वतन्त्र मत रखता है—यह पहले कहा ही जा चुका है। प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति मिश्र कृत न्यायकणिका नामक व्याख्या के साथ इसका प्रकाशन हो चुका है। २-विभ्रमविवेक में ५ प्रकार की ख्यातियों का विवेचन है—जिसका संपादन मद्रास ओरियण्टल रिसर्च के तत्त्वावधान में म. म. कुप्पू स्वामी शास्त्री के द्वारा हुआ है। ३-भावना-विवेक का संपादन म. म. डा. गंगानाथ झा ने उम्बेक की टीका के साथ किया है-जिसमें भावना के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। भट्ट नारायण ने

भी इसकी व्याख्या की है। अपने श्रीगणेश-वाक्य में ही श्री मिश्र यह बताता है कि मैं उन मीमांसकों के समक्ष भावना का स्वरूप स्पष्ट रूप से रखना चाहता हूँ—जो संसर्ग के [१] कारण मुग्ध हो गये हैं और इस संबन्ध में भ्रान्त धारणाएँ रखने लगे हैं। वह भावना को परात्पर तत्त्व की तरह वन्दनीय मानता है, एवं अत्यन्त विश्लेषण के साथ उस काल में प्रचलित भ्रान्तियों का अपाकरण करता है। ४-मीमांसानुक्रमणिका एक प्रकरणग्रन्थ है—जो मंडन मिश्र के गंभीर मीमांसा-ज्ञान का साक्षी है। डा. गंगानाथ झा ने इस पर मीमांसामंडन नाम की व्याख्या कर इसे सर्वजनसुलभ बना दिया है। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ़ और गंभीर है। एक एक पाद से ही एक एक विस्तृत अधिकरण के सिद्धान्त का निरूपण कर देना जहाँ मिश्र की निजी विशेषता है—वहाँ उसे अपनी गवेषणात्मक व्याख्या के द्वारा सुसंबद्ध एवं सुसंगत बना देना डा० झा की कुशलता है। इसे अधिकरणों के रूप में विभाजित कर सुगम बना देने का श्रेय भी डा. झा को ही है। उदाहरण के लिए देखिये—

१—उद्भिन्नाम, गुणो नैव (१-४-१-२)
२—नाम चित्रापदं तथा (१-४-३)
३—अग्निहोत्रपदं नाम (१-४-४)
४—नाम श्येनपदं पुनः (१-४-५)

इस एक अनुष्टुप् छन्द के चार चरणों में चार अधिकरणों के सिद्धान्त संकलित हैं। इतना ही नहीं, राजसूय जैसे गहन से गहन प्रकरण के लिए भी मंडन मिश्र का—

"राजा क्षत्रिय उच्यते (२-३-३)

यह एक वाक्य ही पर्याप्त हो गया है। कहीं कहीं उसे बड़े छन्दों की भी शरण लेनी पड़ी है—किन्तु उसकी प्रौढिमा और लालित्य सर्वदा सुरक्षित रहा है। जैसे—

१—संसर्गमोहितधियो विविक्तं धातुगोचरात्।
भावं स्थानं न पश्यन्ति ये तेभ्यः स विविच्यते ॥ (भावनाविवेक १)

शब्दान्तरे विधियुते खलु कर्मभेदः (२-२-१)

भूयः श्रुतिश्च समिदादियजीन् भिनत्ति (२-२-२)

आदि एक एक पाद शब्दान्तर, अभ्यास आदि कर्म भेद तत्त्वों का प्रकाशन स्पष्ट रूप से कर देता है। विशेषता यह है कि वह प्रत्येक पाद के अंत में अपने सिद्ध न्यायों का [1] एक लेखा जोखा संचित कर देता है। इसका प्रकाशन-जैसा कि डा. झा ने अपने प्राक्कथन में लिखा है—टीबो साहिब महाशय की प्रमुख प्रति (अन्य सहायक) के आधार पर हुआ है। डा. झा ने इसे १२ अध्यायों में विभाजित किया है।

५—स्फोटसिद्धि-उसके वैदुष्य का एक मूर्तिमान् संकलन है-जिसमें इसने वर्णवादियों की अच्छी खबर लेकर मीमांसा के प्राण स्फोट सिद्धान्त की रक्षा की है। इसमें भी कई एक स्थलों पर वह अपने आचार्य से विचार-भेद रखता है। इसके अनन्तर लिखे जाने वाले ग्रंथों में हम मंडन मिश्र में सार्वदेशिक परिवर्तन देखते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है—इसके अनन्तर वह मीमांसक के स्थान पर वेदान्ती, कर्मयोगी के स्थान पर ब्रह्मयोगी एवं मंडन मिश्र के स्थान पर सुरेश्वराचार्य बन जाता है। ब्रह्मसिद्धि उसका इस दिशा की ओर उठाया गया पहला कदम है। अबके उसके सब ग्रंथ ब्रह्म-मीमांसा से संबन्ध रखते हैं और अब वह शंकराचार्य में अगाध श्रद्धा लेकर इस नवीन क्षेत्र में उतरता है।

६—नैष्कर्म्य सिद्धि-जिसका प्रकाशन [2] ज्ञानोत्तम की व्याख्या के साथ हुआ है—में आकर तो वह इतना अधिक कट्टर ब्रह्मोपासक बन जाता है कि हम उसे पहचान भी नहीं पाते कि क्या यह वही मंडनमिश्र है—जिसने थोड़े दिन से ही सुरेश्वर का रूप धारण कर लिया है।

१—न्यायास्तु पादे दश सप्त चात्र (तृ. ४, आदि आदि)

२—चोलेषु मंगलमिति प्रथितार्थनाम्नि, ग्रामे वसन् पितृगुरोरभिधां दधानः।
ज्ञानोत्तमः स+लदर्शनपारदृष्टा, नैष्कर्म्यसिद्धिविवृतिं कुरुते यथावन्॥ नैष्कर्म्यसिद्धि १)

७—यही स्थिति दोनों उपनिषदों के भाष्यवार्त्तिक की है।

शैली

जैसा कि एक दो स्थानों पर कहा जा चुका है-मंडन मिश्र को अपनी लेखनी पर व्यापक अधिकार है। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में उसे पर्याप्त सफलता मिली है-उसके संपूर्ण ग्रंथ इसके साक्षी हैं। यद्यपि उसमें अनेक प्राचीन शब्दों का समावेश है, (जिनके आधार[1] पर अनेक व्यक्ति उसका काल बहुत पूर्व अर्थात् शंकराचार्य से भी प्राचीनतम निश्चित करते हैं) यद्यपि उसका वर्णनीय विषय अतिशयित मात्रा में गंभीर है-फिर भी उसकी शैली ने उसे रोचकता एवं स्पष्टता प्रदान करने में कुछ उठा न रखा। उसकी भाषा और विषय दोनों प्रौढ हैं-यही कारण है कि उसकी रचनाएँ स्वभावतः गहन हो गई हैं-किन्तु सौभाग्य से उसके सभी ग्रन्थों की व्याख्याएँ समुपलब्ध हैं-जो उसे समझने में सहायता देती हैं। उसके विचार और सिद्धान्त स्पष्ट हैं-उनमें संकोच, हिचकिचाहट व अस्पष्टता के लिए गुंजाइश नहीं है। वह समय समय पर अपने श्रद्धास्पद गुरु की खबर लेते हुए भी हीनता की अपेक्षा अधिक गौरव और प्रतिष्ठा का अनुभव करता है। उसके अध्ययन और व्यवहार पृथक् नहीं हैं-यही कारण है कि जहाँ वह अपने जीवन के अधिकांश भाग में विशुद्ध कर्मयोगी रहता है-वहाँ अपनी आयु की चरमावस्था में एक कट्टर ब्रह्मोपासक बन जाता है। संक्षेप में उसके सिद्धान्त पुस्तकों तक सीमित नहीं हैं, अपितु उसकी जीवनचर्या पर उनका प्रत्यक्ष प्रभाव है। उसके प्रारंभिक ग्रन्थों की भाषा और शैली की अपेक्षा अंतिम ग्रन्थों की भाषा और शैली में अधिक माधुर्य और प्रवाह है। गद्य की अपेक्षा पद्य में मधुरता का होना तो स्वाभाविक ही है, जो हम मीमांसानुक्रमणिका से उद्धृत उदाहरणों एवं विधिविवेक और भावना-विवेक आदि की कारिकाओं से जान सकते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि तक आकर

१—आचार्य माधवकृष्ण शर्मा प्रभृति।

तो उसकी भाषा में सरलता और सुगमता का भी समावेश हो गया है–जहां वह आत्मज्ञान की शिक्षा देता है। यहाँ के इस परिवर्तन को देखते हुए तो किसी अवस्था तक उस शंका की भो पुष्टि होने लगती है–जो मंडनमिश्र और सुरेश्वर की एकता में की जाती है। देखिये–कितना स्वाभाविक प्रवाह, सारल्य एवं माधुर्य है—

"इदमित्येव बाह्येऽर्थे ह्ययमित्येव बोद्धरि।
द्वयं दृष्टं यतो देहे, तेनायं मुह्यते जनः॥ (नै.सि. ४–६)
नेहात्मविदन्योऽस्ति, न मत्तोऽज्ञोऽस्ति कश्चन।
इत्यजानन् विजानाति, यः स ब्रह्मविदुत्तमः (६)७ ५३)

(संसार के दृष्ट पदार्थों में "इदम्" "और जानने वाले में "अयं" यह भेद बुद्धि मनुष्य देखता है–यही कारण है कि वह सांसारिक मोह में फँस जाता है। यहाँ कोई दूसरा आत्मज्ञ नहीं है, एवं न मुझ से कोई मूर्ख ही है। इस बुद्धि को दूर रखते हुए जो जानता है–वही वास्तव में उत्तम ब्रह्मविद् है)

हो सकता है–यह परिवर्तन शैली की परिपक्वता अथवा उसके विकास के कारण हो गया हो। या जब उसके जीवन के प्रवाह में एवं विचारधाराओं में ही एक मौलिक क्रान्ति हो गई तो फिर उसकी शैली पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा हो। हम स्वयं देखते हैं कि उसके जीवन में कितनी आमूलचूड क्रान्ति हुई– जिससे वह उस व्यक्ति की–जिससे वह शास्त्रार्थ करने चला था–अपार श्रद्धा[१] का भाजन बन बैठा। विचारों की क्रान्ति और उसके प्रभाव का इससे अधिक उत्कृष्ट निदर्शन हमें इतिहास में नहीं मिल सकता।

२—उम्बेक

मंडन मिश्र के विख्यात व्याख्याताओं में उम्बेक का नाम अपना एक निजी स्थान रखता है। श्री मिश्र के भावना–विवेक एवं कुमारिल के

१—भगवत्पूज्यपादैश्च, उदाहार्यैवमेव तु
सुविस्पष्टोऽस्मदुक्तोऽर्थः सर्वभूतहितैषिभिः॥ (नै. ४–११)

श्लोकवार्तिक पर इसने व्याख्याएँ लिखीं। श्लोकवार्तिक की व्याख्या तात्पर्यटीका के नाम से प्रसिद्ध है और वह केवल स्फोटवाद तक ही प्राप्त होती है। उम्बेक की व्याख्या ने भावना-विवेक को-जिसे एक निबन्ध कहा जा सकता है-एक ग्रन्थ का रूप दिया और उसकी गंभीरताओं को अपनी विस्तृत विवेचनाओं के कारण सरल और सुगम बना दिया-इसमें कोई संशय नहीं है। इसका प्रकाशन प्रिंसेज़ ओफ़ वेल्स सरस्वती भवन टैक्स्ट सीरीज़ से स्वर्गीय श्री गंगानाथझा के संपादकत्व में हुआ है। आचार्य भट्ट की अनेक कारिकाओं[१] को इसमें उद्धृत किया गया है-और उनसे अपने सिद्धान्तों का समर्थन प्राप्त किया है। श्लोकवार्तिक का तात्पर्य टीका के साथ मद्रास विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशन हुआ है। यह व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त, विवेचनात्मक और सरल है। आवश्यक विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है एवं गंभीर विषयों को सुगम बनाने का प्रयत्न किया है-जिसमें इसे पर्याप्त सफलता मिली है। इसमें अनेक अपने पूर्वकालीन विद्वानों[२] एवं उनके सिद्धान्तों का उल्लेख है। भिन्न भिन्न प्रसंगों में यह

१—सत्कार्यवाद (४८)
२—कारणगुणप्रक्रमेण कार्ये गुणारंभः (४६)
३—प्रामाण्यं नाम परिच्छेदात्मिका शक्तिः"
४—बोधकत्वं नाम प्रामाण्यम् (५०)
५—बोधात्मकत्वमात्रं प्रामाण्यम् (५०)
६—श्रोत्रवृत्तिरेव शब्दः समीपं गच्छति

आदि विख्यात मंतव्यों की दृढता के साथ अवहेलना करता है। इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर हम उम्बेक को एक सफल व्याख्याकार कह सकते हैं।

१—भावना-विवेक— २७ व ८५ पृष्ठ

२—सांख्यनायक माधव (पेज-११२) वृत्तिकार और उपवर्ष (१२३) विन्ध्यवासि (१८२) भर्तीश्वरादयः (३८) नैयाचार्य (३६) एवं दिङ्नाग आदि।

उम्बेक के जीवन के संबन्ध में अनेक विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। विद्यार्णव कृत शंकर-दिग्विजय (७-११ से ११७) में मंडन मिश्र और उम्बेक को एक व्यक्ति सिद्ध किया गया है, एवं उम्बेक ही का प्रचलित नाम मंडन[1] बताया है। प्रत्यग्रूप भगवत् ने इसके अतिरिक्त ही भवभूति[2] और उम्बेक की अभिन्नता प्रतिपादित की है-इसके समर्थन में उन्हें एक आधार मिलता है कि श्लोकवार्तिक में भी भवभूति का वही प्रसिद्ध मंगलाचरण यों के यों उद्धृत हैं। परन्तु ये दोनों ही तथ्य विश्वसनीय नहीं हैं। शंकर-दिग्विजय में अनेक घटनायें अतिरंजित हैं एवं उसकी प्रामाणिकता निर्विवाद नहीं है। भावना-विवेक के लेखक मंडन मिश्र और व्याख्याकार उम्बेक में अनेक स्थानों पर मतभेद है। उम्बेक पृष्ठ. १७-२८-६३-७७-८१-८२ पर अपने स्वतंत्र विचार एवं संमति प्रदर्शित[3] करता है-जिससे शास्त्रीय दृष्टि से इन दोनों की भिन्नता प्रमाणित हो जाती है। उम्बेक और भवभूति की एकता की भी यही स्थिति है। न्यायरत्नमाला के प्राक्कथन (पृ० ३) में श्री रामस्वामी शास्त्री ने इन दोनों की एकता को पुष्ट किया है। चित्सुखाचार्य[4] ने एक ही स्थान पर भवभूति और उम्बेक दोनों का उल्लेख किया है-जो इनका पार्थक्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। रहा प्रश्न मंगल की एकता का-वह

१—अयं च पन्था यदि ते प्रकाश्यः, सुधीश्वरो मंडनमिश्रशर्मा।
दिगन्तविश्रांतयशो विजेयो यस्मिञ्जिते सर्वमिदं जितं स्यात्॥
उम्बेकइत्यभिहितस्य हि तस्य लोकैः—सम्बोतबान्धवजनैरभिधीयमानः, इत्यादि।

२—भवभूतिरुम्बेकः (चित्सुखी व्याख्या पृ. २५६ वि. स. प्रे.)

३—(A) मंडनमिश्र—ननु व्योम्नोऽप्रत्यक्षत्वाद्वायुवनस्पतिसंयोगवत्तत संयोगविभागानाम् (मूल २८ पृ.)
उम्बेक (B) वायुवनस्पतिसंयोगानामिति क्वचित्पाठः।
क्वचिच्च वायुवनस्पतिसंयोगवदिति, स साधुरेव। (व्या० २८)
C नानभ्युपगमात इति क्वचित्पाठः। अतन्निबन्धनत्वादिति क्वचित्पाठः (व्या. ८२)

४—न हि पुराप्त एव सत्ताटकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणाप्तो भवति भवभूतिः,
उक्तं चैतदुम्बेकेन। (चित्सुखी—२६५ पृ.)

कोई मौलिक आधार नहीं है। प्रकाशक अथवा संपादक अन्यत्र उपलब्ध वाक्य अथवा पद्य को भी यथा-स्थान रख सकते हैं। अत एव यह स्पष्ट है कि उम्बेक मंडन मिश्र और भवभूति से अतिरिक्त एक स्वतंत्र विचारक था-यही सिद्ध करना इस प्रसंग के लिए पर्याप्त है।

३—वाचस्पति मिश्र

मीमांसक संप्रदाय का यह सबसे पहला व्यक्ति है—जिसे वाङ्मय की विभिन्न धाराओं पर समान अधिकार है। कहीं वह एक कट्टर वेदान्ती के रूप में, कहीं सांख्य-तो कहीं विचार शास्त्री के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। इन सभी रूपों में उसका व्यक्तित्त्व निखरा हुआ रहता है और वह अपनी एक निजी छाप इन सब पर छोड़ जाता है। उसकी समालोचना-शक्ति प्रौढ़, विचारधारा स्पष्ट एवं तर्क-प्रणाली अभेद्य है। वह प्रत्येक दर्शन पर अपने स्वतंत्र विचार रखता है-इसीलिए उसे "सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र" इस गौरवास्पद उपाधि से विद्वत्परंपरा ने संमानित किया है!

वाचस्पति के जीवन के संबन्ध में हमें कतिपय संकेत उसकी स्वयं की रचनाओं से प्राप्त होते हैं। शंकर भाष्य के प्रसिद्ध व्याख्यान 'भामती' के अन्त में वह अपने परिचय के लिए एक पद्य लिखता है—

नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां, भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम्।
कार्तस्वरासारसुपूरितार्थः, सार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥ १ ॥
नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः॥ २ ॥

अर्थात् "अन्य राजा महाराजा जिसकी मन तक से भी कल्पना नहीं कर सकते-इस प्रकार की कीर्ति जिसने सहज ही प्राप्त की। जिसके भंडार स्वर्ण से परिपूर्ण हैं और जो स्वयं एक अधिकृत विद्वान् है। राजा जिसके चरित्र का अनुकरण करना चाहते हैं—किन्तु कर नहीं पाते।

इस प्रकार के कीर्तिशाली राजा नृग को मैं यह ग्रंथ अर्पण करता हूँ"। इससे यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि नृग नाम के राजा के साथ वाचस्पति का घनिष्ठ संबन्ध था। जितनी श्रद्धा रीतिकालीन परंपरा पर अपने शासक के प्रति उपर्युक्त वाक्यों में इस महापुरुष ने व्यक्त की है—उससे तो यह भी विदित होता है कि यह उसका आश्रयदाता हो। ऐतिहासिक मंतव्य नृग को मिथिला का शासक बताते हैं—जिसने मिथिला पर कर्नाटक के राजा नान्यदेव (१०१६ ई०) से पूर्व शासन किया। इसी प्रकार विख्यात बौद्ध तार्किक रत्नकीर्ति ने—जो कि अपोह-सिद्धि और क्षणभंगसिद्धि का लेखक है—अपनी[1] रचना में त्रिलोचन और वाचस्पति का उल्लेख किया है। इतिवृत्त के आचार्य महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने रत्न कीर्ति का काल ९८३ ई० से पूर्व निश्चित किया है। रत्नकीर्ति के काल तक वाचस्पति और त्रिलोचन ने अतिशय प्रतिष्ठा तक प्राप्त करली थी—जिससे उन्हें उल्लेखनीयता मिल सकी। इस आधार पर हम वाचस्पति का काल नवम शताब्दी मान सकते हैं—उसने स्वयं एक स्थान पर अपनी एक[2] रचना को ८९८ वि. अर्थात् ८४१ ई० की कृति कहा है—इसकी मैथिलता तो स्वतः सिद्ध है ही है।

इसकी पुष्टि में हमें अन्य भी सहायताएँ प्राप्त होती हैं। तत्त्व-चिन्तामणि के लेखक गंगेशोपाध्याय अपने ग्रंथ में वाचस्पति का उल्लेख करते हैं। श्रीहर्ष के खंडनखंडखाद्य के दूषणों का खंडन करने के उद्देश्य से वाचस्पति ने "खंडनोद्धार" नामक ग्रंथ लिखा—ऐसी भी किंवदन्ती है—जिससे भी इसकी हर्ष की अपेक्षा अर्वाचीनता स्पष्ट होती है।

काल के अतिरिक्त उसके व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में हम इतना ही जान पाये हैं कि इसके कोई संतान न थी—अपनी पत्नी की स्मृति में ही इसने शांकर भाष्य की व्याख्या का नाम "भामती" रखा।

१—क्षणभंगसिद्धि (पृ० ५८)

२—न्यायसूचिनिबन्ध

आता है और अन्य मन्तव्यों का पूर्ण निराकरण करता है। वह इस दिशा में अपने पथ—प्रदर्शन करने वाले आचार्यों के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त कहेराता। विचार—शास्त्र के इतिहास में इन्हीं सब विशेषताओं के आधार पर इसका नाम स्वर्णाक्षरों में उल्लिखित है।

४—देव स्वामी

प्रपंच-हृदय में शाबरभाष्य की व्याख्याकार के रूप में देवस्वामी का उल्लेख हुआ है। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि इसने संकर्षकांड पर भी लिखा—इसकी एक प्रति झा-पुस्तकालय में सुरक्षित है ? किन्तु इसकी वास्तविकता पर विश्वास नहीं है। इसने जैमिनि के १६ परिच्छेदों की व्याख्या भी की। प्रपंच हृदय का काल ११ वीं शताब्दी निश्चित है—उसके आधार पर देव स्वामी का काल इससे पूर्व अनुमानित किया जा सकता है—इससे अधिक हम इस विषय में कुछ नहीं जान पाये।

५—सुचरित मिश्र

यह श्लोकवार्तिक का एक विख्यात व्याख्याकार है। यह मिथिला का रहने वाला था। काशिका का कुछ अंश त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित हो चुका है—इसकी एक प्रति बनारस सरस्वती—भवन पुस्तकालय में उपलब्ध है—जिसमें रचना—समय के रूप में सं० १५०७ अर्थात् ई० सन् १४५० का उल्लेख हुआ है। शास्त्रदीपिका के व्याख्याकार श्री रामकृष्ण[१] भट्ट वा प्रत्यग्रूप भगवान् (१४०० सन् वेदान्तदेशिकाचार्य १३ वीं शताब्दी) ने सुचरित मिश्र और उसके ग्रंथ का उल्लेख किया है। इन सब आधारों पर हम १२ वीं शताब्दी को इसका काल निर्धारित कर सकते हैं।

काशिका एक अधिकृत व्याख्या है—जो सरल, सुगम एवं विवेचनात्मक है। कहीं कहीं पर तो यह पार्थसारथि मिश्र की न्यायरत्नाकर

१—शास्त्र-दीपिका तु० ३०, ४७

से भी अधिक सुग्राह्य हो गई है। न्यायरत्नाकर की अपेक्षा यह अत्यन्त विस्तृत भी है। इसके अतिरिक्त श्री रामकृष्ण[1] ने अपनी सिद्धान्त-चन्द्रिका में, कुमारिल के अनुसार विधि—विचार नामक ग्रंथ—कर्ता के रूप में भी सुचरित मिश्र का उल्लेख किया है, किन्तु कोई प्रति अब तक इसकी उपलब्ध नहीं हो सकी है। यदि यह कथन सत्य है, तो "विधि-विचार" इसकी दूसरी रचना होनी चाहिए।

६—महान पार्थसारथि मिश्र

मीमांसा-दर्शन के इतिहास में पार्थ सारथि का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशेषकर भट्ट-परंपरा को मीमांसा को अन्य धाराओं की अपेक्षा, महत्त्व, प्रतिष्ठा और स्थायित्व प्राप्त कराने का श्रेय इसी महामना को है। प्रभाकर यद्यपि महान् विचक्षण एवं विलक्षण विचारक था, उस की युक्तियां सर्वथा अभेद्य थी, उसके विचारों की गति अप्रतिहत थी—उसका वैदुष्य चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था—उसकी उद्भावना-शक्ति पर्याप्त मात्रा में उभरी हुई थी, उसकी समीक्षा-शक्ति अतिशय गतिशील थी—उसके सिद्धान्त दृढ भित्ति पर आधारित थे—फिर भी उसका संप्रदाय भट्ट की परंपरा के सामने, प्रभावशाली क्यों नहीं बन सका? इस महान् समस्या का एक मात्र हल पार्थसारथि मिश्र है। भट्ट को इस प्रकार के शक्तिशाली अनुयायी मिले—जिनने उसकी परंपरा को दृढ़मूल बना दिया। प्रभाकर इस दिशा में इतना सौभाग्यशाली नहीं था। इस दृष्टिकोण से यदि पार्थसारथि को भट्ट-परंपरा की आधारशिला कहा जाये—तो कोई अत्युक्ति नहीं। इससे पार्थसारथि के महत्त्व और स्थान का सांकेतिक अनुभव हो सकता है।

यद्यपि इससे पूर्व इस परंपरा में मंडन मिश्र और वाचस्पति जैसे पूर्ण लेखक हो चुके थे, फिर भी पार्थसारथि का पदार्पण

१—वार्तिकानुसारेण विधिस्वरूपं निरूपितं सुचरितमिश्रैः (४७–४८)

अपने निजी अस्तित्त्व और महत्त्व को लेकर हुआ। इनमें वाचस्पति सर्वतंत्रस्वतंत्र थे एवं दर्शन की सभी धाराओं पर उनका अधिकार था, यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। मीमांसा के साथ साथ अन्य दर्शनों पर भी उनने लिखा। मंडन मिश्र ने भी एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व स्थापित किया। पर पार्थसारथि ने इन दोनों का ही नहीं, अपितु भट्ट के बाद अपनी परंपरा के सभी विचारकों का अतिक्रमण कर एक नवीन नेतृत्व स्थापित किया। यहाँ से भट्ट के सिद्धान्तों का सारा उत्तरदायित्त्व इस महापुरुष के कंधों पर पड़ा एवं बड़े गौरव की बात है कि उसको इसने बड़ी क्षमता और विद्वत्ता के साथ वहन किया। इसे इस ओर आशातीत सफलता मिली और यह एक युगप्रवर्तक बन गया।

व्यापक अध्ययन और वैदुष्य

पार्थसारथि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक महान् क्रान्तिकारी लेखक हुआ—इसमें कोई संशय नहीं है। उसने अपने सिद्धान्तों को बड़ी दृढ़ता एवं मौलिकता के साथ विद्वत्समाज के समक्ष रखा एवं अपने अनन्तर-कालीन साहित्य पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप लगा दी। जैसा कि उसके ग्रन्थ के कतिपय उद्धरणों से विदित होता है—इसने अपने पिता यज्ञात्मा से संपूर्ण शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण की। यह यज्ञात्मा तत्कालीन दार्शनिक विद्वानों में प्रमुख था और वह अपने जीवन काल में ही अतिशय ख्याति व प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। इसके अतिरिक्त पार्थसारथि के गुरु के रूप में और किसी विद्वान् को सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका व न ऐसा कहीं उल्लेख ही है। यही एक ऐसा संकेत है—जो पार्थसारथि के जीवन के संबंध में उसकी रचनाओं से प्राप्त होता है। इसके ग्रन्थों में उसका व्यापक अध्ययन और वैदुष्य कूट कूट कर भरा हुआ है। वाचस्पति की तरह यह भी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र था एवं दर्शन की संपूर्ण धाराओं पर ही इसे अधिकार था, किन्तु इसने मीमांसा के अतिरिक्त अन्य दर्शनों पर उसकी तरह

स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखे। उसने अपने इस गंभीर वैदुष्य का उपयोग मीमांसा के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा, महत्ता और स्थायिता स्थापित करने में किया—जिससे तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर मीमांसा को अन्य दर्शनों की गणना में महनीय स्थान प्राप्त हो सका। उसकी शास्त्रदीपिका का तर्कपाद उसके व्यापक वैदुष्य का ज्वलन्त साक्षी है—जिसमें वह बौद्ध दर्शन के चारों संप्रदायों, प्रभाकर एवं अद्वैतवादियों की खूब खबर लेता है। वह कुमारिल दर्शन का तो तत्त्वद्रष्टा था—इससे अधिक कुमारिल की मार्मिकता को कोई गहराई के साथ नहीं जान सका। उसे कुमारिल-दर्शन पर रुचि, श्रद्धा और अधिकार सभी थे। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह प्रभाकर-दर्शन के संबन्ध में सर्वथा अनभिज्ञ हो। वह अपने प्रारंभिक परिचय ही में इस तथ्य की स्पष्ट उद्घोषणा कर देता है कि उसे मीमांसा के दोनों ही मतों का परिचय है। प्रभाकर के सिद्धान्तों से वह सुपरिचित है एवं अपने प्रत्येक ग्रन्थ में उसे प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उपस्थित कर अन्य विरोधियों के समान ही उसका खंडन करता है। उसकी न्यायरत्नमाला[१] तो इस प्रकार के खंडनों का भंडार ही है— जिसमें व्यंग्यात्मक प्रणाली पर प्रभाकर के सिद्धान्तों को उपहासास्पद बनाया गया है।

जैसा कि इस ग्रन्थ के स्वर्णयुग शीर्षक स्तम्भ में लिखा जा चुका है—मीमांसा को दार्शनिकता की ओर उन्मुख करने का कार्य श्री शबर ने प्रारंभ किया। शबर ने इस दिशा में यदि खोज लगाने का श्रेय लिया, तो भट्ट ने उसे सींचा, किन्तु उसे पल्लवित, पुष्पित और फलित देखने का सौभाग्य पार्थ सारथि को ही प्राप्त हो सका। इस महान् विचारक ने मीमांसा के दार्शनिक सिद्धांतों की अन्य दर्शनों के सिद्धांतों के सामने तुलनायें की, एवं उसके परिणाम के रूप में मीमांसा के दार्शनिक सिद्धांतों को विजयी ठहराया। इस संग्राम में उसने प्रायः दर्शनों की सभी धाराओं से टक्कर ली—जिनके अध्ययन से इसके वैदुष्य की व्यापकता निर्विवाद

१—पृष्ठ ८, ३१, ६४, १३४, १३७, १४६, १६७, २८७,

सिद्ध हो जाती है। आत्मा के विषय[1] में वह नास्तिक दर्शन के शरीर और इन्द्रियात्मवाद का खंडन तो करता ही है, किन्तु बौद्धों के विज्ञानवाद का भी मूलोच्छेद किये विना नहीं रहता। सृष्टि की क्षणभंगुरता एवं नश्वरता प्रमाणित करने वाले वेदान्तियों को वह जगत् के व्यावहारिक दृष्टिकोण के संमुख नत-मस्तक कर सृष्टि को प्रवाहशीलता घोषित करता है, और उसके प्रपंच को कल्पना[2] मात्र नहीं कहता। उसके सिद्धांत के अनुसार पौरुषेय[3] (आप्तवाक्य) और अपौरुषेय (वेदवाक्य) ये दो शब्द के भेद हैं, जो दोनों ही नित्य एवं अविकारी हैं। एक ओर वह निरालम्बनवाद की खबर लेता है, तो दूसरी ओर शब्द-नित्यत्व और वेदापौरुषेयता की। वह घ्राण, रसना, चक्षु त्वक् और श्रवण इन पांचों इन्द्रियों[1] में प्रथम चार को क्रमशः पृथ्वी जल, तेज और वायु का अंश एवं अंतिम को दिक् आधारित मानता है—जब कि नैयायिक वैशेषिक व अन्य विचारक उसका आश्रय आकाश को सिद्ध करते हैं। मन को वह स्वतंत्र और पृथिवी[4]-व्यापी मानता है। आत्मा की शुद्धता[5] के साथ वह मन का कोई भी संबन्ध स्वीकार नहीं करता। आत्मा की स्वप्रकाशता[6] (वेदान्तियों के अनुसार) भी उसे मान्य नहीं है, अन्यथा सुषुप्ति अवस्था में भी उसका व्यक्तीकरण संभव हो जाता। वह अद्वैतियों की तरह मोक्ष की आनन्दमयता का अंगीकार नहीं करता, वह तो केवल आत्मा[7] और प्रपंच के परस्परिक संबन्ध का नाशमात्र है। इस अवस्था में सभी प्रकार के आनन्दों व कष्टों का विलय हो जाता है। शक्ति उसके[8]

---

१ – शास्त्रदीपिका—तर्कपाद

२—११०

३—पृष्ठ ७३

४—मनस्तु पृथिव्यामेव (३६)

५—मुक्तस्य मनसोऽभावात् अमनस्कत्वश्रुतेः (१३०)

६—(१२४)

७—निस्संबन्धो निरानन्दश्च मोक्षः (शा. १२८—२६)

८—(८०)

मत में एक पृथक् वस्तु है । वह जाति[१] और व्यक्ति एवं अवयव और अवयवी[२] में भिन्नाभिन्नत्व संबन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार के एक नहीं, अपितु अनेक[३] नवीन मंतव्य इस मीमांसा के महारथी ने स्थिर किये हैं—जिनकी गणना नहीं की जा सकती ।

यद्यपि इन सब क्षेत्रों में इससे पहले भी कतिपय संकेत श्री शबर और भट्ट के द्वारा दिये जा चुके थे, किन्तु वे कहीं कहीं अतिशय मात्रा में अस्पष्ट, संक्षिप्त एवं अनिश्चित से थे । यदि कुछ एक व्यवस्थित भी किये जा चुके थे, तो भी अन्य विपरीत दार्शनिकों ने उनका खंडन कर उन्हें प्रभावहीन बनाने में कोई कमी न रखी थी। ऐसी अवस्था में इन सभी सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण कर उन्हें स्थिर करने का सारा उत्तरदायित्व इसे वहन करना पड़ा। जो संक्षिप्त और अस्पष्ट थे—उनका विश्लेषण किया गया एवं जो अनिश्चित से थे, उन्हें निश्चितता प्रदान की गई । दर्शन के जिन कई सूक्ष्म अंगों एवं संबन्धों पर प्रकाश नहीं डाला गया था—उन्हें भी प्रकाश में लाया गया। इन सब आधारों से यह निर्विवाद प्रमाणित हो जाता है कि पार्थसारथि ने मीमांसा को क्या देन दी और यदि वह नहीं होता तो, इसके मंतव्यों की क्या दशा होती ? उसे यदि इन मीमांसा के सिद्धान्तों, वेद की महत्ताओं और विशेषतः भट्ट की नीतियों का संरक्षक कहें तो कोई अनुचित नहीं। यह सब उसके व्यापक अध्ययन और वैदुष्य ही का प्रताप है ।

उसकी रचनायें

मीमांसा-दर्शन पर उसकी चार रचनायें हमें प्राप्त होती हैं—जिनमें दो कुमारिल के वार्तिक की व्याख्यायें हैं एवं शेष दो मौलिक रचनायें हैं । १—न्यायरत्नमाला, २—तंत्ररत्न, ३—शास्त्रदीपिका,

१—(१००)

२—(१०६–७)

३—१०३, ७१०१, १३६, आदि आदि विशेषतो द्रष्टव्य)

४—न्यायरत्नाकर। न्यायरत्न-माला—उसकी सबसे पहली रचना प्रतीत होती हैं, क्यों कि उसकी शेष रचनाओं में इसका उल्लेख[१] पाया जाता है। प्रकृत ग्रन्थ में भट्ट और प्रभाकर के विवादास्पद विषयों का प्रस्तावन कर उन पर तार्किक समीक्षाएँ की गई हैं—व प्रभाकर के मतों का पूर्णशः खण्डन किया गया है। ऐसा करते हुए श्री मिश्र ने शंका एवं विवादग्रस्त विषयों का विश्लेषण आवश्यक माना है। प्रायः मीमांसा के प्रधान विषयों पर स्वतंत्र रूप से इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है। प्रथम अध्याय में अध्ययन विधि पर ४३ श्लोक हैं—जिसकी भाषा प्रौढ, प्राञ्जल और प्रवाहशील है। पहले कारिकाके रूप में संक्षिप्त रूप में पूर्व एवं उत्तर पक्ष निहित कर पुनः विस्तारशः उनकी व्याख्या की गई है। द्वितीय अध्याय में स्वतः प्रामाण्य का निर्णय है—इसकी स्थापना मीमांसा के इतिहास में एक अनिवार्य महत्त्व रखती है। प्रामाण्य की स्वतस्त्व, परतस्त्व एवं उभयतस्त्व प्रणालियों पर आदिकाल से ही भिन्न भिन्न दार्शनिकों में मतमतान्तर रहे हैं। श्री मिश्र ने उन सभी मतों को यहां उपस्थित कर उन्हें समालोचना की कसौटी पर परखा है और स्वतः प्रामाण्य की स्थापना की है। इतनी श्रेष्ठ विवेचना से संपन्न इस विषय पर अन्य कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। विधि-निर्णय, व्याप्ति नित्यकाम्यविवेक आदि इसके अतिरिक्त विषय हैं। इन सब विषयों पर पार्थसारथि ने अपने मौलिक विचार व्यंग्यपूर्ण शैली में अभिव्यक्त किये हैं। मंडन मिश्र के विधि विवेक से इसमें अनेक उद्धरण लिये गये हैं—एवं विवरणकार और निबन्धनकारों[२] का भी स्मरण किया गया है—जिससे इन दोनों की भिन्नता[३] प्रमाणित होती है। तन्त्रभाष्य के लेखक १८ वीं शताब्दी के श्री रामानुजाचार्य

१—A—शास्त्र दीपिका—१९,२, ४६७ पृष्ठ ६
B—तंत्ररत्न—१७३
C—न्यायरत्नाकर ३५०
२—न्यायरत्नमाला १४७
३—१४८

ने नायकरत्न के नाम से इसकी व्याख्या लिखी है—जो पार्थसारथि के प्रौढ विचारों को समझाने में परम सहायक है। सारांशतः प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने पूव मोमांसा के १२ अध्यायों के मंतव्योंका संक्षेपशः विवरण दिया है और भट्ट व प्रभाकर का पारस्परिक द्वन्द्व बतलाया है। इसके प्रत्येक विषय की विवेचना करते समय उसका यह लक्ष्य रहा है कि मोमांसा प्रणाली दर्शन की विविध प्रणालियों में एक प्रमुख स्थान रखती है एवं अन्य प्रणालियों से किसी भी तरह पिछड़ी हुई नहीं है।

तंत्ररत्न-उसका दूसरा ग्रन्थ है, जो कुमारिल की टुप्टीका की व्याख्या है। टुप्टीका शाबर भाष्य के अंतिम नौ अध्यायों का व्याख्यान है। इसका प्रकाशन सरस्वती भवन बनारस से स्वर्गीय श्रद्धेय डा० झा एवं श्री डा० उमेश मिश्र के संपादकत्व में हुआ है। इस ग्रंथ में श्री मिश्र ने टुप्टीका से भी बढ कर शबर स्वामी के भाष्य का विस्तार से विश्लेषण किया, क्योंकि अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण टुप्टीका उसे समझाने में असफल रही। यह ग्रन्थ न्यायरत्नमाला[1] से पश्चात् लिखा गया, पूर्व में नहीं जैसा-कि श्री राम-स्वामी ने शास्त्री ने तत्वविन्दु[2] की भूमिका में लिखा है। इसमें भी श्री मिश्र ने प्रभाकर द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों का उल्लेख व खंडन किया है। इसकी भाषा और शैली अत्यन्त सुगम, सरल और उपादेय है। मीमांसा के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए इसका पठन पाठन आवश्यक है।

उसकी तीसरी रचना शास्त्रदीपिका है—जिसके आधार पर इसे मीमांसा दर्शन का केसरी कहा जाता है। अपने इसी ग्रन्थ से उसने पूर्व मीमांसा शास्त्र में अमरकीर्ति प्राप्त की। भारतवर्ष के प्रत्येक विश्व-विद्यालय द्वारा यह ग्रन्थ पाठ्य-पुस्तक के रूप में संमानित है। इसके

१—इति न्यायरत्नमालायां दर्शितम् (तंत्ररत्न पृ, १)

२—पृष्ठ ६१

अध्ययन के विना पूर्व मीमांसा का अधिकृत ज्ञान असंभव है। यह जैमिनि के सूत्रों पर अधिकरण-क्रमानुसार व्याख्या हैं। मीमांसा की भट्ट-परंपरा का यही सबसे पहला क्रमबद्ध ग्रन्थ है। भट्ट के संपूर्ण सिद्धान्तों का तो यह एक अंगरक्षक है। ११ वीं शताब्दी में पूर्व मीमांसा को जो महनीयता का प्राप्त हुई—प्रस्तुत ग्रन्थ ही उसका एक मात्र जन्मदाता है। इसका प्रत्येक अधिकरण एक विचारशाला है—जिसके पाँचों[1] अंगों को पृथक् पृथक् विश्लिष्ट कर के विषय को और भी अधिक उपादेय बना दिया है। प्रत्येक अधिकरण के प्रारम्भ में वह संपूर्ण अधिकरण का सारांश कुछ पंक्तियों में प्रस्तुत करता है एवं फिर उसका प्रौढ़ और प्रांजल गद्य में विश्लेषण करता है।

आधुनिक काल के सभी प्रख्यात लेखकों ने इसकी व्याख्यायें कीं। सोमनाथ, अप्पय्यदीक्षित, शंकर भट्ट, राजचूड़ामणि दीक्षित एवं अन्य प्रमुख विद्वानों ने इसकी व्याख्या कर स्वयं को सौभाग्यशाली माना। इसी से इस ग्रन्थ की प्रधानता और विद्वानों में सिद्ध लोकप्रियता की उद्घोषणा हो जाती है। एक प्रकार से इस ग्रंथ ने अपनी पूर्व की रचनाओं का महत्त्व प्रभावहीन सा कर दिया एवं अनन्तरकालीन ग्रंथों के लिए यह एक आदर्श और अनुकरणीय ग्रन्थ बन गया। यही एक ऐसा ग्रन्थ है—जिसके एक मात्र अध्ययन से मीमांसा के संपूर्ण अंगों का परिज्ञान हो सकता है। विशेषतः भट्ट की ज्ञानधाराओं का तो यह भांडागार ही है।

कुमारिल और शबर स्वामी जैसे विशिष्ट विचार-शास्त्रियों के विस्तृत विवेचन के पश्चात् भी श्री मिश्र को इस दिशा में प्रवृत्त होना पड़ा—इसके दो लक्ष्य हैं। १—प्रथम प्रभाकर के मतों का खंडन—जो कि इस काल तक पर्याप्त मात्रा में प्रगतिशील हो चले थे। २—भाष्य और

१—विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
प्रयोजनञ्च पञ्चांगं प्राञ्चोऽधिकरणं विदुः॥

वार्तिक के सूत्रों की विस्तृत व्याख्या कर उन्हें सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित करना था। अपने इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में भावपक्ष के रूप में उसके प्रगाढ़ वैदुष्य व कलापक्ष के रूप में उसकी अधिकरण-व्यवस्थाने पूर्ण सहायता दी। पार्थसारथि ही दार्शनिक क्षेत्र में अधिकरण-पद्धति का जन्मदाता है-और उसका श्री गणेश इसी ग्रन्थ से हुआ है। उसकी इस प्रणाली का वेंकटनाथ, माधवाचार्य, गंगा भट्ट एवं खंडदेव ने ही नहीं, अपितु विपरीत दार्शनिकों ने भी अनुकरण किया। इससे पूर्व जैमिनि के सूत्रों पर सूक्ष्म एवं शृंखलाबद्ध व्याख्यायें प्रभाकर, कुमारिल और शबर स्वामी के द्वारा की जा चुकी थी-किन्तु पार्थ सारथि ने इस पद्धति में आमूलचूड़ परिवर्तन कर दिया। उसने सूत्रविशेष के प्रत्येक अधिकरण पर नवीन प्रणाली से विवेचन प्रारंभ किया-जिसमें आवश्यकतानुसार अन्य सूत्रों की भी चर्चा की गई। यही प्रकार अधिक लोकप्रिय हुआ और सभी विचारशास्त्रियों ने इसके महत्त्व को शिरोधार्य किया। दोनों मतों ने ही इसे उपादेय माना। सब से पहले इसका प्रयोग प्रभाकरमत के अनुयायी भवनाथ ने न्याय-विवेक में किया है। वह पार्थसारथि का समकालीन प्रतीत होता है। अस्तु, चाहे कुछ भी हो-किन्तु यह निर्विवाद है कि शास्त्रदीपिका ही इस प्रणाली का प्रथम श्रेष्ठ ग्रन्थ है-जो भाषा, शैली, प्रतिपादन और विषय सभी दृष्टियों से अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

तर्कपाद शास्त्रदीपिका का प्रथम पाद है—जो अपनी प्रौढ़ता के कारण विख्यात है। इसमें दर्शन की बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत और प्रभाकर आदि धाराओं का प्रस्तावन कर उनका खंडन किया गया है। कुमारिल और शबर स्वामी के मतों का समर्थन उसका लक्ष्य रहा है। ऐसा करते समय उसे पद पद पर यह ध्यान रहा है कि मीमांसा के दार्शनिक मंतव्य किसी अन्य दर्शन के समक्ष नत न हो जायें। आत्मवाद, मोक्षवाद, सृष्टि, ईश्वर जैसे अगाध और गंभीर विषयों पर श्री मिश्र ने पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला है और यह

विवेचन इतना पूर्ण हो गया है कि भट्ट-परंपराके अनन्तरकालीन लेखकों के लिए इन विषयों पर थोड़ी सी भी लिखने की आवश्यकता न रही। यही कारण है कि ११ वीं शताब्दी के पश्चात् तर्कपाद पर किसी ने भी विस्तृत व्याख्या नहीं की। यही मीमांसा के दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि है।

ग्रंथ का शेष भाग गंभीर और विवेचनात्मक है। प्रसंगशः अन्य शास्त्रों के उद्धरणों ने ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण बना दिया है। संक्षेप में पार्थसारथि के वैदुष्य और मीमांसा के सागर के रूप में यह ग्रन्थ भारतीय वाङ्मय के इतिहास में अपना सदा संमान्य स्थान रखेगा। श्री मिश्र की कीर्ति का यह एक अमर प्रतीक है—जो उसे सरस्वती का वरद-पुत्र सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसकी निम्नलिखित व्याख्यायें उपलब्ध हैं—

१—सोमनाथ	मयूखमालिका
२—अप्पय्यदीक्षित	मयूखावलि
३—राजचूडामणि	कर्पूरवर्तिका
४—दिनकर भट्ट	व्याख्या
५—यज्ञनारायण	प्रभामंडल
६—अनुभवानंद यति	प्रभामंडल
७—चंपकनाथ	प्रकाश
८—वैद्यनाथ	प्रभा
९—रामकृष्ण	सिद्धान्तचन्द्रिका

(तर्कपाद पर युक्तिस्नेहप्रपूरणी और गूढार्थ विवरण)

१०—शंकर भट्ट	प्रकाश
११—कमलाकर भट्ट	आलोक
१२—नारायण भट्ट	व्याख्या

१३—भीमाचार्य व्याख्या
१४—सुदर्शनाचार्य (तर्कपाद तक) प्रकाश

इनमें सबमें प्राचीन रामकृष्ण की है—जैसा कि उसने स्वयं ने उल्लेख किया है—

न शास्त्रदीपिका टीका, कृता केनापि सूरिणा।
तदपूर्वाध्वसंचारी, नोपहास्यः स्खलन्नपि॥

प्रथम होने पर भी यह सरल, विस्तृत और विवेचनात्मक है। मयूखमालिका, सिद्धान्तचन्द्रिका एवं गूढार्थविवरण के साथ इस ग्रंथ के अनेक संस्करण निकल चुके हैं—और यही पठनपाठन प्रणाली में प्रचलित है। ग्रन्थ का प्रथम संस्करण ई० जे० लजारस एण्ड कम्पनी ने मूल रूप में म० म० प्रो० राममिश्र शास्त्री के संपादकत्त्व में सुन्दर टिप्पणियों एवं प्राक्कथन के साथ प्रकाशित किया—इसके अनन्तर दो और व्याख्याएँ निर्णयसागर प्रेस ने निकालीं। कुछ संवत्सरों से पहले तर्कपाद तक का एक अंश सुदर्शन की प्रकाश के साथ प्रकाशित हुआ है। सिद्धान्तचन्द्रिका का भी यही अंश मुद्रित हुआ है। इनमें प्रकाश अत्यन्त विस्तृत व्याख्या है। व्याख्याकार का इसमें यह उद्देश्य रहा है कि कुमारिल और प्रभाकर के मतों में साम्य स्थापित किया जा सके। तर्कपाद के गम्भीर विषयों को समझने एवं मूलग्रंथ को लगाने में यह अत्यन्त उपयोगी है। ये सब व्याख्याएँ शास्त्रदीपिका की महत्ताओं का साक्षी हैं।

उसकी चतुर्थ कृति न्यायरत्नाकर-कुमारिल के श्लोकवार्तिक की व्याख्या है—यह अत्यन्त लोकप्रिय संक्षिप्त और सर्वोत्तम है। कुमारिल जैसे विचारक के गम्भीर विषयों को इस व्याख्या ने सरल और सुगम

नोट—राजपूताना विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग की ओर से आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री के संपादकत्व में वैद्यनाथ की प्रभा के साथ शास्त्रदीपिका का प्रकाशन हो रहा है।

बना दिया है। पहले शास्त्रीय और अशास्त्रीय मतों का विवेचन कर पुनः कहीं कहीं अपने स्वतन्त्र मन्तव्य भी प्रकाशित किये गये हैं। श्री मिश्र की विद्वत्ता और मौलिकता इस ग्रन्थ में स्पष्टतया झलकती है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल और सुग्राह्य है। इसकी सत्ता ने सुचरित मिश्र और उम्बेक की व्याख्याओं को प्रभावहीन कर दिया। इस ग्रन्थ से हम निम्न निर्णयों पर पहुँचते हैं—

१—भर्तृमित्र कुमारिल से पहले हुआ—जो कि शाबर भाष्य का वृत्तिकार था। २—भर्तृमित्र के विचारों के विरुद्ध कुमारिल ने मीमांसा के रूढिवादी मत को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। ३—कुमारिल ने वृहट्टीका नाम का एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा— यह श्लोकवार्तिक उसीका संक्षिप्त संस्करण है। इसमें भवदास, धर्मकीर्ति, भिक्षुक एवं दिङ्नाग जैसे बौद्ध विद्वानों का भी उल्लेख हुआ है।

श्री मिश्र के सभी ग्रन्थों का प्रकाशन देश की गणनीय प्रकाशन-संस्थाओं से संपन्न हुआ है। अनेक व्याख्याताओं ने इनके आधार पर अपनी ख्याति स्थापित की है। यह एक मीमांसा के आकाश का सूर्य है-जिससे इस दर्शन का प्रत्येक भाग प्रकाशमान है।

श्री मिश्र की शैली

यह तो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि पार्थसारथि ने अधिकरण—पद्धति का प्रवर्तन किया—इससे उसकी शैली की नवीनता और मौलिकता तो स्वतः प्रकाशित हो ही जाती है। इसके साथ साथ उसके सभी ग्रन्थों में सरल, प्रभावपूर्ण और व्यंग्यात्मक प्रणाली का प्रयोग रहा है, वह स्थान स्थान पर प्रसिद्ध लोकोक्तियों और किंवदन्तियों को उपस्थित कर विषय को और भी अधिक रोचक बनाने का यत्न करता है। विशेषकर जहाँ अपने पूर्वपक्षी का खंडन करने में इसे विशेष युक्ति एवं शक्ति प्राप्त हो जाती है—वहां यह उपहास करने में और भी आगे बढ़ जाता है। कहीं पर यदि शास्त्रीय तर्क प्राप्त नहीं होता, तो भी अपनी इस वाक्पटुता के कारण वह अपने प्रतिपक्षी का मुंह बन्द किये बिना

नहीं रहता। उसके प्रत्येक ग्रन्थ में प्रायः गद्यपद्यात्मक शैली का प्रयोग हुआ है—इसी शैली ने इसके काल से सूत्र और भाष्यों की शैलियों का स्थान ग्रहण किया। श्री रामस्वामी शास्त्री के मतानुसार "इसकी शैली को मंडन, उदयन और विमुक्तात्मा के समान जटिल नहीं कहा जा सकता, तो फिर भी वह वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट की शैली के समान रुचिकर और प्रभावोत्पादक नहीं है। उसने इस दिशा में मध्यम मार्ग को ही अपनाया और इसलिए उसके ग्रन्थ पूर्वमीमांसा के विद्यार्थियों को बिना व्याख्या के सहज ही में समझ में नहीं आते।"[1] मेरी दृष्टि में पार्थ सारथि की शैली रुचिकर चाहे न हो, किन्तु प्रभावोत्पादक अवश्य है। उसका एक एक वाक्य अपना एक निजी महत्त्व रखता है। उसकी प्रभावोत्पादकता का ही यह परिणाम है कि पूर्वपक्षी उसके सामने अनेक प्रकारों से झुक जाते हैं। रही बात उसके ग्रंथों की कठिनता की—उसमें तो केवल शैली का ही दोष नहीं है। उसके साथ साथ विषय की गंभीरता और वैदुष्य की अगाधता भी संमिलित है और वही जब प्रौढ भाषा से शृंखलित हो जाती है-तो क्लिष्टता स्वाभाविक है। विषय और भाषा की एकरूपता तो एक प्रकार का गुण है-दोष नहीं। पार्थ सारथि की शैली विषय के अनुरूप है-जहाँ पूर्वपक्षियों को परास्त करते समय उसमें तीव्रता की आवश्यकता होती है-वहाँ उसका प्रवाह गंगा की धारा से भी आगे बढने लगता है। यह नहीं कि विषय कहीं जा रहा है और भाषा कहीं। इसलिए मैं तो पार्थ सारथि की सफलता में उसके वैदुष्य के अतिरिक्त सब से बडा हाथ उसकी शैली का मानता हूँ और उसे पार्थ सारथि की अन्य प्रगतियों के समक्ष कहीं भी पिछडी हुई नहीं पाता।

पार्थ सारथिका जीवन

पार्थ सारथि के सिद्धान्तों की तरह इसके जीवन के संबन्ध में हम निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँच सके हैं। उसके सिद्धान्त जितने प्रकाश

१—प्राक्कथन-न्यायरत्नमाला

में हैं-जीवन उतना ही अस्पष्ट है। उसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ऐसा कोई उल्लेख अपनी रचनाओं में नहीं किया-जिससे हम उसके जन्मस्थान, काल एवं व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में कुछ कह सकते हों। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है-उसने केवल अपने पिता व शिक्षक के रूप में यज्ञात्मा का नाम लिया है। उसके नाम और उपनाम से यह तो निर्विवाद सा प्रतीत होता है कि वह मिथिला का निवासी था। उसका काल तो सदा से ही समालोचना का विषय रहा है। इस सम्बन्ध में किसी भी निश्चित तथ्य पर पहुँचने के लिए हमें केवल उन पूर्वतम लेखकों पर आधारित रहना पड़ता है-जिनका उल्लेख इसने अपने ग्रंथों में किया है। न्यायमालाकार माधव विद्यार्णव, प्रत्यग्रूप भगवन् एवं चिदानंद पंडित ने श्री मिश्र का नाम उद्धृत किया है। विद्यार्णव ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ और वह विजयनगर के विख्यात शासक बुक्क महापति का दरबारी था, यह भी उसकी न्यायमाला से विदित होता है। चिदानंद पंडित केरल प्रांत में ईसाकी १३ वीं शताब्दी में हुआ-जिसने अपने[१] नीतितत्वाविर्भाव में श्री मिश्र को स्मरण किया है। इसके व्याख्याकार[२] परमेश्वर द्वितीय-जिसका काल ईसा की १५ वीं शताब्दी निश्चित किया गया है-न्यायरत्नमाला[३] और शास्त्रदीपिका का काल स्वयं से पूर्व घोषित करता है। प्रत्यग्रूप भगवन् का काल भी १४०० ई० है। इन सब के अतिरिक्त पार्थसारथि की चर्चा हलायुध ने अधिक मात्रा में की है। अपने मीमांसा-शास्त्र-सर्वस्व में वह अनेक स्थानों पर न्यायरत्नमाला से साक्षात् उद्धरण लेता है। शास्त्र-दीपिका के अनेक उद्धरणों को तो इसने अपने बनकर काम में लिया है। इस ग्रन्थ का तृतीयाध्याय चतुर्थपादान्त भाग प्रकाशित हो गया है एवं इसका

१—पांडुलिपि—मद्रास सरकार प्राच्य—पुस्तकालय।

२—अन्नामलै विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित तत्वबिन्दु का प्राक्कथन।

३—एवमेव ज्ञानं संस्कारेन्द्रियाभ्यां जायमानमंशे स्मरणमंशान्तरे प्रत्यभिज्ञेति व्याख्यातं न्यायरत्नाकरः।

पांडुलिपि केवल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में उपलब्ध है। यह हलायुध स्वयं को वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व व पंडित-सर्वस्व आदि ग्रंथों का भी लेखक[१] बताता है। इसकी पूर्वोक्त रचना से यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हलायुध पार्थ-सारथि से पूर्णतया परिचित था।

यह मीमांसा-शास्त्र-सर्वस्व और मीमांसा-सर्वस्व दोनों एक ही रचनाएँ हैं—जिनका लेखक यह एक ही हलायुध है। हलायुध ने अपने ब्रह्मसर्वस्व में स्वयं को इसका लेखक घोषित किया। डा० उमेश[२] मिश्र ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। प्रो० वी० काणे[३] ने ११ वीं एवं १२ वीं शताब्दी में तीन हलायुधों की सत्ता प्रमाणित की है। उनमें हमारे प्रस्तुत विषय का नायक हलायुध बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन का धर्माध्यक्ष[४] था—यह उसके स्वयं के वाक्य व ऐतिहासिक आधारों से सिद्ध होता है। इन्हीं महाराज लक्ष्मणसिंह ने बंगाल में ११५० से १२०० ई० तक राज्य किया। इनके राज्याभिषेक की तिथि सन् ११७८[५] प्राप्त होती है। हलायुध पहले इन्हीं के आश्रय में राजपंडित रहा और पुनः उसे धर्मार्थ-विभाग का अध्यक्ष बनाया गया। ऐसी स्थिति में हलायुध के साहित्य निर्माण का काल तो ११५०

१—मीमांसासर्वस्वं वैष्णवसर्वस्वमकृत् शैवसर्वस्वम्।
पंडितसर्वस्वमसौ सर्वस्वं सर्वधीराणाम्॥ (ब्रह्मसर्वस्व १६)

२—जर्नल-बंगाल रिसर्च सोसाइटी वाल्यूम, २० प्राक्कथन।

३—ध. शा. इ. ३०० पृ.।

४—बाल्ये ख्यापितराजपंडितपदः श्वेतांशुबिम्बोज्वल-
च्छत्रोत्सिक्तमहामहत्तनुपदं दत्वा नवे यौवने।
तस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलक्ष्मापालनारायणः।
श्रीमान् लक्ष्मणसेनदेवनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ॥ (ब्रा.स.१२ श्लो.)

५—अद्भुतसागर (११६८—६६ ई०) वा सदुक्तिकर्णामृत

से १२०० तक होना चाहिए, एवं जबकि वह पार्थसारथि के सिद्धान्तों का महान् आदर के साथ स्मरण करता है—तो फिर पार्थसारथि का समय उससे कम से कम ५० वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिए। इन आधारों पर ११०० ई० सन् न्यूनतम काल के रूप में प्रमाणित होता है।

आदरणीय[1] राम स्वामी शास्त्री को इस इतनी विस्तृत परिधि से संतोष नहीं हो सका और उनने इस दिशा में अधिकतम समय निर्धारण करने का भी प्रयत्न किया। उनने आधुनिक काल के लेखकों में मंडन मिश्र, शालिकनाथ मिश्र और वाचस्पति मिश्र को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में श्री मिश्र की रचनाओं में उद्धृत पाया। शालिकनाथ, मंडन मिश्र और वाचस्पति मिश्र के मध्य हुआ। उसने अपनी प्रकरण[2] पंचिका एवं ऋजुविमला[3] में मंडन मिश्र का व वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्यायकणिका में उसका (शालिकानाथ) उल्लेख किया है। इसलिए शालिकनाथ का समय ८ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध हो सकता है, तो वाचस्पति का ७ वीं शताब्दी का मध्य भाग। वाचस्पति की न्यायकणिका से पार्थ-सारथि[4] परिचित प्रतीत होता है—अतः ९०० ई० से पहले व ११०० के पश्चात् उसकी संभावना नहीं की जा सकती।

इतना ही नहीं, और भी ऐसे आधार हैं—जिनसे इस सीमा को और भी संकुचित किया जा सकता है। अपने तर्कपाद में विभिन्न मतों की समालोचना करते समय वह श्रीभाष्य के रचयिता रामानुज और उदयन का खंडन नहीं करता। इनमें रामानुज का समय १०२७ ई० एवं उदयन का दशम शताब्दी[5] का अंतिम चतुर्थांश सिद्ध है। यदि

१—न्यायरत्नमाला-प्राक्कथन। २—१७८ पृ. प्र., वि वि. पृ. २४३. ३०२।

३—ऋ. वि. पृ. २०।

४—न्या. र. ८३।८४।

५—लक्षणावलि-ले० उदयनाचार्य।

वह इन दोनों के सिद्धान्तों से परिचित होता; तो अवश्य उनका भी खंडन के लिए उपादान करता। उसने प्रभाकर के अनुयायी भवनाथ[1] के शब्द-सम्बन्धी मत का अवश्य खंडन किया है अतः भवनाथ उसका प्राक्कन समकालीन सिद्ध होता है। इन सब विवेचनों से संक्षेप में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पार्थसारथि का काल दशम शताब्दी का मध्यभाग (उदयन और रामानुज से पूर्व) है। रामानुज और उदयन उसे ऊपर नहीं ले जाने देते, तो हलायुध इसे और नहीं उतरने देता। इन तथ्यों पर ऐतिहासिकों की मोहर अपेक्षित है।

७—भवदेव भट्ट

भवदेव भट्ट भी भट्ट-परंपरा का एक विख्यात लेखक है—इसने मीमांसा के भट्ट मत पर "तौतातितमततिलकम्" नामक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की—जिसका प्रकाशन प्रिंसेज ऑफ वेल्स सरस्वती भवन टैक्स सीरिज से डा० मंगलदेव शास्त्री, चिन्नस्वामी शास्त्री एवं पट्टाभिराम शास्त्री के संपादकत्व में हुआ है। भट्ट का लोकप्रिय नाम तौतात था और उसी के आधार पर इस ग्रन्थ का नामकरण इस रूप में किया गया है। धर्म शास्त्र पर भवदेव के अनेक ग्रन्थ हैं। इसका निवासस्थान बंगाल व काल ११ वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। इसके ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त सरल व प्रवाहमय है। विषय और भाषा दोनों पर इसे भट्टमत की दृष्टि से अच्छा अधिकार है।

८—सोमेश्वर भट्ट "राणक"

सोमेश्वर भट्ट भी एक स्वतंत्र विचारक हुआ है—यह माधव भट्ट का पुत्र था—जिसका काल ११०० ई० निश्चित हुआ है। उसने भट्ट के

१—कश्चित्त्वेकेन्द्रियग्राह्यतया रूपादिवच्छब्दं गुणमिच्छति, तस्यापि वायवजैकान्तिकत्वम्। स्पर्शविरहे सतीति विशेषणेऽपि गौरवरूपत्वादि-सामान्येषु व्यभिचारः।
(न्या. र. ३२७)

तंत्रवार्तिक पर न्यायसुधा, सर्वोपकारिणी, सर्वनिबन्धकारिणी या राणक के नाम से व्याख्या की—जो अत्यन्त विस्तृत व विख्यात है। अनन्तरकालीन लेखकों ने स्थान स्थान पर इसके विचारों का उल्लेख किया है और कहीं कहीं तो उनकी तीव्र एवं कटु आलोचना भी की है। पूर्वमीमांसा के वृत्तों में यह कहीं कहीं पार्थसारथि से विभिन्न मत रखता है। इसको प्रस्तुत व्याख्या का प्रकाशन हो चुका है। यह एक साहित्यिक परिपाटी पर लिखी गई है और इसी के कारण इसका उपनाम "राणक" पड़ गया है। इसका दूसरा ग्रन्थ तंत्रसार है-जो अभी तक अप्रकाशित है। किन्तु वह अपनी न्यायसुधा में उसका उल्लेख करता है। १७ वीं शताब्दी के तंत्रवार्तिक व्याख्याकार कमलाकर भट्ट ने तो अपने व्याख्यान में स्वयं को "राणकचोर" (चौ. सं. सी.) तक कहा है-इसी से राणक की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

९—परितोष मिश्र

तंत्रवार्तिक का दूसरा व्याख्याता परितोष मिश्र है-जिसका काल १२०० ई० एवं निवास-स्थान मिथिला है। अत्यन्त सरल और विवेचनात्मक पद्धति पर इसने तंत्रवार्तिक पर अजिता अथवा तंत्रटीका-निबन्धन नाम की व्याख्या की। यह व्याख्या वार्तिक को समझाने में अत्यन्त सहायक है, पर दुर्भाग्य है कि इसका प्रकाशन अब तक भी संपन्न नहीं हो सका है। इसकी पांडुलिपि भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट व मद्रास-लाइब्रेरी में सुरक्षित है। अजिता एक अधिकृत और प्रिय व्याख्या है-यही कारण है कि उस पर भी सूर्य विष्णु मिश्र के पुत्र व मिथिला के निवासी अनन्तनारायण मिश्र ने चतुर्दश शताब्दी में विजया के नाम से व्याख्या की-अत एव वह अजिताचार्य के नाम से विख्यात भी हुआ।

१०—हलायुध भट्ट

पार्थ-सारथि मिश्र के प्रकरण में हलायुध भट्ट का विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है। यह वात्स्यायन गोत्र के धनञ्जय और

जानि का पुत्र था। बङ्गाल का निवासी एवं ११ वीं शताब्दी में विद्यमान था। इसका मीमांसा-शास्त्रसर्वस्व जैमिनि सूत्रों पर अधिकरण-क्रमानुसार व्याख्या है-जिसका संपादन व प्रकाशन म. म. डा. उमेश मिश्र ने चतुर्थपाद के तृतीयाधिकरण तक बिहार और उडीसा रिसर्च सोसाइटियों के तत्वावधान में किया है। इससे अग्रिम भाग उपलब्ध नहीं होता, अतएव इसके अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्राक्कथन में श्री उमेश मिश्र ने इसे एक असफल लेखक घोषित किया है-जब कि बङ्गालियों ने इसे मीमांसा का अधिकृत लेखक माना है। यह ग्रन्थ सर्वथा असंबद्ध एवं असन्तोषजनक है-इसके अध्ययन से न इसके अध्ययन की ही गंभीरता प्रतीत होती है व न परिश्रम की ही। स्थान स्थान पर शास्त्रदीपिका एवं तन्त्रवार्तिक का अनुकरण कर काम चलाया गया है। इसके अन्य ग्रंथ भी हैं-जिनके विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

११—चिदानन्द पंडित

यह नीतितत्त्वाविर्भाव का लेखक था-जो अभी तक अमुद्रित है। यह एक प्रमुख ग्रन्थ है-जिसमें कुमारिल के आधार पर भिन्न भिन्न वादों की विवेचना की गई है। इसके काल के सम्बन्ध में पहले ही लिखा जा चुका है। यह दक्षिण का निवासी था। परमेश्वर द्वितीय ने प्रस्तुत ग्रन्थ की व्याख्या की-इससे भी इसका महत्त्व पुष्ट हो जाता है।

१२—गंगाधर मिश्र

यह मिथिला के सीमारि नामक गाँव का निवासी व भट्ट सोमेश्वर का आत्मज था-जैसा कि उसने स्वयं[1] उल्लेख किया है। तंत्रवार्तिक पर न्यायपरायण नामक व्याख्या की। इसका काल १२३० एवं १३०० ई० का मध्य भाग निश्चित हुआ है।

१—शाल्मलिग्रामसम्भूतः, भट्टसोमेश्वरात्मजः।
गंगाधरोऽतिगंभीरं, व्याकृणोत तंत्रवार्तिकम् ॥

१३—वेदान्तदेशिक

वेदान्त के विशिष्टाद्वैत मत का यह एक विख्यात आचार्य है। दक्षिण के कांजीवरम् में अनुमानतः १२६६ ई० में इसका जन्म हुआ। इसने मीमांसा पर मीमांसापादुका एवं सेश्वरमीमांसा के नाम से दो ग्रंथ लिखे-जिनमें मीमांसापादुका एवं उसके कुछ अग्रिम अंश का प्रकाशन काञ्जीवरम् से हुआ है। मीमांसापादुका तर्कपाद तक पद्यमय व्याख्या है एवं सेश्वरमीमांसा अग्रिम भाग का गद्यमय विश्लेषण। गद्य और पद्य दोनों पर इसे समान अधिकार है। इसका जीवन और विचार वेदान्त से पूर्ण प्रभावित है। "सेश्वर-मीमांसा" यह नामकरण भी उसकी इसी विचारधारा का द्योतक है। वेदान्त-दर्शन के अनुयायी इसे अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

१४—माधवाचार्य

परिचय—

आचार्य पार्थ-सारथि मिश्र के अनन्तर होने वाले लेखकों में माधवाचार्य का स्थान प्रमुख है। यह माधव अनेक शास्त्रों का विद्वान् था। इसके जीवन के संबन्ध में पर्याप्त प्रकाश इसने स्वयं ने अपने ग्रंथों में व अन्यत्र भी डाला गया है। इसकी मां का नाम श्रीमती[1] और पिता का नाम मायण था। यह मायण संगम महाराज का मंत्री था, एवं सायण और भोगनाथ नामके इसके दो भाई थे। यह भी अपने पिता की तरह उसी परंपरा के वीर बुक्क महीपति का कुलगुरु

१—पराशरमाधवीये—

श्रीमती जननी यस्य, सुकीर्तिर्मायणः पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ ॥
बौधायनं यस्य सूत्रं, शाखा यस्य च याजुषी।
भारद्वाजं कुलं यस्य, सर्वज्ञः स हि माधवः ॥

और मंत्री [२] था। यह सायण और भोगनाथ इन दोनों से बड़ा था। यह कलकत्ता [१] से १८६० ई० में मुद्रित तैत्तिरीयसंहिता की भूमिका में दिये गये उद्धरणों से विदित होता है। यह सायण शब्द कहीं कहीं वंश का भी वाचक बन गया है। खैर, इन सबका विवरण प्रस्तुत करने की अपेक्षा इतना ही कह देना पर्याप्त है कि सायण और माधव नाम से इन दोनों बन्धुओं ने वैदिक साहित्य की अमर सेवा की है।

काल--

बुक्कमहीपति का मंत्री होना एक ऐसा आधार है-जो माधव के काल-निर्णय में सहायता पहुँचा सकता है। यह बुक्कमहीपति[२] विजय नगर का शासक था। इसके बाद हरिहरेश्वर प्रतापराय और फिर उसके आत्मज विजय भूपति ने इस नगर का राज्य किया। यह विजय भूपति १३३८ शक में (१४१६ A. D.) विद्यमान था—ऐसा इतिहास से प्रमाणित होता है। यदि इसी आधार से देखा जाये, तो इससे दो पीढी पूर्व होने के कारण आनुमानिक ५० वर्ष के व्यवधान से १२८८ शक (१३६६ A. D.) बुक्क राजा का काल निश्चित किया जा सकता है। ई० सन् १८७७ की इंडियन एनएटीक्वेटी[३] में पंडित लेसन् ने बुक्क राजा का शासन काल सन् १३६५ से ७० तक अवश्य स्वीकृत किया है। जो भी उपर्युक्त कथन ही का पोषक है। महेशचन्द्र न्यायरत्न ने [४] इसका काल १८३५ ई० एवं जरमान महोदय ने

२—इन्द्रस्याङ्गिरसो नलस्य सुमतिः शैब्यस्य मेधातिथिः।
धौम्यो धर्मसुतस्य वैन्यनृपतेः स्वौजा निमेर्गौतमिः॥
प्रत्यग्दृष्टिररुन्धतीसहचरो रामस्य पुण्यात्मनो।
यद्वत्तस्य विभोरभूत्कुलगुरुमन्त्री तथा माधवः॥ (न्यायमाला-उपो०)

१—स ह्याह नृपत राजन्-सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां, व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्॥

२—काव्यमाला-स्थित प्राचीन लेखमाला का ४४ वां लेख।

३—पृष्ठ -१६२

४—काव्यप्रकाश-भूमिका पृष्ठ २२, कलकत्ता-संस्करण सन् १८६६ ई०।

आनन्दतीर्थ के साथ इसका अभेद मानते हुए ११६६ ई० निश्चित किया है-जो दोनों ही निराधार प्रतीत होते हैं।

अगाध विद्वत्ता और रचनायें—

यह बुक्क महीपति वैदिक साहित्य का पूर्ण विद्वान् और जिज्ञासु था—ऐसा इसके जीवन-वृत्त से विदित होता है। उसने माधव जैसे मनीषी को अपना प्रधान मंत्री चुना, यह भी उसकी चतुरता का ही साक्षी है। उसने स्वयं वेदार्थ के[1] प्रकाशन में माधव को नियुक्त किया। उसके आदेश पर माधव ने पाराशरस्मृतिव्याख्या, कालनिर्णय, जैमिनीयन्यायमाला-विस्तर, यजुर्वेद भाष्य, ऋग्वेद भाष्य, सामसंहिता-भाष्य, पंचविंश-ब्राह्मण-भाष्य, षड्विंश-ब्राह्मण-भाष्य और सर्वदर्शन-संग्रह जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की जिससे हम माधव की अगाध विद्वत्ता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। इसे यह सार्वदेशिक ज्ञान अपने सर्वज्ञ गुरु श्री विष्णु[2] से प्राप्त हुआ।

अपनी संपूर्ण रचनाओं के प्रारंभ में इस मनीषी ने शास्त्रीय परंपरा के अनुसार अपने व्यापक उद्देश्य का परिचय अवश्य दिया है। मुख्यतया वेद के अपार और अगाध ज्ञान को जनता की संपत्ति बना देना ही इसका लक्ष्य रहा है- जिसकी सफलता और पूर्ति में किसी भी विचारक को संशय नहीं है। अपनी रचनाओं में इस महामना ने लौकिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाला। सर्व-प्रथम वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या की-जिससे हम अपनी दैनिक चर्या का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकें। और इसके पश्चात् विशेषतः तत्कालीन

१—आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने।

२—पारंगतं सकलदर्शनसागराणा—

मात्मोचितार्थचरितार्थितसर्वलोकः।

श्रीशार्ङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं

सर्वज्ञविष्णुगुरुमन्वहमाश्रयेऽहम्॥ (सर्वदर्शनसंग्रह)

द्विज[१] समाज के उत्थान के लिए यह वैदिक अर्थ की व्याख्या की ओर प्रवृत्त हुआ। ऐसा करते हुए उसने केवल उपदेश देना ही अपना काम नहीं माना, अपितु स्वयं ने उस प्रकार का आचरण कर अपने आपको गौरवान्वित माना तथा अपनी इस श्रुतिस्मृतिसदाचारपालकता की गर्व के साथ उद्घोषणायें कीं।

न्यायमाला उसका मीमांसा–दर्शन पर १२ अध्यायों में पद्यमय अधिकृत ग्रंथ है। यद्यपि इसी प्रणाली पर पार्थ–सारथि ने शास्त्रदीपिका की रचना की, फिर भी वह अत्यन्त दुरूह थी। इसे सहज ही समझाने की दृष्टि से माधव ने यह प्रयास किया–ऐसा उसकी न्यायमाला के उपोद्घात से स्पष्ट होता है। न्यायमाला की भाषा और प्रतिपादन की प्रणाली पार्थ सारथि की अपेक्षा अत्यन्त सरल और सुगम है। एक ही अधिकरण के तीन चार पद्यों से इसने भट्ट और प्रभाकर दोनों के सिद्धान्तों का सूक्ष्म परिचय दे दिया है। मीमांसा–दर्शन के संबन्धित प्रणालियों और आवश्यक संगतियों पर इसने पहले ही अपने उपोद्घात में सामान्य वक्तव्य सा दिया है। वैदिक साहित्य में भक्ति होने के कारण मीमांसा–दर्शन पर इसकी विशेष आस्था प्रतीत होती है। इतना ही नहीं-उसे अपनी न्यायमाला के गद्यमय विस्तर लिखने का भी कष्ट करना पड़ा–जिससे इस ग्रंथ के चार चांद लग गये। विस्तर की रचना उसने न्यायमाला को संपूर्ण करने के अनन्तर की, ऐसा विस्तार के पंचम[२] और षष्ठ पद्य से विदित होता है। निश्चय ही यदि न्यायमाला नहीं होती, तो इस विषय को हम इतना सुगम नहीं देख पाते। माधव ने मीमांसा–सागर

१—श्रुतिस्मृतिसदाचारपालको माधवो बुधः।
स्मार्तं व्याख्याय सर्वार्थं, द्विजार्थं श्रौत उद्यतः॥ (जैमिनीयन्यायमाला)

२—स खलु प्राज्ञजीवातुः सर्वशास्त्रविशारदः।
अकरोज्जैमिनिमते न्यायमालां गरीयसीम्॥
तां प्रशस्य सभामध्ये, वीरश्रीबुक्कभूपतिः।
कुरु विस्तरमस्यास्त्वमिति· ·माधवमादिशत्॥

को पुष्करिणी बनाने की जो प्रतिज्ञा इसके प्रारंभ में की थी-यह उसी की पूर्ति का प्रमाण है।

सर्वदर्शन-संग्रह और वेदभाष्य उसके गंभीर दार्शनिक अध्ययन के प्रतिपादक हैं। वैदिक साहित्य का प्रत्येक जिज्ञासु इस वास्तविक तथ्य से परिचित है कि यदि माधव नहीं होता, तो आज वेद को समझने में हमें कितनी कठिनाइयां होतीं। मेरा तो यह दावा है कि माधव के भाष्य ही एक ऐसे आधार हैं-जिनके कारण हम वेद की अगाध ज्ञान-राशि का लाभ उठाते हैं। वैदिक संस्कृति की रक्षा का यह एक प्रमुख स्तम्भ है। यही इसके प्रति अमर कृतज्ञ रहने के लिये पर्याप्त है।

१५ इन्द्रपति ठाकुर

यह रुचिपति उपाध्याय का पुत्र, गोपाल भट्ट का शिष्य एवं मथुरा का निवासी था। मुरारि मिश्र के अनर्घराघव की इसने अधिकृत व्याख्या की। मीमांसा-दर्शन पर इसने "मीमांसा-पल्वल" नामक ग्रंथ की रचना की। सन् १४५० ई० में यह मिथिला के शासक भैरव सिंह के यहाँ विद्यमान था-जिससे हम सहज ही इसका काल १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित कर सकते हैं।

१६ गोविन्द ठाकुर

यह मिथिला के भदौरा गांव का निवासी एवं बुधवादास का वंशज था। इसकी माता का नाम सोनी देवी तथा पिता का नाम केशव ठाकुर था। इसके द्वारा लिखा हुआ "काव्य-प्रदीप" अत्यन्त प्रसिद्ध है। मीमांसा पर इसने "अधिकरणमाला" नामक ग्रंथ लिखा-जो मीमांसा के अधिकरणों का एक संक्षिप्त संकलन है। इसका जन्म सन् १४७८ ई० माना जाता है।

१७ देवनाथ ठाकुर—

यह मिथिला का निवासी और काव्य-प्रदीप तथा अधिकरणमाला के लेखक उपर्युक्त विद्वान् गोविन्द ठाकुर का पुत्र था। इसके सात अन्य

भाई भी अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। मीमांसा पर "अधिकरण-कौमुदी" नामक इसका ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है-जो भारत के संपूर्ण विश्वविद्यालयों की अध्ययन-परिपाटी में आदृत है। मीमांसा और धर्मशास्त्र का सदा से ही अटूट संबन्ध रहा है-इसी दृष्टि को रखते हुए इसने इस ग्रन्थ में उन्हीं अधिकरणों को विशेष रूप से उद्धृत किया है-जिनका किसी न किसी प्रकार से धर्म-शास्त्र से संबन्ध हो। वह स्वयं इसी उद्देश्य को अपने प्रतिज्ञा-वाक्य में भी[1] प्रकट करता है। यह छोटी सी पुस्तक देवनाथ की शैली के कारण विशेष उपादेय बन गई है। यह ग्रंथ लिखकर ही देवनाथ इतिहास में अपना एक स्थान बना गया। उसे अपने जीवन-काल में ही पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। उसी की आज्ञानुसार पक्षधर मिश्र के "आलोक" की पांडुलिपि प्रस्तुत की गई-यह इसकी प्रामाणिकता[2] का सूचक है। सन् १५६२ में यह विद्यमान था-अतः सोलहवीं शताब्दी इसका काल निर्धारित किया जा सकता है।

१८—रामकृष्ण भट्ट—

पार्थ सारथि मिश्र की शास्त्र-दीपिका के अधिकृत व्याख्याकार के रूप में रामकृष्ण भट्ट एक विख्यात विद्वान् हो गया है। मीमांसा और वेदान्त का अध्ययन अध्यापन इसके यहाँ कुलपरंपरा से प्राप्त था-यह इसकी स्वयं की उक्तियों से विदित होता है। पूर्वजों से ही इसके परिवार में भगवान् रामचन्द्र की भक्ति चली आ रही थी और इनने धर्म तक को रामचन्द्रमय माना है। इसका पिता माधव वेदान्त का विशेष विद्वान् था और इसकी माता का नाम प्रभावती था। यह मालव के आदि निवासी पाराशर गोत्र के थे-एवं माधव ही सबसे पहला व्यक्ति था-जो सपरिवार

१—धर्मशास्त्रेऽधिकरणं, विचारेषूपकारकम्।
विदुषा देवनाथेन निर्बंधेन निबध्यते॥

२—"सं० ४४३ चैत्र बदी एकादश्यां चन्द्रे. महामहाठक्कुर श्री देवनाथ महाशयनुशासनात् राघवेण लिखितम्"

बनारस में आकर बसा-यहीं उसका अध्ययन हुआ था और यहीं रामकृष्ण का जन्म। रामकृष्ण विद्वत्ता के क्षेत्र में अपने पिता से भी आगे बढ़ा और उसने अनेक ग्रंथों की[1] रचनायें कीं- जैसा कि शास्त्र-दीपिका की टीका के प्रारंभ में उसने कहा है,पर दुर्भाग्य है कि उन सब में शास्त्रदीपिका की केवल तर्कपादान्त टीका ही सिद्धान्तचन्द्रिका के नाम से उपलब्ध है। यह उसने अत्यन्त अनुसन्धान, योग्यता और परिश्रम के साथ लिखी है। इससे पहले शास्त्रदीपिका की कोई[2] टीका नहीं लिखी गई और आगे लिखी जाने वाली टीकाओं में भी इतनी प्रौढता नहीं आ सकी। यह एक मौलिक ग्रन्थ बन गया है-इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अपनी प्रौढ भाषा[3] में श्री भट्ट ने प्रसंगशः मीमांसा के साथ साथ संपूर्ण विषयों की शास्त्रीय चर्चा प्रस्तुत की है। इसे अपने जीवन-काल में अतिशय आदर मिला-उसकी यह "भट्ट" उपाधि जो उसे महाराज गोपीनाथ से मिली-इसी की सूचक है। उसे इसी प्रकार "पंडित-शिरोमणि" आदि अन्य उपाधियों से भी विभूषित किया गया। हमें इसकी अन्य कृतियों की खोज करनी चाहिए।

१६ रघुनाथ भट्टाचार्य

भट्टाचार्य विशेषण इसे बंगाली सिद्ध करता है-उसके अतिरिक्त उसके जीवन के विषय में कुछ भी विदित नहीं है। मीमांसा-दर्शन में उसने "मीमांसा-रत्न" नामक ग्रन्थ-लिखा जिसमें प्रमाण, प्रमेय और विधि का विवेचन है। इसके प्रथम भाग की पांडुलिपि बनारस के शाहजहाँ के समकालीन कवीन्द्राचार्य सरस्वती के पुस्तकालय में उपलब्ध हुई है-जिससे इसका काल १६ वीं शताब्दी विदित होता है।

१— ततद्ग्रन्थनिर्माणात , स्वविद्या प्रकटीकृता।

२— न शास्त्रदीपिका-टीका, कृता केनापि सूरिणा।
मदपूर्वाध्वसंचारी, नोपहास्यः स्खलन्नपि॥

३— नानाग्रन्थस्थितं सर्वं प्रमेयं फक्किकाश्च ताः
संक्षिप्य लिखता नात्र कलितं लिखितं मया।

२० अन्नम्भट्ट

दर्शन-साहित्य में अन्नम्भट्ट का नाम उसकी एक छोटी सी पुस्तक तर्क-संग्रह के लिए बहुत विख्यात है। यह वैशेषिक-दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त संकलन है-जो प्रारंभिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के पदार्थ सम्बन्धी सामान्य ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसने स्वयं ने इस पर दीपिका के नाम से एक व्याख्या लिखी। इसका काल १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। यह अद्वैत-संप्रदाय के विख्यात विद्वान् तिरुमलाचार्य का पुत्र था और काशी का रहने वाला था। मीमांसा-दर्शन का भी यह अच्छा विद्वान था[१]। मीमांसा पर इसने सुबोधिनी नाम से तंत्रवार्तिक की व्याख्या एवं राणकफक्किका-व्याख्या, राणकोज्जीविनी अथवा राणकभावनाकारिकाविवरण के नाम से सोमेश्वर की न्यायसुधा की व्याख्या की। ये दोनों ही ग्रंथ अमुद्रित हैं। दूसरी व्याख्या केवल ४४ श्लोकों तक ही सीमित है। इतना होते हुए भी अन्नम्भट्ट मीमांसा-दर्शन के नाम पर ख्याति प्राप्त न कर सका-जितनी ख्याति उसे तर्कसंग्रह जैसी छोटी सी पुस्तिका से मिली।

२१ अप्पय्य-दीक्षित

यह अपने काल का एक इतना प्रसिद्ध विद्वान् रहा है-जिसकी विद्वत्ता की दुन्दुभि सारे भारत वर्ष में बजी। संस्कृत साहित्य का तो ऐसा कोई मुख्य विषय शेष ही नहीं रहा-जिस पर इस महामना की छाप न हो। प्रायः १०० से ऊपर ग्रन्थ इसने लिखे-संस्कृत-साहित्य में तो शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हुआ हो-जिसके ग्रंथों की मात्रा इतनी हो एवं जिसका अध्ययन और प्रतिभा इतनी व्यापक हो। परंपरा से वैदुष्य इसकी बपौती थी। यह आचार्य दीक्षित का पौत्र एवं रंगराजाध्वरिन् का पुत्र था। इसका गोत्र भारद्वाज था। इसका पिता विजय नगर के शासक कृष्णराज का समकालीन था-इसी से इसके काल का सहज ही अनुमान

१—काश्यां गमनमात्रेण नानंभट्टायते द्विजः (इसी की उक्ति)

लगाया जा सकता है। विद्वान् लोग उसे स्पष्ट करने के लिए सन् १५२० से सन् १५६३ के मध्य तक संकुचित करते हैं। जैसा कि इसके नाम से विदित है-यह दक्षिण का निवासी था, किन्तु अपने वैदुष्य के कारण भारत का कोना कोना इसका संमान करता था। वहीं से बनारस में आकर तत्कालीन प्रसिद्ध मीमांसक श्री खंड देव मिश्र को इसने अपना विधि-रसायन बताया। कहते हैं कि खंडदेव इससे बहुत मुग्ध हुए।

अपने सार्वदेशिक अपिच सर्वतोमुख वैदुष्य के कारण श्री दीक्षित सदा से ही-विशेषतः अपने जीवन-काल में ही विद्वानों की समालोचना का विषय रहा है। उसके संबन्ध में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं-जिनकी चर्चा इस छोटे से प्रसंग में नहीं की जा सकतीं। यहाँ तो संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस महामना को भाषा और विषय दोनों ही पर समान और व्यापक अधिकार था। उसके प्रत्येक ग्रन्थ में पद पद पर इसका वैदुष्य टपकता है। कुवलयानन्द इसका एक अधिकृत अलंकार ग्रंथ है-जिसको साहित्य के क्षेत्र में प्रचुर संमान प्राप्त है। मीमांसा पर विधिरसायन, वादनक्षत्रमाला, उपक्रम-पराक्रम, शास्त्रदीपिका की टीका मयूखावलि ,धर्म-मीमांसा-परिभाषा आदि इसके उच्चकोटि के विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं-जिनमें विधि-रसायन और वादनक्षत्रमाला के अतिरिक्त सभी अप्रकाशित हैं। जैसा कि इसके ग्रंथों के विषयों से विदित होता है-इसने एक एक संक्षिप्त से संक्षिप्त विषय पर अपनी स्फीत भाषा में मननपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।

विधि-रसायन-पद्यमय ग्रंथ है-जिसकी विवेकसुखोपजीवनी के नाम से गद्यमय व्याख्या है। यह ग्रन्थ कुमारिल के मतानुसार लिखा गया है और उसी के स्पष्टीकरण के लिए यह व्याख्या भी प्रस्तुत की गई, यह वह[1] स्वयं स्वीकार करता है। इसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत

१—यत्कुमारिलमतानुसारिणा निर्मितं विधिरसायनं मया।
पद्यरूपमनतिस्फुटाशयं, तत्सुखावगतये विविच्यते॥

सीरिज से हुआ है। विधि मीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण विषय ही नहीं, अपितु इसी पर मीमांसा की पृष्ठभूमि आधारित है। इसके संबन्ध में अनेक प्रकार के आक्षेप किये गये हैं—जिनका निराकरण करते हुए श्री दीक्षित ने इस तत्त्व को मार्मिक दृष्टि से समझाया है। यदि यह ग्रंथ नहीं लिखा जाता तो निश्चय ही हम विधि के संबन्ध में इतने प्रकाश में नहीं आ पाते।

वाद-नक्षत्रमाला—उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण और प्रकाशित ग्रंथ है। मद्रास से इसका प्रकाशन हुआ है। यह भाष्य के अनुसार लिखी गई है—उसका एक अंग है फिर भी[१] स्वतंत्र है—यह लेखक का प्रारंभिक वचन रहा है—इसी से इसके विषय में हमें एक स्पष्ट दृष्टिकोण प्राप्त होजाता है। यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि इसके सभी ग्रन्थ समालोचनात्मक हैं—जिनका एक एक तत्त्व पर्याप्त वजनदार है। वादनक्षत्रमाला का तो एक एक विषय विशेषतया गंभीर है। हिंसितार्थ का विचार, प्रपंचसत्ता का निराकरण, स्वप्न की अयथार्थता, आदि शास्त्रीय विषयों के साथ साथ श्री दीक्षित ने इस ग्रंथ में मीमांसा और वेदान्त की भिन्नता प्रमाणित करने के लिए भी एक स्वतन्त्र प्रकरण "ऐकशास्त्रनिराकरणवाद" के नाम से प्रस्तुत किया है। इसके सभी प्रसंगों में अन्य शास्त्रों के वैदुष्य का पर्याप्त ज्ञान अपेक्षित है और इसके ग्रन्थ हमें डिंडिमघोष के साथ यह सूचित कर रहे हैं कि मनुष्य को कभी भी अपना ज्ञान एकदेशीय नहीं रखना चाहिए। यही एक ऐसा कारण है—जिससे हम उन्हें सहज ही में समझ नहीं पाते। वादनक्षत्रमाला उन सब में इस दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। मीमांसा और वेदान्त की भिन्नता सिद्ध करने के लिए दीक्षित से बढ़कर कोई अधिकारी भी

१—शेषीभवदपि भाष्ये स महति सत्रेऽग्निहोत्रमिव।
स्वातन्त्र्येण प्रकरणमर्थप्रतिपादने समर्थमिदम्॥

(वादनक्षत्रमाला २)

क्या हो सकता था, क्योंकि यह इन दोनों ही शास्त्रों का पारंगत था। बड़ी रुचि के साथ उसने फल और विषय दोनों का पार्थक्य सिद्ध करते हुये इस विषय को प्रस्तुत किया है—जो व्यावहारिक होने के कारण मनोरंजक भी बन गया है। उसने इसी प्रसंग में एकशास्त्रवादियों को फटकारा तक भी है। चाहे कुछ हो—निश्चय ही मीमांसा और वेदान्त को आज जो हम स्वतंत्र रूप में देख रहे हैं—उसका अधिक श्रेय दीक्षित को है। मैं तो स्वयं इस प्रसंग पर "दर्शन और मीमांसा" शीर्षक प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ। प्रस्तुत ग्रंथ में इसने भिन्न भिन्न विचारों को एक एक कक्षा के रूप में विभाजित किया है—जिन्हें हम एक एक कोटि कह सकते हैं। ये कोटियां किसी किसी प्रसंग में तो दर्जनों से ऊपर तक भी पहुँच गई हैं—इसी से हम इस महामनीषी के विद्या-विभव का अनुमान लगा सकते हैं। संक्षेप में इसके ग्रन्थों की अगाधता तक पहुँचने के लिए अत्यन्त व्यापक वैदुष्य और गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है। इसके साथ साथ अप्पय्य दीक्षित के उन सब ग्रंथों की खोज और प्रकाशन का भी महत्त्व है—जो अभी अप्रकाश में हैं। हर्ष है कि श्रद्धेय भारत के उपराष्ट्रपति डा० श्रीराधाकृष्णन् की अध्यक्षता एवं महामहोपाध्याय श्रीचिन्न स्वामी शास्त्री की संचालकता में निर्मित एक समिति इस दिशा में पूर्ण प्रगति कर रही है। इस कार्य के लिए श्री चिन्नस्वामी शास्त्री सारे भारत का दौरा भी कर रहे हैं और उन्हें इस विद्वान् से संबन्धित पर्याप्त सामग्री भी उपलब्ध हो चुकी है। इस विद्वान् की व्यापक सेवा के कारण संस्कृत साहित्य इसका शाश्वत ऋणी रहेगा।

२२ विजयीन्द्रतीर्थ

यह अप्पय्य दीक्षित का समकालीन था। इसके गुरु का नाम सुरेन्द्र तीर्थ था। मीमांसा पर उसने १ न्यायाध्वदीपिका २ मीमांसा-न्यायकौमुदी, ३ उपसंहारविजय नाम से तीन ग्रंथ लिखे-जो सभी

अमुद्रित हैं। पहले दो ग्रंथों में जैमिनि के सूत्रों की व्याख्या की गई है। इसके सभी ग्रंथों की शैली अत्यन्त सरल और सुगम है।

२३ वेंकटेश्वर दीक्षित

यह भी अप्पय्य दीक्षित का समकालीन था। इसके पिता का नाम गोविन्द-दीक्षित और माता का नाम नागमाम्बा था। मीमांसा-दर्शन पर इसने केवल एक ग्रंथ लिखा-जो वार्तिकाभरण नाम से कुमारिल की टुप्टीका की प्रसिद्ध व्याख्या है। टुप्टीका की अनेक व्याख्याओं में यह अत्यन्त विस्तृत और सरल व्याख्या के रूप में आदृत है। यह संपूर्ण दर्शनों का ज्ञाता और विशेषतः वेदान्त-दर्शन का भी विद्वान् था-ऐसा इसकी "सर्वतन्त्रस्वतन्त्र" और "अद्वैताचार्य" आदि उपाधियों से विदित होता है। राजचूडामणि दीक्षित इसका योग्य शिष्य हुआ है-जिसने अपनी तंत्ररक्षामणि में इसके संबन्ध में लिखा है—

> अस्ति गोविन्दयज्वेंद्रनागमांबातपः फलम्।
> श्रीवेंकटेश्वरमुखी, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रधीः॥
> व्यतानि शुल्वमीमांसा तथा 'कर्मान्तवार्तिकम्'।
> टुप्टीकायाः कृता टीका "वार्तिकाभरणाभिधा॥

यही पद्य इस बात का भी साक्षी है कि वार्तिकाभरण के अतिरिक्त भी इसने शुल्व-मीमांसा आदि एक दो ग्रंथों की रचना की है।

२४ नारायण भट्ट प्रथम

अपनी प्रसिद्ध रचना मानमेयोदय के कारण नारायण भट्ट ने मीमांसक-संप्रदाय में एक अधिकृत स्थान बना लिया है। यह प्रसिद्ध मीमांसक श्री मातृदत्त का आत्मज था-जिसने मीमांसा पर तंत्रवार्तिक-निबन्धन और मानमेयोदय नाम के दो ग्रंथ लिखे। प्रथम कुमारिल के तंत्रवार्तिक की व्याख्या है और द्वितीय में भट्ट-मत के अनुसार प्रमाणों का मार्मिक विवेचन है। मीमांसा में यह अपने ढंग का एक ही ग्रंथ है-जो इस विषय की दृष्टि से मीमांसा के एक अभाव को पूरा करता है।

प्रमाणों का इस प्रकार सांगोपांग विवेचन और किसी ग्रंथ में प्राप्त नहीं होता। इसकी शैली अत्यन्त प्रौढ और रोचक है। पहले पद्य में विषय को रख कर फिर गद्य में उसका विश्लेषण किया गया है-जिससे ग्रंथ और भी मनोमोहक बन गया है। यह वैष्णव था और अनेक वर्षों तक इसने दर्शन-साहित्य की सेवा की। इनका काल सन १५८५ ई० से १६५६ तक माना जाता है। इसका मानमेयोदय जितना लोकप्रिय हुआ-उतना तंत्रवार्तिक-निबन्धनं नहीं। मानमेयोदय का प्रकाशन अडैय्यार लाइब्रेरी मद्रास से हो चुका है।

२५ लौगाक्षि-भास्कर

अर्थसंग्रह का विख्यात लेखक लौगाक्षि भास्कर मीमांसा के क्षेत्र में पर्याप्त लोक-प्रिय है। इसकी रचना "अर्थसंग्रह" ने सरल से सरल भाषा में संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में मीमांसा के सिद्धान्तों को समझाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है-इसीलिए मीमांसा को साधारण से साधारण संस्कृत जानने वाले तक पहुँचाने में इसका सबसे बड़ा योग है। इस एक ग्रंथ को लिख कर ही भास्कर इस क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया।

भास्कर इसका नाम है और लौगाक्षि इसके वंश का सूचक है। इस प्रकार के वंश दक्षिण भारत में अधिक हुआ करते हैं-इसीसे इसकी दाक्षिणात्यता सिद्ध है। इसके पिता का नाम रुद्र था[1] और यह सोलहवीं शताब्दी में विद्यमान था। इसके इस ग्रंथ को अनेक भाषाओं में अनेक विद्वानों द्वारा अनुवाद का सौभाग्य मिला है। अंग्रेजी में इसका अनुवाद १८८२ में डा० जी थीबाट ने प्रकाशित किया। हिन्दी के तो दो चार संस्करण इधर उधर से निकल चुके हैं। संस्कृत में गोपालेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं उनके भी शिष्य रामेश्वर भिक्षु ने इस पर व्याख्याएँ (संस्कृत) कीं। कलकत्ते से जीवानन्द विद्यासागर और कृष्णनाथ न्यायपंचानन की टीकाएँ भी छप चुकी हैं। वर्तमान में आचार्य

१—इंडियन लौजिक-कीथ, पृ० ३२

श्री पट्टाभिराम शास्त्री की विवेचनात्मक टीका का प्रकाशन चौ० संस्कृत सीरीज़ द्वारा हिन्दी व्याख्या के साथ हो रहा है। ये सब व्याख्याएँ अर्थसंग्रह के महत्त्व और उपयोग को बताने के लिए पर्याप्त हैं।

अर्थसंग्रह और आपदेव रचित, मीमांसा-न्याय-प्रकाश इन दोनों ग्रंथों के संबन्ध में विभिन्न मत विद्वान् लोग रखते हैं। संदेह और विचार-वैचित्र्य का मूल आधार यह है कि इनके बहुत से वाक्य यों के यों मिलते हैं— मानों एकने दूसरे को उद्धृत ही नहीं, अपितु नकल भी की हो। श्री रामस्वामी शास्त्री, डा० अफ एडगर्टन, श्री डा० उमेश मिश्र आदि का यह मत है कि आपदेव से पहले भास्कर हुआ एवं आपदेव ने अर्थसंग्रह के वाक्यों को यों के यों उद्धृत किया। इसके ठीक विपरीत म. म. पं० चिन्न स्वामी शास्त्री, डा० ए. बी. कीथ और पट्टाभिराम शास्त्री आदि विद्वानों का कथन है कि न्याय-प्रकाश पहल लिखा गया और उसी से अर्थ-संग्रह-कार ने बहुत से वाक्य लिये। इस विवाद पर निर्णय देना तो सहज नहीं है-पर यह एक व्यावहारिक बात है कि अनुकरण सदा अपने से प्रौढ व्यक्ति का किया जाता है। न्याय-प्रकाश अर्थ-संग्रह की अपेक्षा अधिक प्रौढ और संपन्न है-इसीलिए यह स्वाभाविक है कि न्याय-प्रकाश से अर्थ-संग्रहकार कुछ ले।

अर्थ-संग्रह तो एक प्रकार का सिद्धान्तों का मोटा मोटा संकलन है उसके निम्न वाक्य स्पष्ट रूप से आपदेव के वाक्य हैं- जिनकी साक्षी एक शैली होने के कारण आपदेव के अन्य वाक्य दे रहे हैं—

"यजेतेत्यत्रांशद्वयम्-यजिधातुः प्रत्ययश्च प्रत्ययेऽप्यस्त्यंशद्वयम्-आख्यातत्वं लिङ्त्वञ्च।""एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुते.""""।। आदि २

अर्थसंग्रह के अतिरिक्त भी भास्कर ने मीमांसा-पर नहीं, पर अन्य विषयों पर कुछ ग्रंथ लिखे हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार उसका लिखा हुआ "तर्क-कौमुदी" नामक ग्रंथ तो निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित भी

हो चुका है। कुछ भी हो–अर्थसंग्रह के रूप में उसने मीमांसा-दर्शन को जो एक रत्न दिया है–वही उसके प्रति कृतज्ञ रहने के लिए पर्याप्त है

२६–भट्ट–केशव

इसी वंश में एवं इसी के समान काल और देश में भट्ट–केशव हुआ–जिसने मीमांसा–दर्शन पर "मीमांसार्थ–प्रकाश" लिखा। इस ग्रंथ में सार रूप से मीमांसा के मंतव्यों का संकलन किया गया है। यह ग्रंथ विजगापट्टम् ग्रंथ–प्रदर्शिनी में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त इस संबन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

२७–नारायण भट्ट द्वितीय

मीमांसा की विशेष सेवा करने का श्रेय मिश्र और भट्ट इन दो वंशों को है। मिश्रवंश विशेषत: मिथिला में और भट्ट–वंश दक्षिण भारत में रहता था। कुछ समय के अनन्तर भट्टवंश के लोग दक्षिण से काशी में स्थानान्तरित हो गये और वहाँ आकर इन लोगों ने वैदिक साहित्य—मुख्यतया –मीमांसा–दर्शन की पर्याप्त प्रगति की। नारायण भट्ट द्वितीय भी इसी वंश के एक रत्न हैं। इसके पिता का नाम रामेश्वर भट्ट और माता का नाम उमा था। शंकर भट्ट के नाम से प्रसिद्ध (आगे उल्लेख किया जा रहा है) इसके योग्य पुत्र ने भी मीमांसा–दर्शन पर काम किया—उसने तो इसे पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीण और मीमांसाद्वैत-साम्राज्यधुरंधर आदि विशेषणों से विशिष्ट कर मीमांसा का सर्वप्रथम विद्वान् तक सिद्ध किया—किन्तु यह तो एक अतिशय श्रद्धा मात्र का द्योतक है। मीमांसा पर शास्त्र–दीपिका के अष्टम अध्याय की व्याख्या के अतिरिक्त उसका कोई अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसने वृत्तरत्नाकर की व्याख्या भी लिखी–जिसकी प्राप्त पांडुलिपी में उसके काल के रूप में सन् १५४६ का उल्लेख है। प्रामाणिक रूप से यह भी विदित होता है कि यह सन् १५१३ ई० में उत्पन्न हुआ। अस्तु,

इन सब के आधार पर हम निर्विवाद रूप से १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध तो इसका काल घोषित कर सकते हैं। इसके जीवन की एक विशेष घटना के रूप में यह उल्लेख हमें प्राप्त होता है कि इसने मुगलों द्वारा विध्वस्त वाराणसेय काशी विश्वनाथ की मूर्ति का पुनस्स्थापन कराया। यह पद्य इसी का सूचक है—

काश्यां पातकिविद्रुतं भगवतो विश्वेश्वरस्याचलम् ।
लिंगं भाग्यवशात सुखाय जगतां संस्थापयामास सः ॥

२८—शंकर-भट्ट-प्रथम

यह मीमांसा-दर्शन का अधिकृत लेखक हुआ है—इसने इस विषय पर अनेक ग्रंथों की रचना की। शास्त्र-दीपिका पर इसने प्रकाश नाम की व्याख्या की। दूसरी रचना मीमांसा-बालप्रकाश है-जिसका प्रकाशन चौखंबा संस्कृत सीरीज़ से हुआ है। संक्षेप में यह ग्रंथ मीमांसा के सभी विषयों का सरल शैली में विवेचन करता है। मीमांसा-संग्रह इसका तीसरा ग्रंथ है-जिसमें पद्यों में कुछ मुख्य मुख्य सिद्धान्तों की गणना कराई गई है। पद्यों को देखने से सहज में ही इसकी कवित्व-शक्ति का परिचय मिल जाता है। इस ग्रंथ के अन्त में लेखक ने स्वयं यह[1] स्वीकार किया है कि आचार्यों ने इस शास्त्र में एक हजार अधिकरण रखे-जिनका शंकर भट्ट ने उतने ही पादों अर्थात् ढाई सौ पद्यों में संकलन किया। एक एक अधिकरण का एक एक पाद में विवेचन कर निश्चय ही भट्ट ने अपनी भाषा और भावों की समाहार शक्ति का परिचय दिया है। इसकी पांडुलिपि कलकत्ता के राजकीय संस्कृत कालेजीय पुस्तकालय में उपलब्ध है-जिसमें १८२२ स. उल्लेख हुआ है। यही इसके काल का सूचक है।

---

१ आचार्यैरधिकरणान्युक्तानि सहस्रसंख्यानि ।
तत्सिद्धान्तान् पादैस्तत्संख्यैर्भट्टशंकरोऽबध्नात् ॥

यह गोविन्द भट्ट[1] का प्रपौत्र, रामेश्वर भट्ट का पौत्र और उपर्युक्त नारायण भट्ट द्वितीय का पुत्र था-जिससे इसका काल १७ वीं शताब्दी के लगभग होना चाहिए ।

२९—नीलकंठ दीक्षित

यह भी भट्ट-वंश में रामेश्वर का प्रपौत्र, नारायण भट्ट का पौत्र और शंकर भट्ट का पुत्र था। धर्म-शास्त्र और मीमांसा-दर्शन का यह अधिकृत विद्वान् था। दक्षिण भारत में इसका बहुत संमान है। यह एक प्रकार से दक्षिण की मयूख-विचारधारा का प्रवर्तक है। इसकी कीर्ति का मुख्य आधार इसको बारह मयूख ग्रंथ हैं-जिनका धर्मशास्त्र दिग्दर्शक के रूप में वहाँ बहुत प्रतिष्ठित स्थान है। उत्तर भारत में कमलाकर भट्ट के निर्णय-सिन्धु का जो आदर है, वही आदर दक्षिण भारत में इस ग्रंथ का है। इसके अध्ययन से इसके मीमांसा-संबन्धी ज्ञान की पुष्टि मिलती है। मीमांसा पर भट्टारक या मीमांसा-न्याय-संग्रह के नाम से इसने एक ही ग्रन्थ लिखा—जिसकी पांडुलिपि भ्मा-पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसका काल १७ वीं शताब्दी है।

३०—शंकर भट्ट द्वितीय

यह नीलकंठ दीक्षित का पुत्र और शंकर भट्ट प्रथम का प्रपौत्र था। इसका देश और काल भी उपर्युक्त ही है। मीमांसा पर इसने भट्ट-भास्कर के नाम से जैमिनि के सूत्रों की व्याख्या की, जो अप्रकाशित है।

३१—दिनकर भट्ट

यह रामकृष्ण भट्ट का पुत्र और शंकर भट्ट प्रथम का ज्येष्ठ भ्राता था। कमलाकर भट्ट इसका छोटा भाई था। इन तीनों बन्धुओं ने भट्ट-परंपरा की पर्याप्त सेवायें कीं। यह छत्रपति महाराजा शिवाजी के आश्रय में रहता था और न्याय, वैशेषिक मीमांसा व धर्मशास्त्र आदि अनेक विषयों का विद्वान था। इन सभी पर इसने अनेक रचनायें कीं। इसके

१ पी. वी. काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास। (वाल्यूम I)

की है। परंपरा से मीमांसा-दर्शन संबन्धी पांडित्य इनके यहाँ चला आ रहा था-इसके पिता भी राम कृष्ण भट्ट-जिनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है-मीमांसा के भट्ट-संप्रदाय के विख्यात विद्वान् थे। कमलाकर को तो मीमांसा की इन दोनों ही परंपराओं पर समान अधिकार था। अपने पिता के वैदुष्य पर भी [१] इसने अतिशय श्रद्धा व्यक्त की है। इसका उपनाम दादू भट्ट था और यह अपने कालका निर्भीक, प्रतिभाशाली और विख्यात लेखक था। १७ वीं शताब्दी के लेखकों में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। मीमांसा पर इसने अनेक ग्रंथ लिखे। शास्त्रदीपिका पर आलोक नाम की व्याख्या की एवं भावार्थ नाम से तंत्र वार्तिक की टीका की-जिसका मुख्य उद्देश्य राणक का खंडन करना है। जैमिनि के सूत्रों पर भी इसने शास्त्रमाला के नाम से स्वतंत्र व्याख्या की।

उसकी सबसे अधिक प्रतिष्ठा उसके निर्णय-सिन्धु के कारण है-जो धर्मशास्त्र का एक उच्चकोटि का ग्रन्थ माना जाता है। बीसवीं शताब्दी के इस संक्रमणशील वातावरण में भी धार्मिक विवादों पर निर्णय-सिन्धु के निर्णय अत्यन्त आदर-पूर्ण स्थान रखते हैं। यह ग्रंथ कमलाकर के व्यापक अध्ययन और गंभीर वैदुष्य का मूर्तिमान् प्रमाण है। इसके अंत में लिखित सं० १६६८ या सन् १६१२ इसके काल के संबन्ध में हमारे उपर्युक्त कथन ही के साक्षी हैं-जिसमें हमने इसका काल १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित किया है।

३४—अनन्त भट्ट

कमलाकर भट्ट का आत्मज अनन्त भट्ट भी मीमांसा का अच्छा विद्वान् था। उसने अपने पिता की शास्त्रमाला (जैमिनि सूत्रों की

१—यो भाट्टतन्त्रगहनार्णवकर्णधारशास्त्रान्तरेषु-
निखिलेष्वपि मर्मवेत्ता (कमलाकर)

व्याख्या) पर ज्योत्स्ना के नाम से वृत्ति लिखी और जैमिनि के सूत्रों पर "न्याय-रहस्य" नाम से व्याख्या की। आचार्य रामस्वामी के मतानुसार यह सूत्रों पर अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या है। अनन्त भट्ट ने स्वयं इस चोज को स्वीकार किया है कि उसने ज्योत्स्ना के पूरी होने पर श्री नीलकंठ दीक्षित को दिखाया। इससे यह दीक्षित का कनिष्ठ समकालीन (१७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) सिद्ध होता है।

३५--विश्वेश्वर उपनाम गागाभट्ट

वास्तविक नाम विश्वेश्वर होते हुए भी प्रस्तुत विद्वान् गागाभट्ट के नाम से अधिक विख्यात है। यह रामकृष्ण भट्ट का पौत्र और दिनकर भट्ट का पुत्र था। स्नेह के कारण इसके पिता इसे "गागा"[१] कहा करते थे–अतः यह इसी नाम से विख्यात हो गया। यह अपने काल का विख्यात विद्वान् था और महाराज छत्रपति शिवाजी का गुरु था। १६७४ में महाराजा शिवाजी के राजसिंहासनारोहण की धार्मिक क्रियायें इसी के तत्त्वावधान में संपन्न हुईं। यह वह स्वयं स्वीकार करता है।

यह भट्ट–संप्रदाय का एक श्रेष्ठ प्रतिपादक हुआ है। मीमांसा-सूत्रों पर इसने भाट्ट–चिन्तामणि नामक ग्रंथ (स्वतंत्र) लिखा–जिसका तर्कपाद चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हो चुका है। यह कुमारिल के दृष्टिकोण से दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करता है और आवश्यक प्रसंगों में व्याकरण और न्याय के विषयों का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है। ज्ञानप्रामाण्य, प्रत्यक्ष, ईश्वरवाद, शक्तिवाद, सृष्टिप्रलय, अनुमान, अर्थापत्ति, अभाव, शब्द, विधिभेद, धात्वर्थ, आख्यात, लकारार्थ आदि गंभीर विषयों पर इसने अपनी लेखनी चलाई है–यही इसके वैदुष्य का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। यह रचना उसने बालकों की व्युत्पत्ति के लिए की है। स्थान स्थान पर उसने अपने ग्रंथ में सोमेश्वर, मुरारि मिश्र II उदयनाचार्य, पक्षधर मिश्र आदि

१–गागाभट्ट इति प्रथां दिनकरात् प्राप्तः पितुः लालनात्। (स्वयम्)

विद्वानों को उद्धृत किया है। यह अपने पिता के विचारों का भी पूर्ण भक्त है।

कुसुमांजलि इसका दूसरा ग्रन्थ है—जो जैमिनि-सूत्रों पर वृत्ति है। इसे हम एक समालोचनात्मक व्याख्या कह सकते हैं—जिसमें अनेक प्रकार के खंडन मंडन किये गये हैं।

शिवार्कोदय इसका तीसरा ग्रन्थ है—जिसको शिवाजी के आदेश पर लिखा गया था। यह ग्रन्थ श्लोकवार्तिक के विषय में पद्यों में लिखा गया है—जो प्रसंग आचार्य कुमारिल भट्ट अपूर्ण छोड़[1] गये थे। इसके अन्य ग्रंथ के साथ इसकी पांडुलिपि भी अलवर स्टेट के मैनेस्क्रिप्ट नं० ३६३, संस्कृत केटलाक में प्राप्त होती है—दूसरी पांडुलिपि का नं० ११७ है। इस पांडुलिपि के अंत में निम्न पद्य लिखे हुए प्राप्त होते हैं—

प्रारंभि यत्र इह यः खलु कारिकाभि
रुद्धा प्रतिप्रतिभधाम— विदूषणाय ।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं शिवेन
छत्राधिपेन सुविचिन्त्य समापितः स. ॥

शिवाजी जैसे राष्ट्रीय प्रशासक के दरबार में इस विद्वान् को आदर और आश्रय प्राप्त था—यह भी कोई कम गौरव की बात नहीं है। किंवदन्ती और स्वयं इसके वाक्य हमें यह भी बताते हैं कि शिवाजी ने इसके सादा जीवन को वैभवपूर्ण[2] बनाया। शिवाजी की समकालीनता के आधार पर इसका काल सहज ही १७ वीं शताब्दी का मध्यकाल माना जा

१—यत्तर्कपादे बहुनाग्रहेण, श्लोकैः कृतं वार्तिकमार्यवर्यैः।
गागाभिधेनायमपूर शेषस्तस्याज्ञया छत्रपतेः शिवस्य ॥

२ तस्यानुरोधादिह वादिवर्णाधिक्ये
चतुर्थाश्रमभंगदोषः। (संस्कृत केटलाक अलवर)

सकता है। मीमांसा से अतिरिक्त विषयों पर भी इसका व्यापक अधिकार और वैदुष्य विख्यात है।

३६—आपदेव द्वितीय

अर्थ-संग्रह के प्रसंग में हम आपदेव द्वितीय की संक्षिप्त चर्चा कर आये हैं। यह आपदेव मीमांसान्यायप्रकाश का लेखक है। यह दक्षिण का निवासी था और बनारस में आकर बस गया था। यह अनन्त देव प्रथम का पुत्र, आपदेव प्रथम का पौत्र और धर्म-सिन्धु के लेखक एकनाथ का प्रपौत्र था। पर इस परंपरा में समालोचकों-विशेषतः प्रो० एडर्टन-को विश्वास नहीं है—क्योंकि इसके पुत्र अनन्त देव द्वितीय का काल प्रामाणिक रूप से १७ वीं शताब्दी का मध्य भाग स्वीकृत है-अतः हम आपदेव II के काल को १७ वीं शताब्दी के पूर्व भाग से आगे नहीं ले जा सकते

मीमांसा-न्याय-प्रकाश आपदेव के सर्वतोमुख वैदुष्य एवं मीमांसा-दर्शन पर व्यापक अधिकार का सूचक है। इस छोटे से ग्रंथ में इस विद्वान् ने मीमांसा के उन सब विषयों को कूट कूट कर भर दिया है-जिनकी मीमांसा के पांडित्यपूर्ण परिचय के लिए आवश्यकता रहती है। अर्थसंग्रह को हम इसका एक संक्षिप्त संस्करण कह सकते हैं। विषय का जितना विवेचन इस ग्रंथ में किया गया, अर्थसंग्रह में नहीं। पंडितों की परंपरा में यह प्रसिद्ध है कि जिसको न्याय-प्रकाश आ गया, वह मीमांसा का आधा विद्वान् बन गया। इसी एक वाक्य से हम इसके महत्त्व का अनुमान लगा सकते हैं। यही कारण है कि भारत के प्रत्येक संस्कृतसंबद्ध विश्व-विद्यालय ने अपने शिक्षण-क्रम में इस ग्रंथ को आदरणीय स्थान दिया है। प्रौढ और प्रांजल भाषा में आपदेव अत्यन्त गंभीरता के साथ विषय का विवेचन करता है-इसकी एक एक पंक्ति अपना निजी महत्व रखती है। अपनी इन्हीं महत्ताओं के कारण अनेक विशिष्ट विद्वानों को इसने अपनी ओर आकर्षित किया और

अनेक व्याख्याएँ इस पर लिखी गईं। सबसे प्रथम व्याख्या इसके पुत्र अनन्तदेव द्वितीय ने की-जो भाट्टालंकार के नाम से प्रसिद्ध और चौ० सं० सी० बनारस तथा बंबई से मुद्रित है। दूसरी व्याख्या कृष्णनाथ न्यायपंचानन ने की-जो कलकत्ते से प्रकाशित हुई। तीसरी टीका महामहोपाध्याय चिन्न स्वामी शास्त्री ने की-जिसका प्रकाशन बनारस से हुआ है। डा० एडगर्टन ने भी इसका अनुवाद किया-जिसमें पद टिप्पणियां आदि हैं। इन सब व्याख्याओं में न्याय प्रकाश के पदार्थों को समझाने और सुगम बनाने की दृष्टि से चिन्न स्वामी शास्त्री की व्याख्या का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। आपदेव ने मीमांसा के अधिकरणों के सार के रूप में "अधिकरणचंद्रिका" नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना[१] की पर उसको जो महत्व आज मीमांसा के इतिहास में प्राप्त है-वह केवल उसके न्याय-प्रकाश ही के कारण है। इस एक ही ग्रन्थ ने इसे महामनीषी सिद्ध कर दिया।

आपदेव महान् आस्तिक था-अपने ग्रंथके प्रारंभ और अंत में वह गोविन्द[१] और गुरु का स्मरण करता है। गोविन्द और गुरु को एक पद में लगा कर उसने वन्दना की-जिससे डा० कीथ[२] यहां तक समझ गये कि शायद गोविन्द ही इसका गुरु है—पर उनकी यह कल्पना असंगत है। इसका गुरु गोविन्द न होकर इसका पिता ही था-जिसे पर-ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हुए इसने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में नमस्कार[३] किया है। मीमांसा के दोनों संप्रदायों का यद्यपि यह पूर्णपारंगत विद्वान था-पर इसकी श्रद्धा भाट्ट[४]-मत में ही थी। भट्ट-संप्रदाय की

---

१ तस्माद्भक्तेर्विलासोऽयं, गोविन्दगुरुपादयोः।

२ कर्म मीमांसा-पृष्ठ १३।

३ अनन्तगुणसंपन्नमनन्तभजनप्रियम्।
अनन्तरूपिणं वन्दे गुरुमानन्दरूपिणम्॥

४ क्वाहं मन्दमतिः क्वेयं प्रक्रिया भाट्ट-संमता॥

विशालता और गंभीरता पर इसे अगाध विश्वास था। इसी प्रकार के विद्वानों ने इस परंपरा को पोषण प्रदान किया है—अतएव यह अपने साथ की अन्य परंपराओं से उन्नत हो गई।

३७—अनन्तदेव प्रथम

यह आपदेव द्वितीय का पिता और गुरु था एवं मीमांसा-दर्शन का अच्छा विद्वान् था। इसके पुत्र ने अपने ग्रन्थ मीमांसा-न्याय-प्रकाश में इसके सिद्धान्तों का अतिशय संमान के साथ उल्लेख किया है। इसके देश और काल के प्रसंग में इसके पुत्र के प्रसंग में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ हमें नहीं प्राप्त होता।

३८—अनन्तदेव द्वितीय

यह आपदेव द्वितीय का पुत्र था। इसने अपने पिता द्वारा लिखित मीमांसान्याय-प्रकाश पर भाट्टालंकार नामक टीका लिखी—जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। फलसांकर्यखंडन और स्मृतिकौस्तुभ इसकी अन्य रचनायें हैं। भाट्टालंकार की खंडदेव मिश्र तक ने आलोचना की है। सबसे अधिक प्रतिष्ठा इसे अपने स्मृतिकौस्तुभ के कारण प्राप्त हुई। यह ग्रन्थ उसने अपने आश्रयदाता बाज बहादुर चन्द्र के आदेश पर लिखा। चन्द्र का शासन काल व समय सन् १६४५ से १६७५ तक माना जाता है—इसीसे इसका समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य-भाग ऊपर लिखा गया है। स्मृति-कौस्तुभ मीमांसा ही का ग्रन्थ है—जिसमें मीमांसा के सिद्धान्तों का धार्मिक विवेचन किया गया है। विशेषकर उन स्थलों को अपनाया गया है—जहां धर्म-शास्त्र संदिग्ध सा था। इससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है।

३९—जीवदेव

यह अनन्तदेव द्वितीय का छोटा भाई और शिष्य था—इसीलिए इसका भी काल वही १७ वीं शताब्दी का मध्य काल है। मीमांसा-दर्शन

पर इसने "भट्ट-भास्कर" नाम से केवल एक ही ग्रंथ लिखा । खंडदेव ने इसके कार्य की आलोचना भी की है । जीवदेव ने अपने ग्रंथ में कमलाकर के निर्णय-सिन्धु से उद्धरण लिये हैं । इसके अतिरिक्त इस विषय में अधिक विदित नहीं है ।

४०— कौंडदेव

अनन्तदेव द्वितीय के अधिकृत शिष्यों में कौंडदेव का नाम अत्यन्त आदर के साथ सुना जाता है । यह कौंडदेव केवल मीमांसा ही नहीं, अपितु व्याकरण और न्याय-दर्शन का भी विद्वान् था—ऐसा इसके ग्रंथों से हमें ज्ञात होता है । यह कौण्ड-भट्ट के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध लेखक हुआ । व्याकरण पर "इसका वैयाकरण-भूषणसार" नामक ग्रन्थ, तर्क-शास्त्र पर "तर्क-दीपिका" एवं मीमांसा-दर्शन पर" भाट्टमत-प्रदीपिका नामक ग्रंथ हमें प्राप्त होता है । अपने प्रथम दो ग्रंथों में प्रस्तुत लेखक ने दो विख्यात विद्वानों की चर्चा की है । रंगोजी[1] भट्ट को अपना पिता बताया है और [2]भट्टोजिदीक्षित को अपना चाचा । अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यह उतने अधिक अन्धकार में नहीं रहता और इसका काल आसानी से १७ वीं शताब्दी निश्चित किया जा सकता है ।

मीमांसा का अधिकृत विद्वान् होने पर भी कौंडदेव को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई—वह मीमांसा के कारण नहीं, अपितु व्याकरण के कारण हुई । इसका वैयाकरण-भूषणसार संस्कृत साहित्य का एक बहुत संमाननीय ग्रंथ बन गया है । सरल से सरल ढंग पर व्याकरण के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का जितना अच्छा विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है और किसी ग्रंथ में देखने को नहीं मिलता । वस्तुतः यही एक ऐसी पुस्तक है—जो व्याकरण को शास्त्रों में उद्धृत स्थान प्रदान करती है और उसके सिद्धान्तों को अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा महनीयता प्रदान करती है । इसके भिन्न भिन्न

---

१ रंगोजिभट्टपुत्रेण कौंडभट्टेन (तर्कदीपिका ५१)

२ भट्टोजिदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये । (वैयाकरणभूषणसार १)

प्रसंगों में पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसा के सिद्धान्तों का अत्यन्त सुन्दरता के साथ उपन्यास कर इसने अपने मीमांसा-संबन्धी वैदुष्य का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया है। इस दृष्टि से भी इसकी मीमांसा-संबन्धी सेवायें अपना एक स्वतन्त्र स्थान रखती हैं।

४१---खण्डदेव मिश्र

संस्कृत साहित्य में खंडदेव का अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। विशेष-कर मीमांसा-दर्शन का यह विख्यात विद्वान् हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में लिखा है कि उसके पिता पेरु भट्ट ने देव[१] से ही मीमांसा का अध्ययन किया। इसकी व्याख्या करते हुए नागेश ने देव का अभिप्राय खंडदेव किया है। पंडितराज जगन्नाथ के आश्रयदाता शाहजहाँ और उसके पुत्र दाराशिकोह थे-इससे परंपरा के अनुसार यह माना जा सकता है कि खंडदेव १७ वीं शताब्दी के मध्यकाल में अवश्य ही रहा होगा।

खंडदेव के पिता का नाम रुद्रदेव था। श्रीधरेन्द्र इसका उपनाम था-ऐसा उल्लेख इसके शिष्य शंभु भट्ट ने अपनी व्याख्या में किया। [२]उसी के अनुसार खंडदेव ब्रह्मनाल मुहल्ला, बनारस में रहता था और वहीं इसकी मृत्यु भी हुई। इसकी मृत्यु का समय भी [३]इसने सं० १७७२ सं० व १६६५ ई० बताया है-इससे भी १७ वीं शताब्दी-जो पहले निश्चित की गई है-वह पुष्ट हो जाती है। इसने अपने पूर्वकालीन लेखकों में आपदेव द्वितीय,' उसके दोनों पुत्र अनन्तदेव द्वितीय एवं जीवदेव की रचनाओं की आलोचनाएं की हैं-जिनसे भी इसके काल और विचारों को पुष्टि मिलती है।

---

१ देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयम्-
"देवादेव" खंडदेवादेवेत्यर्थः (नागेश)

२---काश्यां श्री ब्रह्मनाले निरुपमचरितः खण्डदेवाभिधानः।
प्राप्तः श्री ब्राह्मभावं विबुधवरगुरु---ब्रह्मचर्यो यतीन्द्रः।

३---वर्षे नेत्रद्विसप्तद्विजपतिगणिते।

इसकी रचनायें और शैली

खंडदेव अपने कालका बड़ा प्रभावशाली लेखक हुआ। विशेषकर दक्षिण-भारत में इसका साहित्य आदरणीय बना। सरल से सरल, गंभीर से गंभीर और प्रौढ़ से प्रौढ़ सब प्रकार की भाषा लिखना खंडदेव की एक विशेषता है-उसकी रचनाएँ स्पष्ट रूप से यह कह रही हैं कि उसे भाषा और विषय दोनों पर व्यापक अधिकार है। भाट्टदीपिका प्रथम शैली पर लिखी गई है तो भाट्ट रहस्य अन्तिम शैली पर। इसके सभी ग्रंथों पर इसके गंभीर अध्ययन की छाप है। जहाँ भाट्ट-दीपिका उसके दार्शनिक ज्ञान को प्रकट करती है, तो भाट्ट रहस्य उसके तार्किक विभव का। मीमांसा-कौस्तुभ यद्यपि अपूर्ण है-फिर भी उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और अपना निजी स्थान है।

मीमांसा कौस्तुभ उसकी सबसे पहली रचना है-जिसका प्रकाशन कांजीवरम् व बनारस से हो चुका है। यह केवल तृतीयाध्याय तृतीय पाद सप्तम अधिकरण (बलाबलाधिकरण) तक ही लिखा गया है। दूसरा ग्रंथ भाट्ट-दीपिका है-जो इसकी सबसे प्रमुख रचना है। कौस्तुभ जितना ही विस्तृत है-यह उतनी ही अधिक संक्षिप्त है। विद्वानों की परंपरा में इस ग्रंथ का बहुत संमान है-विशेषकर दक्षिण भारत में इस ग्रन्थ की बहुत प्रतिष्ठा है। जो स्थान उत्तर भारत में शास्त्र-दीपिका को मिला, वही स्थान दक्षिण भारत में इस ग्रन्थ ने लिया। शास्त्र-दीपिका की अपेक्षा यह सूक्ष्म अवश्य है-पर विषय के विवेचन में इसकी अपनी एक प्रौढ शैली है। इस ग्रंथ के एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, मैसूर ओरियन्टल लाइब्रेरी सीरीज, निर्णय सागर प्रेस बंबई व मद्रास आदि से अनेक संस्करण निकल चुके हैं-जो इसकी प्रतिष्ठा के सूचक हैं। यही नहीं-व्याख्याकारों का भी इसने पर्याप्त ध्यान आकृष्ट किया है। सबसे पहली व्याख्या "प्रभावली" के नाम से खंडदेव ही के शिष्य शंभुदत्त ने की-जिसका प्रकाशन निर्णय-सागर से हुआ। दूसरी व्याख्या भाट्ट कल्पद्रुम है-जिसके लेखक मद्रास के श्री रामशुभशास्त्री हैं।

तीसरी व्याख्या चंद्रोदय है-जिसके लेखक भास्करराय हैं। चौथी व्याख्या भट्ट-चिन्तामणि है-जिसके रचयिता श्री वंकेश्वर हैं। इसका प्रकाशन मद्रास से हो चुका है। पंचम व्याख्या श्री रंगाचार्य की सूत्र-वृत्ति-सारावली है-जिसका प्रकाशन कुछ ही समय पूर्व मैसूर से हुआ है। दक्षिण भारत में अधिक प्रचार होने कारण उधर ही के लोगों का इस ओर अधिक ध्यान गया। यह भी इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

भाट्ट-रहस्य इसी ही की तीसरी रचना है-जो सर्वथा नैयायिक प्रणाली पर लिखा गया है। इसकी भाषा और विषय दोनों ही गंभीर है। इसीलिए यह ग्रंथ दुरूह तक हो गया है। शाब्दबोध इसका विषय है और उसके प्रसंग में भावार्थ, लकारार्थ आदि विषयों पर मीमांसक दृष्टि-कोण से प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ वहुत संक्षिप्त है-पर यही एक ऐसा आधार है-जिसने शाब्द-बोध के सबन्ध में व्याकरण और न्याय जैसे तार्किक शास्त्रों की तुलना में मीमांसा के शाब्दबोध सिद्धान्तों को जीवित रखा है। दुर्भाग्य है, इस पर अभी कोई व्याख्या नहीं की गई। इसका प्रकाशन अवश्य अनेक बार हो चुका है।

खंडदेव की शैली के संबन्ध में उपर्युक्त विवेचन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उसकी प्रणाली न्याय के समान है-इसीलिए उसके प्रत्येक तर्क और उसके प्रस्तुत करने का ढंग स्वभावतः ही अन्य मीमांसकों की अपेक्षा पृथक् है। वह अपने सिद्धान्तों के संबन्ध में चुप नहीं रहता। देवी-देवताओं पर उसे विश्वास है-यही कारण है कि जहाँ इस चर्चा पर अन्य मीमांसक चुप रहे हैं-उसने अपने अभिप्राय की स्पष्ट उद्घोषणा अपनी भाट्ट-दीपिका में कर दी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मीमांसक नास्तिक हैं, पर इसका तात्पर्य यह अवश्य है कि न जाने क्यों जहाँ जहाँ ईश्वर का प्रसंग आया है-इनने चुप्पी साध ली है। अस्तु, उसका भाट्ट-रहस्य भी चाहे दुरूह भले हो गया हो, पर मीमांसा के प्रस्तुत विषय

पर सिद्धान्त स्थापित करने में पूर्ण सफल रहा है- हमें खंडदेव जैसे प्रौढ लेखक मीमांसा के इतिहास में बहुत कम मात्रा में देखने को मिलते हैं।

४२ शम्भु भट्ट

शंभु भट्ट खंडदेव का विख्यात शिष्य हुआ-जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह बालकृष्ण का पुत्र था। भाट्ट-दीपिका (खंडदेव) पर प्रभावशाली व्याख्या मीमांसा-दर्शन पर इसकी एक मात्र रचना है-जो मूल ग्रन्थ के साथ नि. प्रेस बम्बई से प्रकाशित भी हो चुकी है। लेखक ने स्वयं इसके अन्त में सं० १७६४ अथवा सन्[1] १७०७ ई० को इसकी समाप्ति का समय उल्लिखित किया है। खंडदेव का यह समकालीन था-यही इसके काल के संबन्ध में पर्याप्त है। भाट्ट-दीपिका पर बहुत सी व्याख्याऐं लिखी गईं, किन्तु प्रभावली ने ही उन सब के पथ-प्रदर्शन का काम किया। यही इसकी सर्वोत्तम व्याख्याओं में प्रमुख स्थान रखती है। मीमांसा पर इसकी दूसरी रचना पूर्वमीमांसाधिकरणसंक्षेप है- जो मीमांसा के संपूर्ण अधिकरणों का सार है। यह अपनी व्याख्या में सोमनाथ दीक्षित का भी उल्लेख करता है। कवि मण्डन इसकी उपाधि है।

४३ राजचूड़ामणि-दीक्षित

यह वेंकटेश्वर दीक्षित का शिष्य और श्री निवास दीक्षित का लड़का था। यज्ञ नारायण इसका प्रसिद्ध उपनाम है। ऐसी किंवदन्ती है कि बाल्यकाल में ही माता-पिता का देहान्त होजाने के कारण इसका लालन-पालन अपने भाई अर्धनारीश्वर दीक्षित के तत्त्वावधान में हुआ। दर्शन के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य पर भी इसे अच्छा अधिकार था- इसकी "कमलिनी-कलहंस" नामक नाटिका इसी का प्रमाण है। इस संबन्ध में यह अतिशयोक्ति है कि इसकी रचना इसने ६ वर्ष की आयु में की।

---

१ वेदतु मुनिवसुभिर्गणिते वत्सरे शुभे।
ज्येष्ठे कृष्णे रूपतिथावियं टीका समापिता ॥

मीमांसा-दर्शन पर इसने तीन ग्रन्थ लिखे– ऐसा विदित होता है। सबसे प्रथम शक १५५६ एवं ईस्वी सन् १६३७ ई० में अपने गुरु श्री वेंकटेश्वर दीक्षित के आदेश से जैमिनि-सूत्रों पर "तंत्र-रत्नामणि" के नाम से व्याख्या की। इसी प्रकार की इसकी दूसरी उच्च कोटि की रचना कर्पूरवार्तिक है–जो शास्त्र-दीपिका की व्याख्या है। समालोचकों का यह अनुमान भी है कि इसने जैमिनि के संकर्ष-काण्ड[1] पर संकर्ष-न्याय मुक्तावलि नाम से व्याख्या की, परन्तु उसका केवल विवरण ही प्राप्त होता है।

४४ वेंकटाध्वरिन्

१७ वीं शताब्दी के मध्यकालीन लेखकों में यह भी अपना स्थान रखता है। इसके पिता का नाम रघुनाथ दीक्षित और माता का नाम सीताम्बा था। यह अप्पय्य दीक्षित के कनिष्ठ भ्राता, रंगराजाध्वरिन् के पुत्र नीलकंठ दीक्षित का समकालीन था। मीमांसा पर "विधित्रय-परित्राण और मीमांसा-मकरन्द" नाम के इसके दो ग्रंथ हैं–जिनमें प्रथम में तीनों विधियों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

४५ गोपाल भट्ट द्वितीय

१७ वीं शताब्दी ही में कृष्ण भट्ट का पौत्र व मंगनाथ भट्ट का पुत्र गोपाल भट्ट एक प्रसिद्ध मीमांसक हुआ। मीमांसा पर इसने "विधि-भूषण" नामक ग्रंथ लिखा–जिसमें कुमारिल के विधि-संबन्धी विचारों को पुष्ट किया–जिनका कुछ कुछ स्थलों पर अप्पय्य दीक्षित ने अपने विधि-रसायन में खंडन किया था।

४६ राघवेन्द्र यति

इसी का समकालीन राघवेन्द्र यति हुआ। इसके पिता का नाम तिमन्न भट्ट और माता का नाम गोपाम्बा था। यह कनकाचल का पौत्र

---

१ रिपोर्ट नं० ११, द्वितीय, मद्रास संस्कृत मैनिस्क्रिप्ट।

और कृष्ण भट्ट का प्रपौत्र था। इसने भट्ट-संग्रह नाम से जैमिनि सूत्रों की व्याख्या की-यही इसका मीमांसा पर एक मात्र ग्रन्थ है।

४७ रामकृष्ण दीक्षित

इसी काल में रामकृष्ण दीक्षित हुआ-जिसने जैमिनि-सूत्रों पर मीमांसान्याय-दर्पण नाम का ग्रन्थ लिखा। यह वेदान्त-परिभाषा के प्रसिद्ध लेखक धर्मराजाध्वरेन्द्र का पौत्र एवं वेंकटनाथ का पुत्र था।

४८ सोमनाथ दीक्षित

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य-भाग में एक विस्तृत व्याख्याकार सोमनाथ दीक्षित हुआ—जो मिट्टालकुल या गोत्र में था। यह सूर भट्ट का पुत्र था और वेंकटगिरियज्वन् का छोटा भाई था। अपने बड़े भाई से ही इसने सब प्रकार की शिक्षायें प्राप्त कीं। शास्त्र-दीपिका के तर्कपाद को छोड़कर शेष भाग पर मयूख-मालिका के नाम से इसकी बहुत ही विस्तृत व्याख्या है-जिसका प्रकाशन शास्त्रदीपिका के साथ निर्णय-सागर प्रेस से हो चुका है। यही एक अधिकृत व्याख्या इस ग्रंथ पर है-जिसका पठन-पाठन में बहुत प्रचार है। इसके प्रारंभ एवं अन्त में सोमनाथ अपने आपको "सर्वतोमुखयाजी" विशेषण से विशिष्ट करता है—जिससे इसके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। जहां इसकी यह व्याख्या इसके व्यापक वैदुष्य का परिचय देती है—वहाँ विशिष्ट कर्मकांडज्ञान को भी प्रकट करती है। शास्त्रदीपिका के विषयों को समझाने में यह बहुत ही सफल रही है। प्रसंगशः इसमें भवनाथ, वरदराज और अप्पय्य दीक्षित आदि विद्वानों का उल्लेख हुआ है—जिससे इनका अपेक्षा अर्वाचीनता प्रकट होती है। भाट्ट—दीपिका के व्याख्याता शंभु भट्ट ने इसका उल्लेख अपनी प्रभावली में किया है-इससे भी इसका काल दीक्षित और शंभु भट्ट का मध्यकाल अर्थात् १७ वीं शताब्दी का मध्य-भाग सिद्ध हो जाता है। यदि यह व्याख्या नहीं होती, तो निश्चय ही शास्त्रदीपिका के गंभीर विषयों के समझने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता।

४९ यज्ञ नारायण दीक्षित

यह यज्ञेश व सर्वतोऽम्बिका का पौत्र, तिरुमल यज्वन् का प्रपौत्र व कोदंड भट्टार्क अथवा भट्टोपाध्याय तथा गंगाम्बिका का पुत्र था। इसके बड़े भाई का नाम भी तिरुमल यज्वन् ही था। यह ऋक् शाखा के कश्यप गोत्र का था। तर्कपाद के अतिरिक्त अंश पर इसने प्रभा-मंडल के नाम से व्याख्या की—जो अच्छी व्याख्या है—पर अप्रकाशित है। इसका काल भी १७ वीं शताब्दी का मध्य- भाग ही है।

५० गदाधर भट्टाचार्य

यह बंगाल का निवासी था। मीमांसा से अधिक इसकी प्रतिष्ठा न्याय के ग्रंथों के कारण है। इसका व्युत्पत्तिवाद बहुत उच्च स्तर का ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त भी उसने न्याय पर अनेक ग्रंथ लिखे। बहुत दिनों तक लोगों ने इसकी शैली का अनुकरण किया। यह एक महान् प्रतिभाशाली सर्वतोमुखी विद्वान् था। यह जीवाचार्य का पुत्र, नवद्वीप के हरिराम तर्कवागीश का शिष्य एवं जगदीश भट्टाचार्य का कनिष्ठ समकालीन था—जिससे इसका काल १७ वीं शताब्दी का मध्य-भाग निश्चित होजाता है। मीमांसा पर इसने "विधि-स्वरूप-विचार" नामक ग्रंथ लिखा—जो बडौदा और कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है।

५१ वैद्यनाथ तत्सत्

तत्सत् वंश में भी अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हो चुके हैं। यह उसी वंश के पदवाक्यप्रमाणपारावारीण राम भट्ट अथवा रामचन्द्र सूरि का पुत्र था। मीमांसा-दर्शन विशेषतः भट्ट मत का यह प्रौढ विद्वान् था। शास्त्र-दीपिका पर इसने प्रभा नामक व्याख्या की। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और विषय के प्रतिपादन में अत्यन्त सफल है। वर्तमान में इसका प्रकाशन मूल शास्त्रदीपिका के साथ आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री के संपादकत्व में राजपूताना विश्वविद्यालय जयपुर के प्रकाशन विभाग की ओर से हो रहा है। इसके अतिरिक्त जैमिनि सूत्रों पर भी इसने

अधिकरण-क्रम से न्याय-बिन्दु नामक व्याख्या की—जिसका प्रकाशन बनारस संस्कृत कालेज के प्रोफेसर मदनमोहन पाठक की टिप्पणी के साथ गुजराती प्रेस बंबई से होचुका है। इसी प्रकार इसने काव्य-प्रदीप पर भी उदाहरण-चन्द्रिका नामक टीका की—उसमें इसका संवत् १७४० अर्थात सन् १६४२ ई० उल्लेखित है जिससे इसका क १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित हो जाता है। इस संबंध में विशेष ज्ञान के लिए प्रभा-सहित शास्त्रदीपिका की भूमिका द्रष्टव्य है।

५२ मुरारि मिश्र तृतीय

यह खंडदेव से अत्यन्त प्रभावित है। मीमांसा पर अंगत्वनिरुक्ति नामक इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ है-जिसका प्रकाशन आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज पूना से हो चुका है। इसमें यज्ञों के विभिन्न अंगों और उनके फलों के संबन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है। अपने इस ग्रंथ में यह तंत्ररत्न, शास्त्रदीपिका, विधिरसायन, भाट्ट-दीपिका एवं खंडदेव के मीमांसा-कौस्तुभ का उल्लेख करता है। अनेक प्रघट्टकों में तो खंडदेव का प्रत्यक्ष अनुसरण भी किया गया है। इन सबसे अर्वाचीन होने के कारण इसका काल १७ वीं शताब्दी का अंत अथवा १८ वीं शताब्दी का प्रारंभ मानना चाहिए। इस संबन्ध में विशेष ज्ञान के लिए ओरियन्टल कॉंफ्रेंस, लाहौर में पठित डा० उमेश मिश्र का लेख द्रष्टव्य है।

५३ भास्कर राय

भासुरानन्द दीक्षित इसका उपनाम है। यह गंभीर राय और कोणाम्बिका का द्वितीय पुत्र था। काशी के श्रीनृसिंह यज्वन् इसके गुरु थे। संस्कृत साहित्य के सभी अंगों का यह अच्छा विद्वान् था और श्रीविद्या का उपासक था। मीमांसा के अतिरिक्त इसने तंत्रशास्त्र पर भी अनेक ग्रंथ लिखे। तंत्रशास्त्र पर इसके ग्रन्थ इसके विषय-गत पूर्ण अधिकार को प्रकट करते हैं। इसने नित्यषोडशिकार्णवतंत्र की सेतुबन्ध नाम से व्याख्या की-जो संवत् १७८९ अथवा सन् १७३२ ई० में लिखी गई थी।

आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना से इसका प्रकाशन हो चुका है। दूसरी व्याख्या इसी विषय पर सौभाग्य-भास्कर नाम से ललिता-सहस्त्रनाम पर है-जो बनारस में सं० १७८५ अथवा सन् १७२८ में लिखी गई है। इन दोनों में उललिखित समय १८ वीं शताब्दी का प्रारम्भ इसका काल घोषित करता है। मीमांसा पर भी इसने दो तीन ग्रंथ लिखे। वादकुतूहल इसकी पहली रचना-है जिसमें मत्वर्थलक्षणा के विषयमें विवेचन किया गया है औरउसे 'सोमेनयजेतै आदि विधिवाक्यों पर संगत किया गया है। दूसरी रचना चन्द्रिका या भाट्ट-दीपिका है-जो जैमिनि के संकर्ष कांड के चार अध्यायों की व्याख्या है-जिसका प्रकाशन पंडिन न्यू सीरीज बनारस के १४, १५ वें भाग में हो चुका है। इसकी तीसरी रचना भाट्ट-दीपिका (खंडदेव) पर चन्द्रोदय नाम की व्याख्या है। ये सभी ग्रंथ अधिकार के साथ लिखे गये हैं।

५४ वासुदेव दीक्षित

यह महादेव वाजपेयी और अन्नपूर्णा का पुत्र था। सन् १७११ और ३५ में तंजौर के मराठा राजा सरभोजी और तुकोजी भोंसले के मंत्री आनन्द राय के यहाँ अध्वेर्यु था। इससे उसका काल सहज ही में १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित हो जाता है। जैमिनि-सूत्रों पर इसने "अध्वर-मीमांसा-कुतूहल-वृति" नामक विस्तृत व्याख्या लिखी। जिसका कुछ भाग महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री की संपादकता में वाणी-विलास प्रेस, मद्रास से प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रंथ पठनीय है। यह व्याकरण का भी विशिष्ट विद्वान् था। भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी पर बाल मनोरमा इसकी सरल और बिस्तृत व्याख्या है-जो विषय को समझाने में रामबाण सिद्ध हुई है।

५५ वैद्यनाथ पायगुण्डे

यह बालम भट्ट के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। यह महादेव भट्ट और वेणी का लड़का था। व्याकरण और साहित्य के विशिष्ट विद्वान्

नागेश का यह प्रमुख शिष्य था। इसने व्याकरण और धर्म-शास्त्र पर प्रामाणिक ग्रंथ लिखे। अप्पय्य-दीक्षित के कुवलयानंद पर भी इसने एक व्याख्या लिखी। मीमांसा पर इसका एक मात्र ग्रन्थ "पिष्ट-पशु-निर्णय" है। इसके गुरु नागेश को जयपुर के विद्वान् महाराजा जयसिंह ने (१७१४ ई०) ससंमान आमंत्रित किया था। उसीके आधार पर सहज ही इसका काल १८ वीं शताब्दी का मध्य-भाग निश्चित किया जा सकता है।

५६ रामानुजाचार्य

यह भी १८ वीं शताब्दी के मध्य—भाग में मीमांसा की दोनों प्रणालियों का एक विख्यात विद्वान् हुआ। मीमांसा की दोनों प्रणालियों पर इसने रचनायें कीं। प्रभाकर-पद्धति पर तंत्र-रहस्य नामक ग्रंथ इसने लिखा—जो प्रमाण और प्रमेय भाग का सुन्दर व शास्त्रीय विवेचन करता है। इसका प्रकाशन गायकवाड संस्कृत सीरीज बड़ोदा से हो चुका है। भट्ट-परंपरा पर इसने पार्थ सारथि मिश्र के प्रसिद्ध ग्रंथ "न्यायरत्नमाला" पर नायक-रत्न नाम से व्याख्या की। नायकरत्न इस ग्रन्थ की एक मात्र व्याख्या है—जो इसके समझने में हमारी सहायता करती है। यह गोदावरी के किनारे रहता था। इसने अपनी रचनाओं में खंडदेव को उद्धृत किया है—इसी से इसका काल, सहज ही में प्रमाणित हो जाता है। नायक रत्न का प्रकाशन भी बड़ौदा से मूल ग्रन्थ के साथ श्री रामस्वामी शास्त्री के संपादकत्व में हो चुका है। इस सबन्ध में विशिष्ट ज्ञान के लिए श्री रामस्वामी द्वारा लिखित इसी ग्रन्थ का प्राक्कथन पढ़ना चाहिये।

५७ नारायण तीर्थ

नारायण तीर्थ पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसाओं का विख्यात विद्वान् हुआ। यह पहले गृहस्थी था और आगे चल कर सन्यासी बना। उसकी गृहस्थ अवस्था का नाम गोविन्द शास्त्री था। शिवराम तीर्थ से इसने सन्यासाश्रम की दीक्षा ली और उसने इसका नाम "नारायण तीर्थ"

निकाला। मीमांसा और वेदान्त दोनों विषयों पर इसने ग्रन्थ लिखे। मीमांसा पर भाट्ट-परिभाषा नामक ग्रन्थ इसने भट्ट-के सिद्धान्तों में प्रवेश के लिए लिखा—जिसका प्रकाशन गायकवाड संस्कृत सीरीज बड़ौदा से हो चुका है। भाट्ट-भाषा भाष्य प्रकाश के उदाहरणों से यह भी विदित होता है कि यह बनारस के नीलकंठ[1] सूरिका लड़का था। उसी के अंत में वह अपने सन्यास की दीक्षा को भी प्रमाणित करता है[2]। यह अपने काल का प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली विद्वान् था-जिसे ब्रह्मानंद[3] जैसे विद्वान् ने अपनी "लघुचन्द्रिका" में आदर दिया है। भाट्ट-परिभाषा में जमिनि के १२ अध्यायों का सारांश संकलित है-यह ग्रन्थ उसने सन्यास लेने से पूर्व लिखा-जब इसका नाम गोविन्द था। संभवतः इसका वेदान्त का गुरु वासुदेव दीक्षित[4] था-यह उसने अपने वेदान्त के ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती की सिद्धान्त बिन्दु की व्याख्या में लिखा है। यह मधुसूदन सरस्वती १७ वीं शताब्दी में हुआ है और इसी आधार पर इसका काल १८ वीं शताब्दी का प्रारंभ अनुमित किया जा सकता है।

५८ ब्रह्मानंद सरस्वती

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, यह नारायण[5] तीर्थ का शिष्य था-यह उल्लेख उसने अपनी सिद्धान्त बिन्दु की व्याख्या एवं अद्वैत[6] सिद्धि की व्याख्या के प्रारंभ में किया है। इसका दूसरा गुरु परमानन्द[7] सरस्वती था-जैसा कि इसने न्यायरत्नावलि एवं लघु-चन्द्रिका में स्पष्ट

१—इति नीलकण्ठसूरिसूनुगोविन्दविरचिते भाट्टभाषाप्रकाशे प्रथमोऽध्यायः पृ० १३)

२—भगवच्छिवरामतीर्थशिष्यो मुनिनारायणतीर्थनामधेयः।
व्यतनोदधिकाशिभाट्टभाषा-प्रथनं भाट्टनयप्रकाशहेतोः॥

३—श्री नारायणतीर्थानां, षटशास्त्रीपारमीयुषाम्।

४—वासुदेवतीर्थविद्यशिष्य श्रीनारायणतीर्थाविरचितासिद्धान्तलघुव्याख्या।

५—श्रीनारायणतीर्थानाम् गुरुणां चरणाम्बुज।

६—श्रीनारायणतीर्थानां गुरूणां चरणस्मृतिः।

७—भजे श्रीपरमानंदसरस्वत्यंघ्रिपंकजम्।

रूप से लिखा है। यह भी अपने गुरु की ही तरह वेदान्त और मीमांसा का पूर्ण विद्वान् था। सन्यास लेने से पूर्व यह एक बंगाली गौड ब्राह्मण प्रतीत होता है। वेदान्त पर इसने अनेक ग्रन्थ लिखे-जिनमें अद्वैतसिद्धि की व्याख्या लघुचन्द्रिका एवं मधुसूदन सरस्वती को सिद्धान्त बिन्दु को व्याख्या न्यायरत्नावलि अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैमिनि सूत्रों पर इसने मीमांसा चन्द्रिका नाम से व्याख्या की। अपने गुरु की तरह यह भी भट्ट-संप्रदाय का कट्टर अनुयायी था एवं आचार्य शंकर के "व्यवहारे भट्टनयः" वाले सिद्धान्त का अन्धभक्त था। यह १८ वीं शताब्दी के पूर्व भाग में विद्यमान था।

५६ राघवानन्द सरस्वती

यह राघवेन्द्र सरस्वती के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह भी एक बहुत बड़ा भारी सन्यासी हुआ है। मीमांसा-दर्शन पर उसने मीमांसा-सूत्रदीधिति अथवा न्यायलीलावती नामक ग्रन्थ लिखा—जो जैमिनि के सूत्रों का व्याख्यान है। इसकी दूसरी रचना मीमांसा-स्तवक है। यह भी १८ वीं शताब्दी में हुआ।

६० बालकृष्णानन्द

यह राघवेन्द्र सरस्वती का शिष्य था एवं बालकृष्णेन्दु सरस्वती के नाम से विख्यात था। मीमांसा पर इसने "न्यायमोद" नामक ग्रन्थ लिखा-जिसका विवरण तंजोर लाईब्रेरी से ज्ञात होता है। यह १८ वीं शताब्दी में विद्यमान था।

६१ उत्तमश्लोकतीर्थ

ऐसा सुना जाता है कि उसने कुमारिल भट्ट के लघुवार्तिक पर लघुन्यायसुधा नामक व्याख्या की। संभवतः यह टुप्टीका के समान होगी। इस ग्रन्थ के उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं, पर यह मूल ग्रन्थ अभी नहीं मिल पाया है। यह भी १८ वीं शताब्दी में बनारस में रहता था-जैसा कि उसके एक पद्य से विदित होता है।

६२ कृष्णयज्वन्

मीमांसा-परिभाषा नाम से एक बहुत संक्षिप्त एवं सरल पुस्तक के रचयिता के रूप में इसका नाम अत्यन्त विख्यात है। मीमांसा की यह सबसे छोटी पुस्तक है—जिसमें मीमांसा की मुख्य मुख्य बातों का संकलन किया गया है। मीमांसा के साधारण ज्ञान के लिए इसे हजारों विद्यार्थी पढ़ते रहे हैं—इसीलिए इसके अनेक संस्करण भी निकल चुके हैं। कलकत्ते से स्मृति तीर्थ की टिप्पणियों के साथ इसका मुद्रण हुआ है-बनारस से आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री के संपादकत्व में इसके संस्करण निकल चुके हैं। यह बहुत उपयोगी पुस्तिका है—इसके अतिरिक्त इस विषय में विदित नहीं है।

६३ रामेश्वर

रामेश्वर के सम्बन्ध में अनेक मत समालोचकों में प्रचलित हैं। एक रामेश्वर अर्थसंग्रह का (लौगाक्षिभास्कर) व्याख्यात हुआ-एक ने मीमांसा-सूत्रों पर "विहारवापी" नाम से वृत्ति लिखी और एक ने सुबोधनी के नाम से। कतिपय विद्वानों-विशेषतः डा० श्री उमेश मिश्र का सिद्ध करना है कि ये तीनों रामेश्वर एक ही थे। इसके पिता का नाम सुब्रह्मण्य था और यह बनारस का रहने वाला था। सुबोधिनी का लेखक बनारस-निवासी पंडित क्षितिकंठ था—यही आगे चल कर जब सन्यासी बन गया, तो इसका नाम रामेश्वर पड़ गया। सुबोधिनी का प्रकाशन "पंडित" में हुआ। यह रामेश्वर—जिसका पूर्वनाम क्षितिकंठ था—दंडी सन्यासी था। काशी के स्वर्गीय बाबू गोविन्द दास कहते हैं कि—"यही सन्यासी अर्थसंग्रह की टीका का भी लेखक था—जो मेरे बाग के पीछे एक में मठ रहता था-जहाँ मेरे गुरू श्री हरिशास्त्री मानेकर ने अपने जीवन का अंतिम समय बिताया था। संभवतः क्षितिकंठ उसके पूर्व आश्रम का नाम था और रामेश्वर सन्यासाश्रम का" यह वक्तव्य इनकी एकता में विश्वास उत्पन्न करता है।

रामेश्वर ने विहारवापी की रचना माधवसर्वज्ञ के मीमांसा ज्ञान की प्रस्तावना के रूप में की–जैसा कि उसने वापी के प्रारंभ में [1] लिखा है। अर्थसंग्रह की व्याख्या कौमुदी की रचना जनहित की दृष्टि से की [2] जैसा कि इसने उसके अंत में लिखा है। यह गोपालेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती का शिष्य था। सुबोधिनी की रचना, शक संवत् १७६१ [3] अथवा सन् १८३९ ई० में हुई–जैसा कि उसके इस अंतिम पद से प्रमाणित होता है। इसी प्रकार दशम अध्याय के अंत में वह कहता है कि पुस्तक शक संवत् १७५८ [4] अर्थात् १८३६ ई० में समाप्त हुई। इससे भी आगे वह ११ वें अध्याय के अंत में इसी विषय पर एक पद्य और लिखता है। यही काल विहारवापीका है। उपरिनिर्दिष्ट विवरण विहारवापी, सुबोधिनी और कौमुदी के लेखक की एकता प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त है। सुबोधिनी अत्यन्त सरल और सुन्दर रचना है। इसी के अंत में चल कर वह यह भी सिद्ध करता है कि उसने अपने पिता ही से अध्ययन [5] किया।

१—श्रीमाधवसर्वज्ञो, मीमांसाब्धि सरश्चकाराल्पम्।
तत्राक्षमा विहारे वाप्यामस्यां विहृत्य दृढयत्नाः॥
पश्चात् सागरविहरणशीला लोके भवन्तु निश्शंकम्।
एवं जातमतिः काश्यां श्री गुरोः कृपया मुदा।
रामेश्वरः प्रयत्नेन वापीं रचितुमारभे॥

२—या काशी निखिलगुरोर्महेश्वरस्य, प्राणान्ते सकलशिवप्रदा प्रसिद्धा।
तत्राहं सकलसुरेशलब्धतत्त्वस्तत्रेयं सुजनहितप्रदा निबद्धा॥

३—दमर्त्याद्रिदमामिते शालिवाहशाके ऽविमुक्तके।
सहस्युसितपक्षेऽथ द्वितीयायां रवौ निशि॥

४—नन्दबाणाद्रिभूशाके, शुच्यां भूते सिते रवौ।
रचितो ग्रंथसन्दर्भो विश्वेशचरणेऽर्पितः॥

५—गुरुत्वञ्च, पितृत्वञ्च, यत्रैकत्र स्थितं मम।

उपरि प्रतिपादित आधारों में कुछ ऐसे भी हैं जो इन तीनों को भिन्न भिन्न व्यक्ति बताने का आग्रह करते हैं । प्रथम तो एक ही व्यक्ति सुबोधिनी और विहारवापी नाम से एक ही विषय पर दो व्याख्याएँ क्यों करने लगा ? दूसरे अर्थसंग्रह का व्याख्याता सुरेश को अपने गुरु के रूप में संमानित करता है और सुबोधिनी का व्याख्याता अपने गुरु और पिता को एक ही व्यक्ति सिद्ध करता है-जबकि इस वाक्य के अनुसार इसका गुरु सुब्रह्मण्य होना चाहिए । अतः हो सकता है-एक ही काल में अर्था १६ वीं शताब्दी में ये तीनों व्यक्ति हुए हों-जिनने ये तीनों रचनाएँ की हों । फिर भी इन साधारण बातों से उपरि-सिद्ध एकता का न खंडन ही किया जा सकता है न मंडन ही । इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों की तर्क पूर्ण संमति अपेक्षित है ।

पय्यूर-वंश

इन सब लेखकों के अतिरिक्त अनेक वंशों तक ने अपनी अनेक पीढ़ियों तक मीमांसा के इस संप्रदाय को पुष्ट किया । ऊपर हम जिन लेखकों का व्यक्तिशः परिचय दे आये हैं-उनमें भी हमने यह स्पष्ट रूप से अनुभव किया है कि कई एक कुलों ने परंपरागत विद्या के रूप में इसे आदर दिया था । इस प्रकार के कुलों में भट्टों और ठाकुरों के कुल अधिक महनीय हैं । व्यापक दृष्टि से देखाजाये तो मिश्र और दीक्षितों ने भी इस परंपरा की कम सेवा नहीं की है, चाहे यह अवश्य है कि वह पीढी दर पीढ़ी न चली हो । मिश्रों का तो एक प्रकार से संस्कृत साहित्य के प्रत्येक अंग पर हो एकाधिपत्य सा रहा है । यह सब विस्तार से विवेचन करने की अपेक्षा यहाँ संक्षेप में इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि इस दर्शन को पल्लवित, पुष्पित और फलित करने में केवल व्यक्तियों ही ने नहीं, अपितु अनेक वंशों तक ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है । हम इस दृष्टिकोण से सहज ही में उस काल में व्याप्त मीमांसा के महत्त्व का अनुमान लगा सकते हैं । इसी प्रकार के भाग्यशाली वंशों में पय्यूर भट्ट का भी अपना एक स्थान है ।

परमेश्वर द्वितीय

यह वंश मलाबार में हुआ और अब तो प्रायः संस्कृत साहित्य के विद्यार्थी इससे सुपरिचित से होगये हैं। इस वंश के अनेक लेखकों की रचनायें अब तो प्रायः प्रकाशित भी हो गई हैं। इसी वंश के परमेश्वर द्वारा की गई स्फोट-सिद्धि (मण्डन मिश्र) और तत्वबिन्दु (वाचस्पति-मिश्र) की व्याख्याएँ क्रमशः गोपालिका एवं तत्त्वविभावना के नाम से मद्रास एवं अन्नामलै यूनीवर्सिटी संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुई हैं। इन दोनों के अतिरिक्त भी इसने मडन मिश्र के विभ्रमविवेक व चिदानन्द पण्डित के नीतितत्वाविर्भाव पर भी टीकाएँ लिखीं। यह परमेश्वर ऋषि और गोपालिका का पुत्र था।

परमेश्वर प्रथम

इसके प्रपिता का नाम भी परमेश्वर ही था जो गौरी और ऋषि का पुत्र था। इसने मीमांसा-सूत्रों के साथ साथ सुचरित मिश्र की काशिका पर भी व्याख्यायें कीं। इस वंश की छै पीढियों ने मीमांसा की महान् सेवायें कीं चाहे इनमें से बहुतों ने मीमांसा पर ग्रन्थ रचना न की हो-फिर भी शास्त्र की दृष्टि से इन्हें महान् विद्वान माना जाता है। मीमांसा के अतिरिक्त भी इनने मेघदूत की सुमनोरमणी के नाम से व्याख्या की-जिसकी चर्चा अडैय्यार लाइब्रेरी के फर्वरी १९४५ के बुलेटिन में की गई है। मीमांसा-और विशेष कर मंडनमिश्र के सिद्धान्तों के तो ये एक प्रकार से ठेकेदार से थे। इस वश के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इस बपौती का पूरा अभिमान था। इसीलिए परमेश्वर द्वितीय ने अपना परिचय देते हुए कहा है—

> "मडनाचार्यकृतयो येष्वतिष्ठन्त कृत्स्नशः।
> तद्वंश्येन मया ··· ··· ··· ··· ॥

समालोचकों-विशेषकर डा० श्री कुञ्जन राजा ने चकोर-संदेश[1] काव्य को-जिससे कि इस वंश के संबन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है-इसी वंश के किसी महामनीषी की रचना सिद्ध किया है।

१—गवर्नमेण्ट ओरियन्टल मैनिस्क्रीप्ट लाइब्रेरी मद्रास नं० R. ३६०७

निवास स्थान और नाम करण—

पहले इन पय्यूर भट्टों का जन्म-स्थान कालीकट के पास उत्तर की ओर तिरुवेलंगाद था और वे बाद में अपने वर्तमान स्थान में आ बसे है। उरगम् का मन्दिर (त्रिचुर के उत्तर में वलय नाम से प्रसिद्ध) तिरुवेलंगाद देवी के नाम समर्पित है—जो कालीकट के पास है। उधर से आकर ही संभवतः पय्यूर भट्ट दक्षिण की ओर बसे हों व उनने वहाँ अपने परिवार के लिए गोपालिका मन्दिर का बनवाया हो। यह गोपालिका इनकी कुलदेवी थी—जैसाकि हमें संदेश काव्य से विदित होता है।

पय्यूर यह नामकरण भी अपनी इसी कुलदेवी के आधार पर हुआ है। पय्यूर का अभिप्राय गाय का गांव होता है-जो गोपालिका ही का एक संकेत है। मलाबार में कोट्टायन के राजा मीमांसकों के सर्वप्रथम आश्रयदाता थे-इससे भी उनका प्रथम निवास स्थान वही प्रमाणित होता है। वहीं से ये वर्तमान निवास स्थान तलप्पिली प्रदेश में स्थानान्तरित हुए-जिसके राजा भी विद्वानों के महान् आश्रयदाता रहे हैं।

काल—

संदेश काव्य का समय विद्वान् लोग ईसा से ११ ग्यारह सौ वर्ष अनन्तर मानते हैं- इसी से हम इस वंश के काल का अनुमान भी लगा सकते है। पन्नीयूर गाँव के ब्राह्मणों द्वारा किये गये बराह-मूर्ति भिस्मकरण अपराध की चर्चा हम १२ वीं और १३ वीं शताब्दी तक के मलयालम ग्रन्थों में पाते हैं—पर संदेश में इस महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं हैं। इससे यह स्वतः सिद्ध होजाता है कि यह काव्य इस घटना से पूर्व लिखा गया हो और वह समय वही हो सकता है—जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। चहे कुछ भी हो—मीमांसा-साहित्य में इस वंश की देन अत्यन्त विस्तृत, गंभीर एवं प्रशंसनीय हैं। इस संबध में विस्तृत जानकारी के लिए "जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च मद्रास के सितबर १९४५ के अंक में "पय्यूर भट्टाज' विषय पर डा० श्री कुंजनराजा का विद्वत्ता-पूर्ण लेख पढ़ना चाहिए।

इतने ही नहीं, और भी ऐसे बहुत से महनीय साधकों ने इस परंपरा की सेवायें कीं। मीमांसा-दर्शन के इतिहास में भट्ट-परंपरा का जो सबसे ऊँचा स्थान है-वह उन सब महापुरुषों की तपस्या की देन है-जिनका सारा जीवन ही इसके अर्पित था। उसके कुछ इने गिने प्रमुख लेखकों का विवरण-मात्र हम इस विवेचन में प्रस्तुत कर पाये हैं। हजारों ऐसे वास्तविक साधक इस दिशा में हुए हैं-जिनके नाम तक हम नहीं जान पाते। सैकड़ों ने तो अपना जीवन तक इसको अर्पित कर दिया है। इस प्रसंग में इन प्रसिद्ध व्यक्तियों की अपेक्षा भी उन अप्रत्यक्ष साधकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी तपस्या ने सिद्धान्तों के रूप में जो उत्कृष्ट देन हमें दी-उसका दिग्दर्शन अग्रिम भाग में होगा।

—:—:—

८ प्रभाकर-परंपरा

कुमारिल भट्ट के अतिरिक्त मीमांसा-दर्शन का प्रभावशाली लेखक प्रभाकर मिश्र हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है—इसने भी कुमारिल की तरह शबर स्वामी के भाष्य पर व्याख्या लिखी। यह व्याख्या और इसके सिद्धान्त इतने प्रभावपूर्ण और आकर्षक हुए कि इसके नाम पर एक स्वतंत्र संप्रदाय ही चल पड़ा—जिसे हम प्रभाकर-परंपरा के नाम से संबोधित करते हैं। दार्शनिक दृष्टि और शास्त्रीय आधारों से इस परंपरा का भारतीय वाङ्मय में बहुत ऊँचा स्थान है। संक्षेप में इसकी अतिशय महत्ता का स्पष्ट और स्थूल उदाहरण तो यह ही है कि यह परंपरा भट्ट जैसे संपन्न और सशक्त संप्रदाय के सामने केवल जीवित ही नहीं रही, अपितु इसने अपना एक संमान-पूर्ण स्थान भी बनाये रखा। अग्रिम प्रसंग में हम इसकी इन्हीं विशेषताओं और आधारों का विवेचन करेंगे।

प्रभाकर मिश्र

जितना प्रभाव प्रभाकर का हम सब पर है उतना ही कम हम इस व्यक्ति के विषय में जानते हैं। उसके विचार अवश्य प्रकाशमान हैं-और उन्हीं के आधार पर हम इस में अतिशय श्रद्धा रखते हैं। इसके व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में हम सर्वथा अंधकार में हैं। निम्न-लिखित विवेचन हमें इस दिशा में थोड़ा बहुत प्रकाश दिखा सकेगा।

कुमारिल और प्रभाकर

कुमारिल और प्रभाकर के विचारों के संबन्ध में तो अलग स्तम्भ में प्रकाश डाला जायेगा, किन्तु इस प्रसंग के द्वारा हमें इन दोनों महा-मनाओं के संबन्ध के विषय में प्रचलित किंवदन्तियों और आधारों का

दिग्दर्शन कराना है। यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि प्रभाकर कुमारिल का शिष्य था-यह अत्यन्त प्रतिभाशाली एवं स्वतन्त्र विचार-धारा का व्यक्ति था। अपनी बाल्यावस्था में ही यह समय समय पर अपनी कुशाग्रबुद्धि का परिचय अपने गुरु को देता रहता था। कहते हैं कि एक बार मृत्यु-संस्कार के सम्बन्ध में गुरू और शिष्य में मतभेद हो गया। भिन्न भिन्न तर्कों के कारण गुरू शिष्य की शंकाओं का समाधान नहीं कर पाया, तब कुमारिल ने चारों ओर यह संवाद प्रचारित कर दिया कि वह मर गया है। जब लोग अंतिम संस्कार के लिये एकत्रित हुए, तो संस्कारविधि का प्रश्न उपस्थित हुआ। जब यही चर्चा प्रभाकर तक पहुँची तो उसने कहा-"इस संबन्ध में कुमारिल ने जो प्रतिपादन किया है-वह ही वस्तुतः संगत है-मैंने जो कुछ कहा है-वह तो केवल विवाद के लिए है-व्यवहार के लिए नहीं"। अपने इस अभीष्ट वाक्य को सुनकर कुमारिल खड़ा हो गया और उसने प्रभाकर से अपने सिद्धान्तों की विजय स्वीकार कर लेने का दावा किया। इस पर प्रभाकर ने कहा-"स्वीकार मैंने अवश्य किया है-पर आपके जीवन-काल में नहीं"।

इसके अतिरिक्त दूसरी किंवदन्ती इस प्रकार प्रचलित है-एक बार कुमारिल प्रभाकर को पढ़ा रहा था-पढ़ाते पढ़ाते इस प्रकार का स्थल आ गया-जिसमें यह उल्लिखित था "अत्र तुनोक्तम्, तत्रापिनोक्तम् इति द्विरुक्तम्"। भट्ट इस पंक्ति को स्पष्ट नहीं कर सका कि यह किस प्रकार द्विरुक्त हुआ। इस पर शिष्य ने तत्काल इसका छेद करके यह व्याख्या की-अत्र "तुना उक्तम्" "तत्र अपिना उक्तम्" अर्थात् यहाँ "तु" से यह कह दिया गया और वहां अपि से। इसकी इस कुशाग्रता से प्रभावित हो कर गुरू ने तत्काल इसे "गुरु" की पदवी दी। यही कारण है की आज तक प्रभाकर का मत "गुरु-मत" के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है।

इन दोनों का यह गुरु-शिष्य-भाव इतना विख्यात सा हो गया है कि इसके खंडन के लिए अनेक समालोचनात्मक तर्क उपस्थित कर देने पर भी यह खंडित नहीं हो पाता। एक प्रकार से इसने लोगों के दिलों में अपना एक स्थान सा बना लिया है। केवल चर्चा ही नहीं, अपितु लोगों ने अपनी रचनाओं[१] तक में इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है—और यह एक सर्व-संमत वस्तु सी हो गई है। तर्क से आगे विश्वास नामक एक उन्नत वस्तु है, जहां तर्क नहीं पहुंच पाता। यह विषय भी एक दृष्टि से उसकी (तर्क) सीमा को पार कर चुका है।

पौर्वापर्य

इतना होने पर भी समालोचकों एवं ऐतिहासिकों की परंपरा इस ओर चुप न रही। भिन्न भिन्न तर्कों की कसौटी पर प्रभाकर और कुमारिल के संबन्धों को कसा जाने लगा। यह तो स्वाभाविक तथ्य है कि जब तर्क सामने आ कर खडा हो जाता है—तो किवदन्तियों और दन्तकथाओं का कोई मूल्य उसके सामने नहीं रह जाता। ऐसी दशा में जो कुछ आधार हमें लोकतः प्राप्त होते हैं, वे टिक नहीं पाते। इस विषय में भी यही सामान्य नियम लागू है—इसी लिए तार्किक दृष्टि से इन दोनों के गुरु और शिष्यभाव के सम्बन्ध में प्रस्तावित उपर्युक्त आधार कोई वजन नहीं रखते। इसके अतिरिक्त समालोचकों को इस सम्बन्ध की सत्यता में अनेक प्रकार के संशय हैं। प्रो० कीथ और डा० श्री गंगानाथ झा तो इनकी गुरुशिष्यता स्वीकार करना दूर रहा—प्रभाकर को कुमारिल से भी अधिक पूर्ववर्ती लेखक सिद्ध करते हैं।

१—अस्यां सूत्रं जैमिनीयं शाबरं भाष्यमस्य तु।
मीमांसावार्तिकं भाट्टं भट्टाचार्यकृतं हि तत्॥
तच्छिष्योऽप्यल्पभेदेन शाबरस्य मतान्तरम्।
प्रभाकरगुरुश्चक्रे तद्धि प्राभाकरं मतम्॥
(शेष, सर्व–सिद्धान्त–रहस्य)

प्रो० कीथ के अनुसार प्रभाकर ६०० से ६५० ई० के मध्य हुआ और कुमारिल इसके कुछ पश्चात्। झा का कहना है कि प्रभाकर कुमारिल की अपेक्षा ज्येष्ठ था या हो सकता है-वह उसका समकालीन हो। मुख्य कारण यह है-जो प्रभाकर को कुमारिल की अपेक्षा ज्येष्ठ सिद्ध करता है। प्रभाकर ने बृहती के नाम से शाबर भाष्य की जो व्याख्या की-उसमें कहीं भी भाष्य की आलोचना नहीं की-अपितु भाष्यकार के मतों का अपने दृष्टिकोण से उल्लेख किया। बहुत कम ऐसे स्थान हैं-जहाँ इसने अन्य मतों की भी आलोचना की हो। इसके विपरीत कुमारिल ने अनेक स्थानों पर भाष्यकार की आलोचना तो की है-पर इसके विपरीत अनेक स्थानों पर खंडन [1] भी किया है। कुछ स्थल तो ऐसे हैं-जहाँ कुमारिल ने भाष्य-मत का खंडन किया है और प्रभाकर ने उसे अपनाया है। ऋजुविमला ने अवश्य भाष्य का समर्थन करते हुए कुमारिल के विरुद्ध कहा-पर प्रभाकर ने कुछ नहीं। यदि वस्तुतः प्रभाकर कुमारिल के अनन्तर होता, तो वह, अवश्य कुमारिल की आलोचनाओं का खंडन करता।

इसके ठीक विपरीत कुमारिल द्वारा हम प्रभाकर के मत का खंडन किया हुआ पाते हैं। इनमें बहुत से स्थल ऐसे हैं-जिनका संबन्ध प्रभाकर की बृहती से है[2]। कुमारिल ने अधिकरण के संबन्ध में मंत्रों की निरर्थकता की शंका की-जिसका उपयोग यों के यों बृहती में हुआ है। प्रभाकर के अनुसार जहाँ कहीं भी स्मृतियों का प्रामाण्य स्थापित करना

१—तंत्रवार्तिक अनुवाद पृष्ठ ३२-१-२-१,
१२६ पृ०, १७८ पृ०, २०७ पृ०,
२२७ पृष्ठ. ३४७ पृ०। ३७३ पृ०।

२—तंत्रवार्तिक अनु० पृ० ५१० १-२-३०,
शाबर स्वामी अ. पृ० १०-११
तंत्रवार्तिक अनु० ११२

हो-वहाँ वेदों को देखना-चाहिए। कुमारिल ने इस पर शंका प्रकट की है। ढूँढने पर इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी प्राप्त हो सकते हैं।

प्रभाकर में तो हमें केवल एक ही प्रसंग ऐसा प्राप्त होता है-जहां हम कुमारिल द्वारा प्रतिपादित मत का खंडन देखते हैं। पर यहां भी यह बात ध्यान देने योग्य है-कि ऐसा करते समय जिस भाषा अथवा शब्दों को अपनाया गया है-वे कुमारिल के नहीं हैं। ४-१-२ के प्रसंग में कुमारिल कहता है—

"क्रत्वर्थे द्रव्यार्जने क्रतुविधानं स्यात् ॥

इसकी अपेक्षा प्रभाकर उद्धृत करता है—

"क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न भवतीति याग एवं न संवर्तते"

इसका खंडन करते समय तो इसकी भाषा और भी अधिक रूक्ष हो जाती है और वह कहता है—

"प्रलपितमिदं केनाप्यर्जनस्वत्वं नापादयतीति प्रतिषिद्धम्"

शब्दों का यह व्युत्क्रम प्रमाणित करता है कि "केनापि" के द्वारा जिस व्यक्ति की ओर संकेत किया गया है-वह व्यक्ति कुमारिल नहीं है-अपितु और ही कोई व्यक्ति है।

रही बात शैली की-उस दृष्टि से भी प्रभाकर कुमारिल से प्राचीन प्रतीत होता है। प्रभाकर की भाषा भाष्य के निकट है और उसमें उसी की तरह प्राकृतिक प्रवाह सरलता एवं स्पष्टता है। कुमारिल की भाषा अधिक साहित्यिक, पांडित्यपूर्ण एवं शंकराचार्य से मिलती जुलती है। बृहती में तो अनेक लोकोक्तियों और मुहावरों तक का प्रयोग हुआ है।

इसके अतिरिक्त कुछ एक सूत्र ऐसे हैं–जो भाष्य एवं बृहती में नहीं पाये जाते, किन्तु कुमारिल द्वारा तंत्रवार्तिक [1] में उल्लिखित हैं। कुमारिल ने भाष्य में इनके न होने के कई कारण दिये हैं। १–भाष्य का रचयिता इन सूत्रों की व्याख्या करना भूल गया। १–अथवा इन पर की गई व्याख्या नष्ट हो गई। ३–इन्हें अनावश्यक समझ जान बूझ कर छोड़ दिया गया। ४–उसने इनका प्रामाण्य स्वीकृत नहीं किया। इसलिए ६ से १६ तक ये सूत्र शृंखला–बद्ध नहीं होते। प्रभाकर ने भी इन सूत्रों को जान बूझ कर छोड़ दिया–ऐसा उल्लेख अनेक आगे के[2] लेखकों ने किया है। बृहती की व्याख्या तक में भी इस प्रकार का कोई विवरण नहीं दिया गया कि कुमारिल ने इन सूत्रों पर व्याख्या नहीं की है। कुमारिल को तो यह विदित था कि ये सूत्र अन्य व्याख्याताओं द्वारा छोड़ दिये गये हैं, किन्तु प्रभाकर को ज्ञात नहीं था। यदि प्रभाकर कुमारिल के पश्चात् होता, तो अवश्य इसका उल्लेख करता। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि प्रभाकर कुमारिल की अपेक्षा ज्येष्ठ था। श्री पशुपति नाथ शास्त्री भी इसी मत से सहमत हैं।

महामहोपाध्याय श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री ने १६२४ के तृतीय 'प्राच्यविद्या–संमेलन में प्रभाकर को कुमारिल के अनन्तरकालीन लेखक के रूप में सिद्ध किया है। उनका कहना है कि नय–विवेक में उल्लिखित वार्तिककार कुमारिल ही है–जो प्रभाकर से ज्येष्ठ है। उनके इस मंतव्य में बाधा पहुँचाने के लिए श्री पशुपतिनाथ शास्त्री कहते हैं कि नयविवेक का वार्तिककार दशपक्षी है–जब कि कुमारिल "लोक इत्यादि भाष्यस्य षडर्थान् संप्रचक्षते" इस स्पष्ट घोषणा के अनुसार दशपक्षी न होकर षट्पक्षी है। यह भेद ही नय–विवेक के वार्तिककार को पृथक् सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। पर इस पर श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री कहते हैं कि यही कुमारिल वह दशपक्षी वार्तिककार है–उसके शेष चार पक्षों का

१—तंत्रवार्तिक अनुवाद १२७५ पृ०

२—विद्यारण्यकृत "विवरण–प्रमेय–संग्रह पृ० ४,

विवरण इसकी अप्राप्त दो रचना बृहट्टीका या मध्यम-टीकाओं से जाना जा सकता है। श्री शास्त्री के मत के समर्थन के रूप में नयविवेक की व्याख्या नयकोश का निम्न-लिखित उद्धरण पर्याप्त है।

"लोके येष्वर्थेषु इत्यादेराद्यस्य भाष्यस्य वार्तिककारैरेकत्र दशार्था संभावितत्वेनोक्ताः—तत्र दशमोऽर्थ औचित्यानुभाषणम्। तथा अन्यत्र षडर्था ....१० पृ० मीमांसा-नय-कोश (मद्रास लाइब्रेरी मैनस्क्रिप्ट)

इसके अतिरिक्त श्री शास्त्री ने बृहट्टीका एवं मध्यम-टीका के नष्ट होने की सूचना द्वारा अपने मत को जो समर्थन दिया है-वह भी सप्रमाण है। स्वयं सर्वदर्शनकौमुदी[1]-कार इसका उल्लेख करता है। प्रभाकर द्वारा अपनी बृहती में भारवि[2] और भर्तृहरि[3] का उल्लेख भी इसके आनन्तर्य का साक्षी है। रही बात शैली की-वह तो कोई मौलिक तर्क नहीं है। प्रभाकर की शैली में भी हम स्थान स्थान पर साहित्यिक प्रवाह पाते हैं। तत्त्व-संग्रह के बौद्ध लेखक शांत-रक्षिता ने-जो एक ही शताब्दी के अनन्तर हुआ-कुमारिल की श्लोकवार्तिक के अंशों को तो अनेक स्थानों पर उद्धृत कर, खंडित किया है-पर प्रभाकर का नहीं। यह भी कुमारिल की प्राचीनता का साक्षी है। इस प्रकार श्री शास्त्री ने अपने दृढ तर्कों से प्रभाकर की अनन्तरता को सिद्ध तो की है-पर इन युक्तियों का भी श्री पशुपतिनाथ शास्त्री आदि ने खंडन अवश्य इधर उधर किया। इस प्रसंग में अधिक गहराई तक जाना आवश्यक नहीं है। प्रभाकर का आनन्तर्य तो सर्व-संमत सा ही होगया है-और यह कोई नवीन बात

१— ......"तदुपरि प्रस्थानद्वयम्-भाट्टं प्राभाकरमिति। तत्र भट्टाचार्याणां पञ्च व्याख्यानानि भाष्यस्य-एका बृहट्टीका, द्वितीया मध्यम-टीका, तृतीया टुप्टीका, चतुर्थी [illegible]रिका, पंचमं तंत्रवार्तिकमुक्तानुक्त-दुरुक्तचिन्तकम्। तत्र बृहन्मध्यमटीके रूप त न वर्तेते' इति।

२—अविवेकः परमापदां पदम् (बृहती २४५ पृ०)

३—ऋषीणामपि यज्ज्ञानं, तदप्यागमपूर्वकम् (भर्तृहरि)

नहीं है। स्थान स्थान पर हम भट्ट को प्रभाकर से पूर्व ही पाते हैं। विचारधारा की दृष्टि से भी प्रभाकर कुमारिल की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील, सूक्ष्म एवं आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। यह एक ही सब से बड़ा आधार प्रभाकर को कुमारिल को अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस विषय में विशिष्ट ज्ञान के लिए डा० श्री झा, पशुपतिनाथ शास्त्री एवं श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री के लेख पढ़ने चाहिए—वे हम अंतिम निर्णय में विशेष सहायता पहुँचा सकते हैं।

काल

कुमारिल की पूर्वता एवं प्रभाकर की अनन्तरता को सिद्ध करते हुए श्री कुप्पू-स्वामी शास्त्री ने प्रभाकर का काल ६१० ई० से ६९० ई० एवं कुमारिल का काल ६०० से ६६० ई० निश्चित किया है। श्री पशुपतिनाथ शास्त्री एवं डा० श्री गंगानाथ झा दोनों इस विषय में एकमत हैं, एवं उनने इसका काल ६०० से ६५० ई० निर्धारित किया है। मद्रास यूनीवर्सिटी में की गई खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि प्रभाकर, कुमारिल एवं मंडन के काल में कोई विशेष अंतर नहीं है। यह षष्ठ या सप्तम शताब्दी का मध्य-भाग होना चाहिए। यदि प्रभाकर एवं कुमारिल के पौर्वापर्य के संबन्ध में हम एक निष्कर्ष पर पहुँच जायँ, तो फिर इनके काल पर वैमत्य होना तो अधिक संभव नहीं है। यह प्रश्न तो सुलझने की अपेक्षा नई नई उलझनें उत्पन्न करता है। संक्षेपशारीरक[1] के एक प्रघट्टक में प्रभाकर के मत का उल्लेख हुआ है। इसका लेखक शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य का शिष्य था। यह सुरेश्वराचार्य ही मंडन मिश्र था (संदिग्ध) और मीमांसा के क्षेत्र में कुमारिल का शिष्य था। यदि इन सब बातों को सच मान लिया जाये, तब तो प्रभाकर मंडन की अपेक्षा प्राचीन होना चाहिए और इसीलिए कुमारिल से भी। पर यह सब अभी अकथ-कहानी है। हमें काल की दृष्टि से ये चर्चायें विचलित

१—"प्रभाकरे च समये (१—२७१)

नहीं कर सकतीं एवं हम सर्व-संमति से षष्ठ और सप्तम शताब्दी का मध्यभाग इसके काल के रूप में मान सकते हैं।

रचनायें

जिस प्रकार कुमारिल ने शबर-स्वामी के भाष्यकी व्याख्या की— उसी प्रकार प्रभाकरने भी। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं—कि शबर-स्वामी के भाष्य से ही मीमांसा को इन तीनों बिचारधाराओं का उद्गम होता है—कुमारिल ने इस व्याख्या को पांच प्रकार के भागों में पूरा किया एवं प्रभाकरने केवल दो भागों में। इन दोनों भागों की प्रसिद्धि (१) विवरण या लघ्वी—(२)[१] बृहती या निबन्धन के नाम से है। इन दोनों व्याख्याओं में जैसा कि नामों से ही विदित होता है— विवरण या [२] लघ्वी संक्षिप्त है एवं निबन्धन या बृहती अत्यन्त विस्तृत। जैसा कि माधव सरस्वती ने अपनी सर्वदर्शनकौमुदी में उल्लेख किया है—विवरण में ६ हजार एवं निबन्धन में १२ हजार पद्य थे। प्रभाकर के पट्ट-शिष्य श्री शालिकनाथ मिश्र ने इन दोनों पर क्रमशः दीपशिखा एवं ऋजुविमला के नाम से व्याख्यायें कीं। इनमें से बृहती छटे अध्याय के मध्य तक ही प्राप्त है। इसका तर्कपाद मद्रास एवं बनारस से (स० चिन्न स्वामी एवं श्री पट्टाभिराम शास्त्री) ऋजुविमला के साथ प्रकाशित होचुका है। इसके अतिरिक्त भाग एवं ग्रन्थ अप्राप्य हैं—यही कारण है कि बृहती निबन्धन एवं विवरण के विषय में अनेक विवाद विद्वानों में प्रचलित हैं। केवल इधर उधर की कुछ युक्तियों के अलावा हमारे पास ऐसा कोई कारण या आधार नहीं है—जिसके संबल पर हम इस विवाद को निपटा सकें। जानकारी के लिये उसका स्वरूप-निर्देश किया जा रहा है।

१—जर्नल आफ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास पृ० २८१–९१ सन् १९२९

२—A. द्रष्टव्य—डा० गंगानाथ झा "पूर्व मीमांसा" (अंग्रेजी)

B. "विवरणं नाम गुरुणा प्रणीता लघ्वीति तत्संप्रदायः। निबन्धनं नाम पश्चाद्गुरुणैव प्रणीता बृहट्टीकेति (नायकरत्न पृष्ठ २५३)

प्रभाकर की बृहती का नाम हम निबन्ध या निबन्धन निर्दिष्ट कर चुके हैं—पर बृहती की बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की लाइब्रेरी में उपलब्ध पांडुलिपि में दूसरे अध्याय के द्वितीय-पाद के अंत में लिखा मिलता है—"इति प्रभाकरमिश्रकृतौ मीमांसा-भाष्य-विवरणे।" इसी के तीसरे अध्याय के अंत में यह उल्लिखित है—"इति बृहत्याम्" इन दोनों की सगति बिठाने से तो यही सिद्ध होता है कि विवरण और बृहती एक ही रचना के नाम थे। महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा ने निबन्ध एवं बृहती की एकता सिद्ध की—जिसका खंडन म. म. कुप्पू स्वामी शास्त्री ने अपने "फर्दलाइन ओन दी प्रभाकरप्राबलम्" शीर्षक लेख (४७७ पृष्ठ) में किया। उनने सिद्ध किया कि विवरण बृहती ही का नाम है और निबन्धन प्रभाकर का दूसरा ग्रन्थ है—जिसकी व्याख्या दीपशिखा शालिकनाथ ने की। अपने इस मंतव्य की पुष्टि के लिए उन्हें उपर्युक्त उदाहरण के अतिरिक्त सर्वदर्शनकौमुदी की पांडुलिपि—(२२पृ०) का निम्न वक्तव्य भी सहायक प्रतीत हुआ—

"प्रभाकरप्रस्थानन्तु-भाष्यस्य प्रभाकरकृतं व्याख्यानद्वयम्। एकं विवरणं षट्सहस्त्रूपम्, अपरं निबन्धनसंज्ञकं द्वादशसहस्रम्। विवरणस्य ऋजुविमला, निबन्धनस्य दीपशिखा, टीकाद्वयं शालिकनाथ-कृतम्।"

इससे यह तो कम से कम सिद्ध हुआ कि यह विवरण और निबन्धनकार एक ही व्यक्ति हैं। कुछ एक समालोचक तो इनकी एकता तक में भी विश्वास नहीं रखते। इसके भी कतिपय आधार हैं। विधि-विवेक की व्याख्या करते हुए[१] वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्यायकणिका के एक ही प्रसग में विवरण और निबन्धनकार को भिन्न

१—विवरणकृतो हेतुः—"अननुष्ठेयत्वात्"। निबन्धनकृतो हेतुः—"अशब्दार्थत्वात् (विधिविवेक पृ० ४१३)

भिन्न मत उपस्थित करते हुए प्रस्तुत किया । पार्थसारथि[२] मिश्र ने अपनी न्यायरत्नमाला में इन दोनों का मौलिक भेद प्रदर्शित किया। इतना ही नहीं—शालिकनाथ तक में हम इस भेदभावना को पाते हैं। जहाँ विवरणकार का उल्लेख करना होता है—वहाँ वह बहुवचन से उसका[३] आदर करता है और जहां निबन्धनकार को उद्धृत करता है वहां एकवचन से यदि ये दोनों एक होते, तो वह भेदभाव नहीं करता ये सब ऐसे कुछ कारण हैं, जो इन दोनों को एकता में पूर्ण बाधा भी नहीं, तो संशय अवश्य पैदा कर देते हैं। इसके ठीक विपरीत भी अप्पय्य दीक्षित प्रभाकर को निबन्धनकार के रूप में उद्धृत करते हैं— "इत्थं गुरुणा निबन्धने व्याख्यातम्" (कल्पतरुपरिमल पृ० (११६)

अस्तु, एकता-भिन्नता पर चाहे अधिक ध्यान न दें, पर शालिकनाथ का विवरणकार के साथ बहुवचन-निर्देश हमें यह सिद्ध करने की प्रेरणा देता है कि विवरण और बृहती एक है—इसीलिए बृहतीकार को विवरणकार मानकर उसने आदर दिया है—क्योंकि वह उसका आचार्य था। पर ये सब विवेचन हमें निश्चय तक पहुँचाने की अपेक्षा अधिक संशय में डालने का कार्य करते हैं—इनका निर्णय तो भविष्य ही करेगा। चाहे कुछ भी हो—प्रभाकर का जितना साहित्य हमें प्राप्त होता है—वही इस महामना को सरस्वती का वरद-पुत्र प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

शैली

प्रभाकर एवं कुमारिल की संबन्ध-चर्चा के प्रसंग में हम इसका

२—"तस्मात् सर्व एव तार्तीयः पाञ्चमिकश्च क्रमो न विधेय"—इति विवरणकारः। निबन्धनकारस्त्वाह—भवतु तार्तीयक्रमस्य संख्यायाश्चैकादशादिकायां मे अभिधानासंभावत् ग्रहणेन विध्यैदमर्थ्ये सति विध्यक्षिप्तानुष्ठानतया विधेयत्वम्, नत्वेवं पाञ्चमिकस्य क्रमस्य संभवति; नहि तस्य किञ्चिदभिधानमस्तीति (पृ० १४८)

३—A. "विवरणकारा .... इच्छन्तीति"।

B. स हि विनियोज्यो विधेयश्चेति निबन्धनकारः।

शैली के संबन्ध में बहुत संक्षेप में सब कुछ कह आये हैं। अब हमें अपने उपर्युक्त कथनों को ही उदाहरणों से प्रमाणित-मात्र करना है। प्रभाकर कुमारिल के जितना साहित्यिक तो नहीं है (शैली की दृष्टि से) किन्तु उसकी शैली में व्यंग्य-मर्यादा का पर्याप्त समावेश है—जो उसके रसिकता को प्रकट करता है। यह सब लोग स्वीकार करते हैं कि प्रभाकर की भाषा में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रचुर प्रयोग है—मेरी दृष्टि से तो इससे अधिक भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व या अधिकार का दूसरा उदाहरण नहीं हो सकता। वही भाषा साहित्यिक दृष्टिकोण से अच्छी मानी जा सकती है—जिसमें प्रसंगतः स्वाभाविक प्रवाह में मुहावरों का प्रयोग हो। प्रभाकर इस दृष्टि से अत्यन्त चतुर है। वह चलते चलते कह जाता है—

१—अनन्यज्ञो देवानां प्रियः (३५ B)
२—मूर्धाभिषिक्तं प्रामाण्यम् (३२ B)
३—अहो! अनवस्थितनयनोविज्ञो भवान् (३२ B)
४—अज्ञानकातर्यमायुष्मतः प्रदर्शितम् (३० B)
५—बालिशभाषितमेतत् (बृहती २२०)
६—वस्तुस्वभावानभिज्ञो भवान् (२४३)
७—तस्माद्विवेके यत्न आस्थीयताम् (२४५)

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हमें बृहती से प्राप्त होते हैं। ये उदाहरण प्रभाकर की शैली को प्राचीन शैली नहीं बताते— इनमें तो हम एक अतिशय नवीनता का दर्शन करते हैं। यह अवश्य है कि इसकी शैली में एक प्रकार की गंभीरता है-पर उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि प्रभाकर कोई बहुत प्राचीन था। गंभीर होने के साथ साथ भी सरलता और स्पष्टता उसका निजी गुण है। उसकी शैली उसके विद्या विभव से पिछड़ नहीं पाती— यही उसकी सफलता का निदर्शन है। यह अवश्य है कि उसमें साहित्यिक मुलम्मे के दर्शन नहीं होते और न कोई आडम्बर ही दिखाई देता है।

महान् विचारक

यह तो पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्रभाकर महान् प्रतिभाशाली था। वह अपने विषय के निरूपण में अत्यन्त पटु, विरोधी-सिद्धान्तों के खंडन एवं अपने सिद्धान्तों के मंडन में अत्यन्त दक्ष, अत्यन्त कठिन विषयों को भी हृदयंगम कराने में चतुर व विवेचन में अप्रतिहत गति रखता था–फिर भी उसके सम्प्रदाय का प्रचार इतना कम क्यों हुआ इसका विवेचन तो हम आगे करेंगे। पर यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उसके उपर्युक्त गुणों को उसके बड़े से बड़े विरोधियों तक ने शिरोधार्य किया है। चाहे बाहरी रूप से उनको खंडित भले ही कर दिया हो। किन्तु ऐसा करते समय भी उन सब के हृदय पर प्रभाकर की अमिट छाप रही है। आज भी मीमांसा दर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी उसके इस विभव के समक्ष नतमस्तक है– और वह बहुत से स्थलों पर निर्विवाद रूप से इसे कुमारिल से बढ़ा हुआ पाता है। प्रभाकर को कुमारिल की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध करते हुए हम यह कह आये हैं कि उसके विचार भट्ट की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील हैं। विचारों के प्रवाह में वह अपने गुरु से भी आगे बढ़ जाता है। इसीलिए तो भट्ट तक ने उसे···गुरु···जैसे गौरवपूर्ण पद से संमानित किया। उसके विचारों का प्रवाह अप्रतिहत है– यही कारण है कि उसे "सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र" कहा जाता है। निश्चय ही उसके प्रबल तर्क के सामने इधर उधर की छोटी मोटी युक्तियाँ नहीं टिक पातीं। हम इसकी महान् विचार-शक्ति के समक्ष नतमस्तक हैं।

यहाँ तक कि वह अपने विचारों के सामने आने वाले अद्वैत-तर्क को खंडित कर देता है। भट्ट अद्वैत में एक प्रकार की अन्धश्रद्धा रखता है, किन्तु प्रभाकर आवश्यकता पड़ने पर उसके भी निरसन में कोई कमी उठा नहीं रखता। वह बड़ी योग्यता-पूर्ण प्रणाली पर उनका[1]

१—यत्तु ब्रह्मविदामेव निश्चयः यदुपलभ्यते, तदतथ्यमिति। यन्नोपलभ्यते-तत्तथ्यमिति—नमस्तेभ्यः, विदुषां नोत्तरं वाच्यम्। (बृहती)

खंडन कर देता है और उन्हें दूर से नमस्कार तक करता है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसे कोई व्यक्तिगत विद्वेष हो। जहाँ तक[1] व्यक्तित्व का प्रश्न है– वह व्यास में अतिशय श्रद्धा रखता है-एवं उसे भगवान् जैसे गौरवपूर्ण विशेषण से विशिष्ट बनाता है ।

उसकी देन–

अपनी अमोघ विचार–शक्ति के द्वारा इसने मीमांसा-दर्शन को विचार-शास्त्र बनाने में जो योग दिया है– उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अपने बुद्धि विभव के माध्यम से इसने मीमांसा-दर्शन पर चले आ रहे कुमारिल के एकाधिपत्य को नष्ट भ्रष्ट और छिन्न भिन्न कर दिया। उसके विचारों ने इस शास्त्र को वैज्ञानिक प्रगति की ओर अग्रसर किया। यह सब तो इसके विचारों के विस्तृत स्पष्टीकरण द्वारा प्रकट होगा– किन्तु भिन्न भिन्न प्रसंगों में कुमारिल की अपेक्षा इसने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं– वे इसकी सर्वत्रस्वतन्त्रता के साक्षी हैं। कुमारिल प्रथम अध्याय में धर्म-प्रमाण का निरूपण करता है तो प्रभाकर विधि-वाक्य के प्रामाण्य का। द्वितीय अध्याय में भट्ट-कर्मभेद को स्वीकार करता है और प्रभाकर शास्त्रभेद को। तृतीय अध्याय के विषय की एकता को अङ्गीकार करते हुए भी प्रभाकर अवान्तर प्रकरण को नहीं मानता। चतुर्थ अध्याय में प्रयोज्यप्रयोजकभाव के साथ साथ अधिकार और उत्पत्ति को भी विषय के रूप में आदृत करता है। पंचम में भट्ट अनुष्ठान-क्रम को विधेय सिद्ध करता है, प्रभाकर नहीं। षष्ठ, सप्तम, अष्टम एवं नवम में दोनों के विषय एक पथ पर हैं। दशम के अतिदेश के संबन्ध में दोनों में विपरीतता है। एकादश और द्वादश में दोनों के विषय एक हैं। इन सब अध्यायों के अतिरिक्त प्रभाकर ने प्रमाण के स्वरूपों,

---

१—यत्तु अहंकारममकारौ अनात्मनि आत्मधर्माभिभास इति विदित-कषायाणामेव कथनीयम्–न तु कर्मसंगिनाम्। तदुक्तं भगवता द्वैपायनेन—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्" (बृहत ॥

पदार्थों एवं अनेक दार्शनिक प्रसगों में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। कुमारिल प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छे प्रमाण मानता है—प्रभाकर इनमें अनुपलब्धि का नहीं मानता। कुमारिल संयोग, संयुक्तादात्म्य एवं सयुक्तादात्म्यतादात्म्य ये तीन सन्निकर्ष अंगोकार करता है—प्रभाकर इनके स्थान पर संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय को अपनाता है। शब्दार्थ के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति के प्रसंग में कुमारिल अभिहितान्वयवाद को मानता है और प्रभाकर अन्विताभिधानवाद को। भट्ट की तरह शब्द को दोनों विधाओं को अंगोकृत करते हुए भो प्रभाकर दोनों की समानमानता स्वीकृत नहीं करता। भट्ट दशों लकारों में रहने वाले आख्यात का आर्थी भावना अर्थ मानता है—प्रभाकर केवल लिङ् स्थल में विद्यमान का। भट्ट के प्रसंग में लिङर्थ कोई अलौकिक व्यापार है व प्रभाकर के मंतव्य में नियोग। भट्ट दृष्ट और श्रुत दो प्रकार की अर्थापत्ति मानता है—जबकि प्रभाकर केवल दृष्ट अर्थापत्ति हो को स्वीकार करता है। भट्ट द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव ये पांच ही प्रकार के पदार्थ मानता है और प्रभाकर इनके स्थान पर द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, सादृश्य, संख्या, सामान्य, ये आठ पदार्थ घोषित करता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा मन शब्द और तम ये ११ द्रव्य भट्ट-मत में हैं—जब कि प्रभाकर अंतिम दो को नहीं मानता। प्रथम वायु को स्पर्श-जन्य मानता है और द्वितीय अनुमेय। आकाश, काल और दिशायें प्रथम के मत में प्रत्यक्ष हैं—द्वितीय के मत में अनुमेय। प्रथम आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय मानता है—तो द्वितीय स्वयं प्रकाश। मन को तो दोनों ही अणु मानते हैं। प्रथम के मत में शब्द और तम स्वतंत्र द्रव्य हैं—द्वितीय इनमें से शब्द को तो आकाश गुण बता देता है और दूसरे की सत्ता तक स्वीकार नहीं करता। भट्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति ये २४ प्रकार के

गुण मानता है—तो प्रभाकर संख्या और शक्ति की गुणता स्वीकार नहीं करता। प्रथम के मत में ज्ञान अनुमेय है और द्वितीय के मत में स्वयं प्रकाश। प्रथम सृष्टि के सम्बन्ध में अन्यथाख्याति का पक्षपाती है, तो द्वितीय अख्याति का। प्रथम कर्म को प्रत्यक्ष कहता है, तो द्वितीय अनुमेय। भट्ट जाति को पर और अपर दो रूपों में स्वीकार करता है, परन्तु प्रभाकर को इसका पररूप स्वीकार नहीं है। कुमारिल ब्राह्मणत्व आदि जातियों को मानता है—प्रभाकर नहीं। कुमारिल अन्य दर्शनों की परंपरा के अनुसार प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव भेद से चार प्रकार के अभाव को मानता है—जब कि प्रभाकर स्वतंत्र पदार्थ के रूप में उसकी सत्ता ही स्वीकृत नहीं करता।

इस प्रकार ऊपर दी हुई संक्षिप्त तालिका से हम सहज ही प्रभाकर की देन का अनुमान लगा सकते हैं। कुमारिल जैसे दृढ़ और अभेद्य संप्रदाय के विरुद्ध इतनी अधिक मात्रा में स्वतंत्र सिद्धान्त स्थापित करना कितना महत्त्वपूर्ण है—यह कल्पना प्रत्येक विचारशास्त्री कर सकता है। यदि प्रभाकर नहीं होता—तो उपर्युक्त विवेचन हो यह स्पष्ट उद्घोषित कर रहा है कि मीमांसा-दर्शन की विचारों की प्रगतिशीलता भी बहुत पिछड़ी हुई होती। इसके विचारों ने हमें आधुनिकता की ओर अग्रसर किया—बहुत से विज्ञान से मिलते जुलते सिद्धान्त दिये। ब्राह्मण आदि जातियों का खंडन कर यह सिद्ध कर दिया कि मीमांसा-दर्शन अन्ध-विश्वासी नहीं है। हमें इस महान् विचारक का सतत ऋणी रहना चाहिए।

२ शालिकनाथ मिश्र

प्रभाकर-परंपरा का सबसे श्रेष्ठ लेखक और प्रतिपादक शालिकनाथ मिश्र हुआ। प्रभाकर के सिद्धान्तों का जितना अच्छा निरूपण और समर्थन इसकी लेखनी ने किया—वैसा और कोई नहीं कर सका—

यह एक निर्विवाद सत्य है। प्रभाकर के सिद्धान्तों पर इसे व्यापक अधिकार और अगाध श्रद्धा है। समालोचक इन्हीं सब आधारों पर इसे प्रभाकर का पट्ट-शिष्य मानते हैं। यह स्वयं भी स्थान स्थान पर "प्रभाकरगुरोः" कह कर पुकारता है। सर्वाधिक वैदुष्य और सिद्धान्त-नैपुण्य के कारण भी प्रभाकर के पट्ट-शिष्य के रूप में इसकी प्रसिद्धि हो जाना संभव और संगत है। वस्तुतः यह चाहे उससे साक्षात् पढ़ा हो या नहीं पढ़ा हो, पर अपनी गुण-गरिमा, वाक्चातुरी एवं विद्या-विभव के कारण तो अवश्य ही इस उन्नत पद का अधिकारी है।

समीक्षा की दृष्टि से समालोचक इसकी पट्ट-शिष्यता को विश्वसनीय नहीं मानते। "प्रभाकरगुरोः" यह कथन-मात्र ही इसे पट्ट-शिष्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रभाकर के अन्य अनुयायियों ने भी इसे इसी रूप में आदृत किया है। गुरु तो एक इसका विशेषण सा बन गया था। इसके अतिरिक्त शालिकनाथ ने अपनी ऋजु-विमला में जहां प्रभाकर को नमस्कार किया है—वहाँ उसके साथ कोई ऐसा गौरव, संमान और श्रद्धा-सूचक विशेषण नहीं लगाया—जिससे उपर्युक्त आशय की पुष्टि होती हो। फिर भी कुमारिल और प्रभाकर की तरह इन दोनों का संबन्ध स्थिर सा हो गया है—विशेषतः शालिकनाथ की योग्यता उसकी दृढ़ता में और भी अधिक सहायता पहुँचाती है। शालिकनाथ ने प्रभाकर के प्रति वही कार्य और भक्ति प्रदर्शित की—जो एक पट्ट-शिष्य को करनी चाहिए थी। शालिकनाथ ही वह शक्ति है—जिसने प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं रूपरेखाओं की पुष्टि ही नहीं की, अपितु पूर्वपाक्षियों की झंझावातों से उनकी रक्षा भी की। यदि यह नहीं होता, तो न तो उनका स्वरूप ही स्पष्ट हो पाता एवं न वे हृदयंगम ही हो सकते। उसके ये कार्य ही इस संबन्ध की पुष्टि करते हैं।

देश और काल

दर्शन-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् उदयनाचार्य[१] ने अपनी कुसुमांजलि में गौड मीमांसक को उद्धृत किया है—बोधिनी के नाम से व्याख्या करते हुए श्री वरदराज मिश्र ने यह स्पष्ट किया कि यह गौड मीमांसक शालिकनाथ मिश्र ही था। वस्तुतः यदि यह गौड़-मीमांसक पंचिकाकार शालिकनाथ था—यह तथ्य है—तब तो इसका देश गौड़ देश होना चाहिए—जो प्राचीनकाल में आज के बंगाल के पास उसकी वर्तमान सीमा से भी बहुत अधिक विस्तृत था। काल की दृष्टि से श्री राम स्वामी शास्त्री एवं महामहोपाध्याय[२] कुप्पू स्वामी शास्त्री ने यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र ने ऋजुविमला-पंचिका से अनेक उद्धरण लिये हैं। शालिकनाथ स्वयं[३] मंडन मिश्र के विधि-विवेक से अपनी प्रकरण-पंजिका में कतिपय उद्धरण लेता है—इससे यह प्रमाणित होता है कि यह वाचस्पति मिश्र से पूर्व एवं मंडन मिश्र के अनन्तर हुआ है। यह काल नवम शताब्दी से पूर्व हो सकता है। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ[४] कविराज ने शालिकनाथ को उदयनाचार्य का समकालीन प्रमाणित किया है—जो उपर्युक्त विवेचनों के कारण अप्रामाणिक है।

उसकी रचनायें और शैली

प्रभाकर की लघ्वी और बृहती दोनों रचनाओं पर इसने क्रमशः दीपशिखा एवं ऋजुविमला-पञ्चिका के नाम से व्याख्यायें कीं—इसने स्वयं इन दोनों व्याख्याओं को पंचिका-द्वारा कह कर पुकारा है। प्रकरण पंचिका इसकी तीसरी रचना है। इसकी सभी रचनायें पंचिका के नाम से हैं—इसी लिए यह पंचिकाकार के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनमें

१—कुसुमांजलि-प्रकरण, पृष्ट ४६६ बेब्लिओ एडीशन।

२—प्राक्कथन (अंग्रेजी) तत्वबिन्दु पृ० ४८।

३—प्रकरण-पंजिका पृष्ठ १७८ में विधि-विवेक पृष्ठ २४३, व ४०२ के दो पद्य।

४—सरस्वती-भवन सीरीज वाल्यूम ६ पृष्ठ १६७-१६८।

दीपशिखा सर्वथा अमुद्रित है। ऋजुविमला का कुछ अंश बृहती के साथ मद्रास और बनारस से प्रकाशित हुआ है। प्रकरण-पंचिका प्रभाकर-संप्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है-जो प्रभाकर के सभी सिद्धान्तों का निरूपण ही नहीं करता, अपितु अन्य सिद्धान्तों के समक्ष उन्हें ऊंचा भी ठहराता है। इस ग्रन्थ पर पूना के पं० किञ्जुवाडेकर ने व्याख्या की-जिसका कुछ अंश मुद्रित भी हुआ है। तत्त्वबिन्दु के प्राक्कथन में लिखा है-कि इसने मीमांसाभाष्य-परिशिष्ट नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा-किन्तु वह अभी अप्राप्त है।

मिश्र की शैली अत्यन्त विवेचनात्मक है। गंभीर से गंभीर विषय को अपनी सरल, सुगम एवं रोचक भाषा के द्वारा हृदयंगम बना देना शालिकनाथ की शैली की विशेषता है। उसके सभी ग्रन्थों में इस गुण का परिपाक हुआ है। यह हम सभी जानते हैं कि यदि ऋजुविमला नहीं होती, तो हम बृहती के तत्त्वों तक बहुत कम मात्रा में पहुंच पाते। यदि प्रकरण-पंचिका नहीं होती, तो संभवतः प्रभाकर-संप्रदाय की आज जो शास्त्रीय प्रतिष्ठा है-उसकी स्वरूप रक्षा में भी संशय था। वस्तुतः इसे हम प्रभाकर-संप्रदाय का दृढ स्तम्भ कहें तो, कोई अत्युक्ति नहीं।

उदाहरण के लिए जहां[1] जाति-निरास (ब्राह्मणत्व) का प्रसंग आता है-शालिकनाथ अपने सिद्धान्तों की स्थापना में कोई कमी नहीं रखता। वह कहता है-ब्राह्मणत्व आदि जाति अमाननीय हैं, क्योंकि भिन्न भिन्न स्त्री व पुरुषों में हमें पुरुषत्व से अतिरिक्त कोई आकार प्रकार व एक रूप से अनुगत बुद्धि दिखाई नहीं देती। इस प्रकार वह आज के युग में वर्णव्यवस्था नहीं मानने वालों के लिए एक मार्ग सा निर्धारित कर जाता है। उसके सभी प्रसंगों में उसके मंतव्य इतने ही स्पष्ट

१—द्रष्टव्य-प्रकरण-पंचिका जाति-निरूपण

और रुचि-पूर्ण हैं। प्रभाकर की परंपरा में ऐसा और कोई लेखक नहीं हुआ।

३ भवनाथ मिश्र

शालिकनाथ के बाद भवनाथ प्रभाकर संप्रदाय का अधिकृत विद्वान् हुआ। न्याय-विवेक के नाम से मीमांसा पर उसका एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है-जो जैमिनि के सूत्रों पर स्वतंत्र व्याख्या है। भवनाथ को भवदेव भी कहा करते थे, जैसा कि वरदराज ने अपनी व्याख्या[१] में उल्लेख किया है। न्याय-विवेक उच्च-कोटिका ग्रन्थ है-इसमें कोई संशय नहीं-यही कारण है कि इसने अनेक व्याख्याताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। शुकनदी के तटवर्ती प्रणतार्तिहर के प्रपौत्र देवनाथ के पौत्र एवं रंगनाथ के पुत्र श्री वरदराज ने इस पर दीपिका के नाम से व्याख्या की-जो इसकी सर्वप्रथम अधिकृत व्याख्या है। यह त्रिपदी तक ही प्राप्त है और उसके कुछ अंश के साथ न्याय-विवेक का प्रकाशन मद्रास यूनीवर्सिटी से हो चुका है। दूसरी व्याख्या शंका-दीपका है-जिसकी रचना गोविन्दोपाध्याय के शिष्य ने की। तीसरी व्याख्या माधव योगी के आत्मज दामोदर सूरि ने "अलंकार" के नाम से की-जो बनारस संस्कृत कालिज पांडुलिपियों में है। चतुर्थ व्याख्या चतुर्दश शताब्दी के श्री रविदेव ने विवेक तत्त्व के नाम से की। व्याख्याओं की यह प्रचुरता ही इस ग्रन्थ की गंभीरता एवं उपयोगिता का प्रमाण है।

न्याय-विवेक लेखक की एक मात्र रचना है-यह ऊपर कहा जा चुका है। इस एक ग्रन्थ में ही हमें लेखक के अद्वितीय विवेक के दर्शन होते हैं। यद्यपि यह अत्यन्त विस्तृत है-फिर भी इतनी अधिक सरल नहीं है-यही कारण है कि ऐसे दुर्बोध स्थलों पर व्याख्या की शरण लेना आवश्यक हो जाता है। ग्रन्थकार ने इसकी रचना करते समय

१—श्लोक १०, दीपिका।

सर्वथा स्वाभाविक प्रणाली का ध्यान रखा है व न किसी प्रकार के आडम्बर[1] दिखाने का यत्न ही किया गया है। ऐसा वह स्वयं अपने प्रतिज्ञा-वाक्य में स्वीकार करता है। शालिक नाथ उसका अग्रगामी था-इसी लिए इसने उसके विचारों को महान्[2] आदर के साथ अपनाया है। आगे आने वाली परंपरा को इन दोनों लेखकों ने अतिशय प्रभावित किया।

भवनाथ अपने विवेक में शालिकनाथ एवं वाचस्पति[3] मिश्र को उद्धृत करता है। इसके अतिरिक्त १२ वीं शताब्दी के मुरारि मिश्र द्वितीय एवं चौदहवीं शताब्दी के प्रत्यगूर[4] भगवत् आदियों ने भवनाथ एवं उसके विवेक का उल्लेख किया है। कतिपय व्यक्ति इसका १५ वीं शताब्दी के शंकर मिश्र के पिता के साथ तादात्म्य घोषित करते हैं—किन्तु उपर्युक्त विवेचन के समक्ष इसकी अप्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। संक्षेप में पार्थसारथि के अनन्तर व ११ वीं शताब्दी से पूर्व इसका काल निश्चित किया जा सकता है। यह मिथला का निवासी था। इससे अधिक इस विषय में हम कुछ नहीं जानते।

४ गुरुमताचार्य "चन्द्र"

महामहोपाध्याय चन्द्र भी प्रभाकर संप्रदाय का अनुयायी था। यह मिथिला-निवासी महामहोपाध्याय गुणरति का आत्मज था। इसके

१—विहाय विस्तरं शब्दसौन्दर्यपरनिन्दने।
व्यज्यते भवनाथेन, तत्वं नयविवेकतः॥

२—महता प्रणिधानेन, शालिकोक्तं प्रसाध्यते।
पंजिकाद्वयतन्त्रार्थसंमोहविनिवृत्तये (न्याय-विवेक उ.)

३ —झा अभिनंदन ग्रंथ पेज १४५-४६ डा० मिश्र का लेख।

४—आनल्स आफ भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट वाल्यूम १०, १९२८ ई० पृ० २३५-३७ डा० मिश्र का लेख।

अनन्तरकालीन लेखकों ने इसका बहुत संमान किया है। १२ वीं शतांब्दी के मुरारि मिश्र द्वितीय ने अपने ग्रंथ "त्रिपादनीतिनयम्" में इसका उल्लेख किया है। १४ वीं शताब्दी के महान् मैथिल निबन्धकार श्री चन्द्रेश्वर ठाकुर ने इसे "गुरुमताचार्य" के नाम से प्रयुक्त किया है। यह इसकी एक प्रकार की उपाधि सी बन गई है। १५ वीं शताब्दी के श्री शंकर मिश्र ने अपने ग्रंथ "वाद-विनोद" (५३ पृ०) में इसे "प्रभाकरैकदेशीय" कह कर संबोधित किया है। जयराम भट्टाचार्य ने भी अपनी न्यायसिद्धान्तमाला में इसे उद्धृत किया है। इन सब विवेचनों से इसका काल सहज ही ११ वीं शताब्दी से पूर्व निश्चित हो जाता है।

मीमांसा दर्शन पर इसने अनेक ग्रंथ लिखे। न्यायरत्नाकर के नाम से जैमिनि-सूत्रों की एक सरल और स्वतंत्र व्याख्या इसने की-इसकी पांडुलिपि श्री डा० मिश्र के पास विद्यमान है। इसकी दूसरी रचना अमृत-विन्दु है-जो मीमांसा पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है-इसकी पांडुलिपि भी अडैय्यार लाइब्रेरी व डा० श्री मिश्र के पास सुरक्षित है। इसने श्रीकर, विवेक, विवरण और पंचिका के साथ साथ अन्य लेखकों को भी उद्धृत किया है। उसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, संख्या, सादृश्य आदि विषयों में प्रभाकर के अन्य अनुयायियों के समान विश्वास है-इसके अतिरिक्त कई विषयों पर उसकी स्वतन्त्र योजनायें भी हैं। इस संबन्ध में विशेष परिचय के लिए झा अभिनंदन ग्रंथ से डा० श्री उमेश मिश्र का लेख पढ़ना चाहिए।

५ नंदीश्वर

प्रभाकर-विजय का लेखक नन्दीश्वर भी प्रभाकर मत का एक विख्यात लेखक हुआ है। प्रभाकर के अधिकतर ग्रंथों की पांडुलिपियां अधिक से अधिक मात्रा में मद्रपुर संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित हैं-उनमें अधिकतर केरल देश से प्राप्त हुई हैं-यह भी एक निश्चित तथ्य है। दक्षिण में प्रभाकर के सिद्धान्तों का अधिक प्रचार रहा होगा।

नन्दीश्वर भी इसी वातावरण में १४ वीं शताब्दी से पूर्व केरल देश में हुआ-यह स्वयं केरल ब्राह्मण था।

प्रभाकर-विजय प्रभाकर के सिद्धान्तों का अच्छा संकलन है-जिसके मुख्य मुख्य २१ प्रकरण उपलब्ध हैं। ग्रंथकार स्वयं शालिकनाथ और भवनाथ के प्रति अतिशय श्रद्धा रखता है और इसी लिए वह अपने ग्रंथ के प्रारंभ ही में कहता है।

"नाथद्वयात्तसारेऽस्मिन्, शास्त्रे मम परिश्रम."

इसकी इस एक उक्ति से दोनों नाथों का मीमांसा-दर्शन की प्रभाकर परंपरा में जो स्थान रहा है-वह स्पष्ट हो जाता है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसने इनका अन्ध अनुकरण किया हो। वह तो ज्ञान-विवेचन के प्रकरण में प्रकरण-पंचिका के विरुद्ध तक लिखा जाता है। ईश्वर-निरूपण की चर्चा में यह उसके आनुमानिक स्वरूप का निरास कर अपने महान् बुद्धि-वैभव का परिचय देता है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रंथ है। इसका प्रकाशन महामहोपाध्याय अनन्त कृष्ण शास्त्री के संपादकत्व में संस्कृत-साहित्य-परिषद्, कलकत्ता द्वारा हो चुका है।

६ भट्ट-विष्णु

यह भी १४ वीं शताब्दी के अंत में हुआ। प्रभाकर की परंपरा का पालन करते हुए इसने तर्कपाद की व्याख्या के रूप में "नयतत्त्वसंग्रह" नामक एक ग्रन्थ लिखा-जो अभी तक अमुद्रित है। इसके अतिरिक्त हम इस विषय में कुछ नहीं जानते।

७ वरदराज

जैसा कि पहले कहा जा चुका है-यह प्रणतार्तिहर का प्रपौत्र, देवनाथ का पौत्र व रंगनाथ का पुत्र था तथा दक्षिण की शुक्का नदी के तट पर रहता था। सुदर्शन इसका गुरु था। भवनाथ मिश्र के न्याय-विवेक पर

इसने दीपिका, अर्थदीपिका अथवा वरदराजी के नाम से अधिकृत व्याख्या लिखी-जो अत्यन्त सरल सुग्राह्य और कठिन स्थानों को समझाने में अत्यन्त सफल है। यह ज्योतिष,[1] आयुर्वेद और व्याकरण का भी विद्वान् था-जैसा कि इसने स्वयं उल्लेख किया है।

इसने अपनी रचना में चन्द्र का एवं १७ वीं शताब्दी के श्री सोमनाथ दीक्षित ने इसका उल्लेख किया है-जिससे इसका काल इन दोनों का मध्य अर्थात् १६ वीं शताब्दी निश्चित किया जा सकता है। अपनी रचना में भवभूति की तरह इसने भी एक अभिमानसूचक व व्यंग्य-बोधक[2] पद्य लिखा है-जो यह बताता है कि संभवतः इसकी इस व्याख्या की कुछ समालोचकों ने कटु आलोचनाएँ की हों।

इस प्रकार इन महान् आत्माओं ने प्रभाकर-परंपरा को पुष्ट किया। निश्चय ही और भी अनेकों विचारक इस परंपरा में हुए होंगे, किन्तु दुर्भाग्य है कि हम उनके संबन्ध में कुछ नहीं जान पाये। इस संप्रदाय का बहुत सा साहित्य लुप्त होगया—केवल ये इने गिने लेखक ही हमें मिल सके हैं। मीमांसा के उपासकों को चाहिए कि वे इस संबन्ध में पूर्ण अनुसन्धान करें।

१—गुरुणि गुरुमते ज्यौतिषे शास्त्रके ऽपि,
प्रथितविमलकीर्तिर्वैद्यके शब्दशास्त्रे ..

२—अवज्ञा येऽस्माकं विदधति जनाः केचिदपि ते।
विजानन्ते प्रायः स्वमतिपरिणामावधि कियत् ॥
न तानुद्दिश्येयं कृतिरपि तु मत्तुल्यमहिमा।
जनिष्यत्येकोऽपि स्वकृतगुरुसेवाहृततमः ॥ (दीपिका)

१—मुरारि—परंपरा

मुरारि मिश्र

भट्ट और प्रभाकर के अतिरिक्त भी एक संप्रदाय मीमांसा-दर्शन में चला—जिसका प्रवर्तक मुरारि मिश्र हुआ। इसीलिए इस संप्रदाय को मुरारि-परंपरा या मिश्र-परंपरा के नाम से मीमांसक अभिहित करते हैं। संस्कृत साहित्य में अनेक मुरारि मिश्र हुए—एक मुरारि अनर्धराघव का लेखक हुआ। साहित्यिक "मुरारेस्तृतीयः पन्था" इस उक्ति को उसी के साथ संगत करने का प्रयत्न भी करते हैं। पर यह परंपरा-प्रवर्तक मुरारि द्वितीय मुरारि मिश्र है। इन तीनों परंपराओं में भट्ट-परंपरा का सबसे अधिक प्रचार हुआ, प्रभाकर का उससे कम, और यह तीसरी तो एक प्रकार से नाम मात्र ही की रह गई है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इससे संबद्ध साहित्य प्रायःलुप्त सा हो गया है। फिर भी हम स्थान स्थान पर इसका शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त करते हैं—निश्चय ही, यह मुरारि महान् प्रतिभाशाली विद्वान् था—जिसके विषय में "मुरारेस्तृतीयःपन्था" यह लोकोक्ति अत्यन्त प्रचलित है। यह तीसरा पन्था यही तीसरी परंपरा है—जिसका प्रस्तुत प्रसंग में विवेचन किया जा रहा है

रचनायें

केवल इस प्रकार की किंबदन्तियों के अतिरिक्त हमें इस विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं था। महान् सौभाग्य का विषय है कि थोड़े ही समय पूर्व इसकी रचनाओं के कुछ अंश डा० श्री उमेश मिश्र को प्राप्त हुए हैं—इनमें प्रथम "त्रिपादनीतिनयम्" है और द्वितीय "एकादशाध्यायाधिकरणम्" है। प्रथम में प्रारंभ से जैमिनि सूत्रों की चार पादों की व्याख्या है एवं द्वितीय में जैमिनि सूत्र के एकादश अध्याय के कुछ अंश का निरूपण है। इन दोनों ही का प्रकाशन हो चुका है।

काल

कुछ समय से डा० श्री झा एवं डा० श्री उमेश मिश्र के प्रयत्नों से हम इसके काल के संबंध में भी प्रकाश में आये हैं। मुरारि मिश्र स्वयं विवरण, विवेक, पंजिका और परिभाषा तथा चन्द्र, श्रीकर, नन्दन आदि का उल्लेख करता है—ये ग्रंथ और लेखकों के नाम हैं—जो उससे पहले हो चुके थे। चन्द्र और पंजिका इन दोनों नामों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि यह अवश्य ही शालिकनाथ से पहले हुआ होगा। गणेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान ने अपने कुसुमाञ्जलि के व्याख्यान में इसे तीसरी परंपरा के मीमांसक के रूप में प्रस्तुत किया है—जिसका काल १३ वीं शताब्दी है। अतः इससे पूर्व इसका काल होना स्वाभाविक है। वह समय ११ वीं एवं १२ वीं शताब्दी का मध्य-भाग हो सकता है।

उसके विचार

यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि हमें इसके संपूर्ण विचार उपलब्ध नहीं हो सके, किन्तु जितने उपलब्ध हैं, वे ही इसके विचारों की महत्ता, स्पष्टता, उपयोगिता एवं विद्वत्ता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। विशेषकर प्रामाण्य-वाद पर तो इसके विचार सर्वथा स्वतंत्र एवं मौलिक प्रतीत होते हैं। मुरारि मिश्र एक प्रसिद्ध नैयायिक भी था—उसने प्रामाण्य की चर्चा में मीमांसकों द्वारा (भट्ट-विशेषतः प्रभाकर) संस्थापित स्वतः प्रामाण्य को पुष्ट नहीं किया। उसके विचार इस प्रसंग में इन दोनों ही से भिन्न हैं व न्याय से प्रभावित हैं।

विद्वानों द्वारा आदर

विवशता-वश हम चाहे इस विषय में कुछ कहने में असमथ हो सकते हैं—किन्तु विद्वानों ने स्थान स्थान पर इसको उद्धृत कर इसके सिद्धान्तों के प्रति अगाध श्रद्धा और संमान प्रदर्शित किया है। कहीं कहीं ग्रंथकार इसके मत को 'मिश्रास्तु" यह उद्धरण देते हुए खंडन के लिये प्रस्तुत करते हैं। स्वयं श्री गागाभट्ट ने अपनी भाट्ट-चिन्तामणि में कुमारिल के साथ साथ इसको भी आदर दिया। गंगेश उपाध्याय के

पुत्र वर्धमान ने अपनी कुसुमांजलि में इसे स्थान दिया—यह तो हम ऊपर बता ही चुके हैं। इस प्रकार स्थान स्थान पर विद्वानों द्वारा प्रदर्शित यह संमान इसकी तात्कालिक महत्ता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं—आज चाहे उसका साहित्य और विचार लुप्त होगये हों।

हमें महान् दुःख और संकोच के साथ यह स्वीकार करना पड़ रहा है कि इस महान् विचारक के अनुयायियों की हम खोज नहीं कर सके—निश्चय ही यदि यह सब साहित्य हमें प्राप्त हो जाता, तो मीमांसा-वाङ्मय के चार चाँद लग जाते।

१०—समीक्षा

पूर्व-स्तंभों में प्रतिपादित इन तीनों परंपराओं ने मीमांसा-दर्शन को अत्यधिक पुष्ट किया-इसमें कोई संशय नहीं है। निश्चय ही इन तीनों संप्रदायों के प्रवर्तक तीनों ही विद्वान् महान् विचारक थे। इनमें तृतीय महामनीषी के विचारों से पूर्णरूपेण हम परिचित नहीं हो सके-पर प्रथम दोनों महारथियों के विचारों की दृष्टि से तो हम पूर्ण प्रकाश में हैं। चाहे ये दोनों गुरु शिष्य रहे हों या नहीं रहे हों-किन्तु इतना अवश्य है कि इन दोनों में कोई किसी से पिछड़ा हुआ प्रतीत नहीं होता। हो सकता है-प्रभाकर के विचार अपने गुरु की अपेक्षा भी आगे बढ़ गये हों-किन्तु कुमारिल की साहित्यिक शैली ने उन्हें प्रगति की दौड़ में अपने से आगे नहीं होने दिया। निश्चय ही प्रभाकर के मन्तव्य तर्क के अभेद्य कपाटों से आवृत थे-किन्तु कुमारिल के विचक्षण और एक से एक विलक्षण अनुयायियों द्वारा चलाये गये युक्ति-तीरों के समक्ष उनकी दृढता टिक नहीं सकी। जितने योग्य और विद्वान् अनुयायी कुमारिल को मिले, उतने प्रभाकर को नहीं मिल पाये-यही कारण है कि सब कुछ विशेषताओं के होते हुए भी प्रभाकर के सिद्धान्त अधिक प्रचार नहीं पा सके।

कुमारिल इस दिशा में वस्तुतः भाग्यशाली था। उसका एक एक भक्त या शिष्य इतिहास में अपना अपना निजी स्थान रखता है। मंडन मिश्र, वाचस्पति मिश्र और पार्थसारथि मिश्र जैसे महान् तर्कशास्त्री इस परंपरा में हुए-फिर भला और कौन सी परंपरा इसके समक्ष अपना मस्तक ऊँचा उठा सकती थी। यह एक निर्विवाद सत्य है कि यदि इन उपर्युक्त महामनाओं जैसे दश पाँच प्रचारक भी प्रभाकर-दर्शन के हो जाते-तो आज हम उसे बहुत ऊँचा उठा हुआ देखते। उसकी विद्वत्ता

और मौलिकता का तो ज्वलन्त प्रमाण यही है कि ऐसे ऐसे भयंकर प्रतिद्वन्द्वियों के रहते हुए भी वह और उसके सिद्धान्त अत्यन्त आदर के साथ जीवित रह सके।

इनके अतिरिक्त भी भट्ट-परंपरा की अधिक प्रगति के अनेक कारण हैं। भगवान् शंकराचार्य अपने युग के एक मात्र और सार्वदेशिक प्रतिनिधि रहे हैं। उनके विचारों ने हमें प्रभावित ही नहीं किया, अपितु हमारा नेतृत्व करते हुए हमारे जीवन का मार्ग ही परिवर्तित कर दिया। सारे देश पर उनके सिद्धान्तों का एकाधिपत्य रहा और उनके एक एक वाक्य को विद्वानों ने वेदवाक्य के समकक्ष मान कर संमानित किया। निश्चय ही उनने अपने जीवन और रचनाओं में मीमांसा-दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। पर ऐसा करते समय उनने अपनी आस्था केवल भट्ट-परंपरा के प्रति ही प्रदर्शित की, सब परंपराओं के प्रति नहीं। उनके विचारों से यह स्पष्ट संकेत मिला कि मीमांसा की अन्य परंपरायें केवल विवाद की सामग्री हैं। यदि व्यवहार के रूप में मीमांसा के किसी संप्रदाय को सर्वोच्च सत्कार दिया जा सकता है-तो वह भट्ट-संप्रदाय ही हो सकता है। आचार्य शंकर का यह उद्घोष कोई साधारण घोषणा नहीं है-यह तो एक प्रकार की बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा और मान्यता है। शंकर के इस दृष्टिकोण ने प्रायः वेदान्त के प्रत्येक उपासक के लिए तो इस परंपरा का अध्ययन अनिवार्य कर ही दिया-पर इसके अतिरिक्त भी सैकड़ों व्यक्तियों को इस ओर प्रेरित किया। शास्त्रों में तो यह एक प्रकार से सर्वसंमत लोकोक्तिसी हो गई—"व्यवहारे भट्टनयः"। भट्ट-परंपरा के अधिक अनुयायी होने का यह सबसे बड़ा निमित्त है।

चाहे किन्हीं आधारों पर क्यों न हो पर निश्चय ही सारे कर्मकांड को भी इस परंपरा ने अन्य संप्रदायों की अपेक्षा अधिक पथ-प्रदर्शन प्रदान किया। और परंपराओं ने भी इससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेरणायें लीं तथा १४ वीं या १५ वीं शताब्दी तक आ कर तो इनके अनुयायियों

की संख्या सहस्त्रों तक पहुँच गई। दक्षिण और मिथिला इन सब के केन्द्र रहे। इस समय तक मिथिला में तो पूर्व-मीमांसा का अध्ययन चरम सीमा तक पहुँच चुका था। कहते हैं कि १५ वीं शताब्दी में विद्यापति ठाकुर के आश्रयदाता राजा शिवसिंह के कनिष्ठ भ्राता राजा पद्मसिंह की रानी विश्वास देवी के काल में एक तालाब पर "चतुश्चरणयज्ञ" हुआ था-जिसमें १४०० मीमांसक आमंत्रित किये गये थे। डा० श्री उमेश मिश्र के प्रतिपादनानुसार इन विद्वानों की सूची मिथिला के एक पंडित के यहाँ सुरक्षित है।

इस प्रकार संक्षेप में मीमांसा के लेखक चाहे कम हुए हों, किन्तु इसके विद्वान् और अनुयायियों की संख्या हमारे देश में उस आध्यात्मिक काल में अन्य किसी दर्शन से कम नहीं थी। मैं तो यह भी मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि लेखकों की दृष्टि से भी हमारा यह दर्शन किसी अन्य दर्शन से पिछड़ा हुआ हो। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि प्रभाकर का पूर्ण साहित्य प्राप्त नहीं हो सका, उसे योग्य अनुयायी नहीं मिल पाये और मुरारि मिश्र के ग्रंथों की हम अपनी अयोग्यता के कारण रक्षा करने में असमर्थ रहे, अन्यथा यह दर्शन आज और भी अधिक उन्नति की पराकाष्ठा पर होता।

११–आधुनिक काल

सामान्य–परिचय

संस्कृत साहित्य पर अनेक प्रकार की विपत्तियां इस बीच के समय पर आईं–अनेक प्रकार के शासनों को तीव्र दृष्टि का उसे लक्ष्य बनना पड़ा। फिर भी यह उसी की शक्ति थी कि वह इतने संघर्ष–मय काल को पार करके भी जीवित रह सका। भारत के लाडले सपूतों ने सब प्रकार के भौतिक कष्टों को सह सह कर एक–तपस्वी के रूप में अपना जीवन यापन करते हुए इस भारत की अमूल्य निधि की रक्षा की। विशेष कर अपने त्याग और कष्ट–सहिष्णुता के लिए विख्यात यहाँ के ब्राह्मण–वर्ग ने सब कुछ बलिदान करके भी संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन को नहीं छोड़ा। भिन्न भिन्न प्रलोभन भी उन्हें झुका नहीं सके, यही कारण है कि आज भी सारा विश्व संस्कृत को एक सर्व–संपन्न भाषा के रूप में देख रहा है। भारत–वर्ष के लिए तो संस्कृत से बढ़कर कोई बपौती ही नहीं है। संस्कृत–साहित्य और उसकी देनों के इतिहास से निकाल देने के बाद मेरी दृष्टि से तो भारतीयता नामक की कोई चीज ही नहीं रह जाती।

अस्तु, काल और परिस्थितियों का यह बज्रपात संस्कृत–साहित्य के अन्य अंगों की तरह मीमांसा–दर्शन पर भी हुआ। विशेष रूप से ब्रिटिश–शासन के काल में इस प्रकार की आध्यात्मिक विचारधाराएँ तो एक प्रकार से लुप्त सी होने लगीं। जहाँ भारतीय मानव का लक्ष्य आत्मिक उत्थान था, वहाँ वह अब भौतिक उत्थान ही को अपना सर्वस्व मानने लगा। संसार का औपरिक चाकचक्य उसको इतना प्रिय और सत्य प्रतीत हुआ कि वह इस दृष्ट की उपासना किसी अदृष्ट फल की प्राप्ति की अपेक्षा अच्छा समझने लगा। समय का प्रवाह भी एक

अगतिशील नद होता है—जिसे सहसा कोई रोक नहीं सकता। लोगों के दृष्टिकोण में यह जो मौलिक परिवर्तन हो गया—यहीं से संस्कृत-साहित्य का ह्रास प्रारम्भ हुआ। संस्कृत-साहित्य ने तो कभी भी लौकिक चाकचक्य या मोटर, बंगला आदि भौतिक वैभवों को जीवन में महत्त्व-पूर्ण स्थान नहीं दिया। उसके काल के राजा महाराजाओं तक को तपोवनों में जा कर एक नियत समय में निवास करने के अतिरिक्त सारे जीवन भर कर्तव्य की शिक्षा लेनी होती थी और उनके अधिष्ठाताओं के चरण चूमने होते थे। यहाँ के प्रधान-मंत्री का जीवन कितना सादा और रहन सहन कितना ऊँचा था—चाणक्य इसका ज्वलन्त प्रमाण है—जो अपने शिष्यों द्वारा निर्मित व गोबर से लेपी हुई कुटिया में निवास कर इतने विशाल राज्य का शासन चलाता था। कहाँ वह स्वर्णमय प्रभात और कहाँ यह सान्ध्यकाल। इतने आदर्श से गिरकर केवल मोटर, बंगला और अन्य भौतिक उन्नतियों को जीवन का सर्वस्व सिद्ध कर देना संस्कृत जैसे ऊँचे साहित्य का काम नहीं था। ऐसी स्थिति में पहले उर्दू और फिर अंग्रेजी इन भाषाओं को राजकीय संमान प्राप्त हुआ—इनके पढ़ने पढ़ानेवालों को उच्च उच्च पद और प्रतिष्ठाएँ दी गई व यहीं से जीवन के दृष्टिकोण के परिवर्तित हो जाने के कारण संस्कृत-साहित्य के ह्रास का सूत्रपात हुआ।

इस भौतिक-युग में भला कर्म-कांडका जीवन में क्या स्थान रह सकता था। जहाँ मानव-जीवन में उसका अनिवार्य स्थान था, वहाँ अब वह एक शास्त्रीय संपत्ति-मात्र रह गया। उनका अनुष्ठान तो दूर रहा, पाश्चात्य-प्रवाह में बह कर लोग उनकी भ्रान्ति-पूर्ण समालोचनाएँ तक करने लगे। ऐसी दशामें मीमांसा जैसे दर्शन का प्रचार कम होना तो और भी स्वाभाविक था। लोगों की विचार और विवेक शक्ति का भी ह्रास हुआ और उनने दर्शन जैसे गंभीर विषयों को पढ़ने की अपेक्षा साहित्य जैसे सीधे से सीधे और रोचक विषय पढ़ने प्रारम्भ कर दिये। यही कारण है कि प्रायः संपूर्ण दर्शनों व

विशेषतः वैदिक-साहित्य की परंपरा का प्रवाह बहुत ही मन्द हो गया।

ये सब ऐसे निमित्त हैं- जो प्रायः प्रसिद्ध हैं और जिनके विषय में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इस भयंकर संक्रमण-काल में भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है-पंडितों ने इस साहित्य की रक्षा की। कोई राजकीय आश्रय उन्हें प्राप्त नहीं था, न उनको और ही कोई भौतिक लाभ होता था, फिर भी उनने अपना एक कर्तव्य समझ कर सारा जीवन इसके भेंट किया। उसी कोटि में आने वाले इन तपस्वियों में मीमांसा की सेवा करने वाले भी देश और काल की दृष्टि से कम नहीं हुए। बीसवीं शताब्दी में भी अनेक विद्वानों ने मीमांसा-दर्शन की सेवा की, और अब भी कर रहे हैं। आज भी हमारे देश में सैकड़ों उत्तम मीमांसक जीवित हैं, पर उनकी सेवायें सर्वथा मूक-सेवायें हैं। परंपराओं का बन्धन अब पूर्णशः विच्छिन्न हो गया है और व्यापक दृष्टिकोण से अध्ययन अध्यापन प्रचलित है। उनमें से बहुत कम ने अपने विचार लिपि-बद्ध किये हैं। अतः इस प्रसंग में केवल उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया जायेगा-जिनके ग्रन्थ हमें प्राप्त होते हैं। उनके अतिरिक्त इस दर्शन के विकास में उन मूल-सेवकों का भी कोई कम महत्त्व नहीं है।

दो धाराएँ —

बीसवीं शताब्दी के मीमांसा-दर्शन के विचारकों को हम दो दिशाओं में काम करते हुए देखते हैं। कुछ एक विद्वान् इस प्रकार के हुए-जिनने मीमांसा-दर्शन का प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार की समालोचनात्मक प्रणाली पर अध्ययन किया और विवादास्पद विषयों पर अपने अनुसन्धान-पूर्ण निर्णय प्रस्तुत किये। इस प्रकार के विद्वानों का कार्य-क्षेत्र अधिकतर पढ़ना और लिखना ही रहा, अध्यापन की ओर उनकी प्रवृत्ति बहुत कम रही। इस प्रकार चाहे उनने किसी

संस्कृत-महाविद्यालय में पढ़ा कर मीमांसा-शास्त्री या आचार्य पैदा न किये हों, पर ऐसी मौलिक देन उनने दीं—जिनके कारण उनकी सेवाओं का बहुत अधिक महत्त्व इस दर्शन के इतिहास में है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनने पढ़ाने की शपथ ले रखी थी, या उनके कोई शिष्य ही नहीं रहे—उनके जीवन के प्रमुख कार्य को लेकर ही इसे धारा का रूप दिया जा रहा है। दूसरी धारा में इस प्रकार के व्यक्ति आये—जिनने मुख्य रूप से अध्यापन का कार्य करते हुए सैकड़ों मीमांसकों को तैयार करने के साथ साथ मौलिक रचनायें भी कीं। इन दोनों ही धाराओं में हम बीसवीं शताब्दी के साहित्य को प्रायः विभाजित देखते हैं। इनमें प्रथम के स्रोत महामहोपाध्याय श्रीगंगानाथ झा हैं और द्वितीय के महामहोपाध्याय श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री।

१—श्री गंगानाथ झा

बिहार प्रान्त के दरभंगा जिले में स्थित गन्धवारी नामक गाँव में २५ सितम्बर १८७१ ई० में आपका जन्म हुआ। इनके पिता का नाम तीर्थनाथ झा और माता का नाम रामकाशी देवी था—ये उनके तृतीय पुत्र थे। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तीनों भाषाओं पर आपका समान अधिकार था एवं तीनों ही के साहित्य का व्यापक अध्ययन इनने अपने विद्वान् गुरुओं की देखरेख में किया था—[१] जिनमें श्री चित्रधर मिश्र और महामहोपाध्याय श्री जयदेव मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बनारस में आकर इनने अन्य अंगों का भी महामहोपाध्याय श्री शिवकुमार मिश्र व गंगाधर शास्त्री आदि विद्वानों से अध्ययन किया। इनके अध्ययन और संपूर्ण काम पर आधुनिक युग का प्रभाव था—इसीलिए उनका संपूर्ण ज्ञान प्राचीन और अर्वाचीन

१—श्रीचित्रधरमिश्रस्य मीमांसा-पारदृश्वनः।
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य जयदेवस्य मद्गुरोः॥ [मीमांसा-मंडन के प्रारंभ में डा० झा०]

दोनों पद्धतियों की समालोचनात्मक प्रणाली पर आश्रित था। संभवतः मीमांसा-दर्शन का अध्ययन इनने श्री चित्रधर मिश्र से किया। मीमांसा की दोनों ही प्रणालियों का उन्हें पूर्ण परिचय था और दोनों पर ही उनने अपने ग्रन्थों की रचना की। प्रभाकर-प्रणाली पर ही सब से पहले मौलिक निबन्ध लिखकर इनने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से १६०६ ई० में "डाक्टर ऑफ लेटर्स" की उपाधि प्राप्त की। प्रभाकर-परंपरा से अधिक काम उनने कुमारिल-परंपरा पर किया। कुमारिल की तंत्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक का अंग्रेजी में अनुवाद करने के अतिरिक्त शाबर-भाष्य का भी इनने अनुवाद किया। मंडन मिश्र की "मीमांसानुक्रमणिका" पर सरल संस्कृत में "मीमांसा-मंडन" नाम से व्याख्या की। पूर्व-मीमांसा पर इनकी एक श्रेष्ठ अंग्रेजी रचना उनकी "पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेज" है—जिसका प्रकाशन हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस से डा० श्री एस० राधाकृष्णन् के सामान्य एवं प्रो० रानाडे के विशेष संपादकत्व में हुआ है। मीमांसा की सभी परंपराओं और उनके सिद्धान्तों व प्रवर्तकों का व्यापक परिचय इस ग्रन्थ में दिया गया है और यह एक ग्रन्थ मीमांसा के सामान्य ज्ञान के लिए पर्याप्त है। इसके अंत में महामहोपाध्याय डा० श्री उमेश मिश्र ने मीमांसा का एक संक्षिप्त इतिवृत्त भी प्रस्तुत किया है—जिससे यह ग्रन्थ अपने आप में सर्वथा पूर्ण हो गया है। इन मौलिक कृतियों के अतिरिक्त उनने मीमांसा ही नहीं, संस्कृत-साहित्य के अन्य अंगों पर भी लिखा और प्रायः ५० ग्रन्थों का संपादन किया। ६ नवम्बर १६४१ ई० को प्रयाग में उनका स्वर्गवास हुआ।

अपने जीवन में डा० झा० ने अनेक शिक्षण संस्थाओं को प्रधान के रूप में अलंकृत किया। वे सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद में संस्कृत के प्रोफेसर, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के प्रिंसिपल एवं नव-निर्मित इलाहाबाद विश्वविद्यालय के ६ वर्ष तक उपकुलपति रहे। उनका संपूर्ण जीवन विभिन्न कर्तव्यों में व्यस्त था, फिर भी वे मीमांसा-दर्शन

को कभी नहीं भूले और जीवन के अंतिम क्षण तक उसकी सेवा करते रहे। इनकी सेवायें अपना एक निजी स्थान रखती हैं।

इनके अनुयायियों की संख्या बहुत विस्तृत है। इन्हें बहुत योग्य और अधिकृत शिष्य भी मिले। इनके कार्यों की प्रशंसा एवं इनके प्रति श्रद्धाञ्जलि व्यक्त करते हुए प्रो० आर० डी० रानाडे ने निम्न प्रशस्ति-वाक्य कहे हैं—"भारत में शायद ही ऐसा कोई विद्वान् होगा—जिसने मीमांसा-दर्शन पर इतना बड़ा कार्य किया हो। उनने श्लोक-वार्तिक, तंत्रवार्तिक और शाबर-भाष्य का अनुवाद किया। यदि हम पुनर्जन्म को मानते हों तो यह कहना अत्युक्ति न होगा कि गंगानाथ कुमारिल के अवतार थे। यद्यपि इनकी थीसिस प्रभाकर पर थी, पर जीवन का सारा कार्य उन्होंने कुमारिल पर किया व उसी की तरह प्रयाग में गंगा के किनारे शरीर विसर्जित किया। जीवन के अंतिम समय एक मास तक मैंने पंडितजी को योगासन लगाये पाया। इनके मरने के ६ घंटे पहले मैं और उमेश मिश्र इनसे मिले, यह इनकी अंतिम भेंट थी। वे दार्शनिकों में सिंह थे"………।

प्रो० रानाडे के ये वाक्य डा० झा की सेवाओं और उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हैं। यदि डा० झा नहीं होते, तो वे लोग जो-अंग्रेजी के द्वारा ही सब कुछ पढ़ते लिखते हैं—उन तक पूर्व-मीमांसा को कौन पहुँचाता। उन्हीं का यह प्रताप है कि आज संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी मीमांसा के मंतव्यों से परिचित हो सकता है। समालोचना के इस संक्रमण-काल में मीमांसा को जो आधुनिक प्रतिष्ठा प्राप्त है—उसका सबसे अधिक श्रेय डा० झा को है—और यही उनका एक वास्तविक स्मारक है।

२ महामहोपाध्याय श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री

अध्ययन, अध्यापन, अनुसन्धान आदि सभी दृष्टियों से मीमांसा को सार्वदेशिक प्रगति की ओर अग्रसर करने का सबसे अधिक श्रेय

महामहोपाध्याय श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री को है। दक्षिण में मद्रासपुड़ी नामक नगर के निवासी श्री राजू शास्त्री एवं कावेरी तट के तिरुवसनल्लूर (तंजौर प्रान्त) के निवासी श्री रामसुब्बा शास्त्री इन दो महान् विद्वानों की दो बड़ी परंपरायें महामहोपाध्याय श्री कुप्पू-स्वामी शास्त्री के पूर्व प्रचलित थीं। इन्हीं दोनों विद्वानों के विद्यार्थी अत्यन्त मात्रा में थे। इनमें से प्रथम परंपरा ने कुप्पू-स्वामी शास्त्री को जन्म दिया। मद्रास प्रान्त के कावेरी तट पर "गणपति-अग्रहारम्" इनकी जन्म-भूमि थी। ये पूर्व और उत्तर-मीमांसा के प्रगाढ़ विद्वान् थे एवं संस्कृत और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे। तिरुवैय्यार संस्कृत कालेज के अध्यक्ष, मैलापुर संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल एवं मद्रास प्रेसीडेन्सी कालेज के संस्कृत प्रोफेसर के रूप में इनने मीमांसा-दर्शन को अनेक विद्वान् भेंट किये। इनके शिष्यों का मीमांसा पर पूर्ण आधिपत्य सा रहा। अध्ययन, अध्यापन के अतिरिक्त अनुसन्धान और विद्वत्ता से परिपूर्ण अनेक मौलिक लेख लिखे व अनेक ग्रन्थों का संपादन किया—जो आज भी अत्यन्त आदर के साथ देखे जाते हैं। इलाहाबाद और कलकत्ते आदि की ओरियन्टल कांफ्रेन्सों में प्रभाकर और कुमारिल के काल-निर्णय व अन्य विवादास्पद विषयों पर इनने सिद्धान्त रूप में अपने निर्णय दिये। विशेषकर डा० झा से कुछ एक विषयों पर इनका वैमत्य रहा—जिसका दिग्दर्शन स्थान स्थान पर ऊपर कराया जा चुका है। केवल दक्षिण ही नहीं, सारे भारतवर्ष में योग्य योग्य विद्वानों और ग्रन्थों को जन्म देकर इनके विद्यार्थियों ने मीमांसा का डंका बजा दिया। म० म० अनन्त कृष्ण शास्त्री ने कलकत्ता विश्वविद्यालय, म० म० चिन्न स्वामी शास्त्री ने हिन्दू विश्वविद्यालय व श्री टी० आर० चिन्तामणि ने मद्रास में रहते हुए उनके शेष कार्य को प्रमुख रूप से पूरा किया। इनके अतिरिक्त इनके विद्यार्थी ऊँचे से ऊँचे शैक्षणिक एवं प्रशासनिक पदों पर समासीन हुए एवं आज उन्हीं के प्रयत्नों से उनके स्मारक के रूप में "महामहोपाध्याय श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स्टीट्यूट" की स्थापना की गई है—जो वैदिक वाङ्मय की बहुत ठोस सेवा कर रहा

है। आज भारत के कोने कोने में जहाँ जहाँ मीमांसा का प्रकाश टिमटिमा रहा है—वह सब इसी महामना की देन है। शिक्षण-प्रणाली में भिन्न भिन्न स्थानों पर आज मीमांसा को जो भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है—वह इन्हीं की सेवाओं का मूर्त रूप है।

३ पंडित सुदर्शनाचार्य

इन दोनों परंपराओं के अतिरिक्त भी कुछ विद्वान् हुए-जिनमें पंजाब के निवासी श्री सुदर्शनाचार्यने भी शास्त्र-दीपिका के तर्कपाद की व्याख्या १९०७ ई० में लिखी। तर्कपाद को समझाने के लिए इससे अधिक सरल और विस्तृत व्याख्या और दूसरी नहीं है। ये रामानुज-मत के अनुयायी थे। इनने महामहोपाध्याय पं० गंगाधर शास्त्री से संस्कृत का अध्ययन किया। यद्यपि विद्वानों की परंपरा में इस व्याख्या का उतना संमान नहीं हुआ—फिर भी विषय को सरल और सुगम बनाने में लेखक को इसमें पर्याप्त सफलता मिली है। प्रारंभ में विवरण के रूप में भट्ट और प्रभाकर के सैद्धान्तिक भेदों का स्वरूप भी इसने उपस्थित किया है। बनारस से इसका प्रकाशन हो चुका है।

४ कृष्णनाथ न्याय-पंचानन

एक सरल और सफल व्याख्याकार के रूप में श्री कृष्णनाथ को भी मीमांसा-साहित्य में अच्छी प्रसिद्धि मिली है। यह नवद्वीप के पास भागीरथी नदी के किनारे पूर्वस्थली नामक गाँव का निवासी था एवं प्रस्तुत दर्शन का बहुत श्रेष्ठ विद्वान् था। आपदेव के न्याय-प्रकाश पर "अर्थ-दर्शन" एवं अर्थ-संग्रह का भी व्याख्या की है-इन दोनों ही का मूल ग्रंथों के साथ कलकत्ता से प्रकाशन हो चुका है। सन् १८६६ ई० में इनने अपनी अर्थ-दर्शनी को समाप्त किया-उनके समय का इसीसे निश्चय हो जाता है।

५ वामन शास्त्री किंजवडेकर

पूना में रहते हुए श्री वामन शास्त्री ने भी मीमांसा-दर्शन की बहुत सेवा की, पर दुर्भाग्य है कि शीघ्र ही वे अकाल मृत्यु के ग्रास हो गये। पूना में मीमांसा की पुस्तकों के प्रकाशन के लिए इनने एक संस्था की स्थापना की। इनका "पश्वालंभन-मीमांसा" नामक ग्रन्थ आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से प्रकाशित हो चुका है। जीवन के अंतिम क्षणों में वे प्रकरण-पंचिका की एक पुरानी व्याख्या के प्रकाशन का काम कर रहे थे-जो अभी तक भी पूर्ण नहीं हो पाया है।

६ महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

कविराजजी गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के प्रिंसिपल थे। भारतीय दर्शन के उच्च कोटि के विद्वान् थे और इनमें पूर्व पश्चिम का सुन्दर सम्मिश्रण था। इतनी गहन विद्वत्ता के होते हुये भी इनने लिखा बहुत कम है। मीमांसा पर इनने तंत्रवार्तिक के अंग्रेजी अनुवाद (डा० झा०) का प्राक्कथन लिखा एवं "मीमांसा-मैनेस्क्रिप्टों" का केटलाक प्रस्तुत किया। कुछ वर्ष हुए, इनका देहान्त हो गया।

७ महामहोपाध्याय पी० वी० काणे

यद्यपि काणे का मुख्य विषय हिन्दू धर्म-शास्त्र रहा है और उसी पर इनने मौलिक रूप से कार्य किया है, फिर भी उनके धर्म-शास्त्र पर लिखे गये ग्रंथों में हम पूर्व-मीमांसा के गहन अध्ययन का परिचय पाते हैं। मीमांसा पर भी इनने एक अत्यन्त संक्षिप्त परिचयात्मक पुस्तिका लिखी है-जो अत्यन्त उपादेय है। ये बंबई के प्रसिद्ध वकील के रूप में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। पठन-पाठन के अतिरिक्त व्यवसाय में लगे हुए भी इनने संस्कृत-साहित्य-की जो सेवा की है, वह वस्तुतः महनीय है।

८ पं० पशुपति नाथ शास्त्री

ये बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् थे और कलकत्ता विश्वविद्यालय में मीमांसा के लेक्चरार थे। मीमांसा पर "पूर्व मीमांसा की भूमिका"

के रूप में एक अत्यन्त विवेचनात्मक पुस्तक इनने लिखी है-जिसका प्रकाशन १६२३ ई० में हुआ है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। बहुत थोड़ी आयु में ही आपका देहान्त हो गया-जिससे हम उनका अधिक साहित्य नहीं पा सके।

६ डा० ए० बी० कीथ

भारतीय दर्शन में अत्यन्त रुचि रखने वाला यह पाश्चात्य विद्वान् था-जो एडिनबरा-विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्रोफेसर था। इसने प्रायः प्रत्येक दर्शन पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। मीमांसा-दर्शन पर इसका "कर्म-मीमांसा" नामक ग्रन्थ सन् १६२१ में प्रकाशित हुआ-जिसमें मीमांसा के संपूर्ण अंगों पर प्रकाश डाला गया है।

१० कर्नल जी० ए० जैकब

इस दिशा में दूसरे महत्व-पूर्ण अंग्रेज श्री जैकब हैं-जो एक सेना के अधिकारी थे। इतने कठोर और व्यस्त कार्य पर अधिकृत होते हुए भी इनका भारतीय दर्शन और साहित्य पर जो प्रेम था, वह अतिशय आदरणीय है। इनने मीमांसा पर महान् परिश्रम के साथ "शाबर-भाष्य का सूचीपत्र" तैयार किया-जो बनारस-सरस्वती भवन से प्रकाशित हो चुका है। इनकी "लौकिकन्यायाञ्जलि"-जो तीन भागों में छप चुकी है-इनके गहन अध्ययन का प्रतीक है। उसमें मीमांसा-न्यायों का संग्रहात्मक विवेचन और उपयोग हम देख सकते हैं। यह एक अत्यन्त मौलिक कार्य है। सन् १६११ में इनका देहावसान हो गया।

११ महामहोपाध्याय वेंकट सुब्बा शास्त्री

श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री के प्रसंग में दक्षिण की दो मीमांसक-परंपराओं का उल्लेख किया जा चुका है-उन्हीं में महामहोपाध्याय राम सुब्बा शास्त्री की परंपरा में श्री वेंकट सुब्बा शास्त्री ने पदार्पण किया। ये मैसूर प्रान्त के रहने वाले थे और श्री कुप्पू-स्वामी शास्त्री के अनन्तर मैलापुर संस्कृत कालेज के अध्यक्ष पद को इन्हीं ने अलंकृत

किया। इनके गुरु राम सुब्बा शास्त्री महान् विद्वान् थे-मीमांसा के साथ साथ वेदान्त में भी इनकी अच्छी गति थी। किंवदन्ती है कि इनने दिग्विज के लिए भिन्न भिन्न स्थानों पर शास्त्रार्थ किया। बनारस की ज्ञानवापी में इनने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, और द्वैत तीनों स्तंभों पर समासीन हो कर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की। दक्षिण में इनके सैकड़ों छात्र थे-जिनमें श्री वेंकट सुब्बा शास्त्री का प्रमुख स्थान है। मीमांसा पर इनने "भाट्ट-कल्पतरु" आदि अनेक विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ लिखे।

१२ महामहोपाध्याय श्री चिन्नस्वामी शास्त्री

दक्षिण की जिन दो परंपराओं की चर्चा ऊपर की जा चुकी है-उन दोनों ही के वास्तविक प्रतिनिधि श्री चिन्नस्वामी शास्त्री हैं। कुप्पूस्वामी शास्त्री से मैलापुर संस्कृत कालेज में मीमांशा-दर्शन का अध्ययन कर इनने राजू-परंपरा का एवं स्वयं राम-सुब्बा शास्त्री से अध्ययन कर द्वितीय परंपरा का भी प्रतिनिधित्व प्राप्त किया। इनमें आकर वे दोनों परंपरायें लीन हो गईं और एकरूपमय हो कर सर्वतोमुख विकास की ओर अग्रसर हुईं। शास्त्री जी का जन्म मद्रास प्रान्त के कपालतराकपुरम् (मादुकुल्तूर) में उत्तम श्रोत्रिय और कर्मकांड के विशेषज्ञ पं० रघुनाथ श्रोत्रिय और देवी अन्नपूर्णा से हुआ। अन्नपूर्णा जैसी देवियां भारत के इतिहास में बहुत कम मात्रा में मिलेंगी-जिन्हें सब प्रकार के गृह-कार्यों में लग्न रहते हुए भी स्वरों के साथ संपूर्ण तैत्तिरीय शाखा कंठस्थ थी। इस आदर्श दंपति से जन्म लेने का ही यह श्रेय है कि श्री चिन्नस्वामीजी केवल मीमांसक ही नहीं बने, परन्तु कर्म-कांड और वैदिक-साहित्य पर भी उनका व्यापक आधिपत्य हो सका। तिरुवैय्यार-संस्कृत-कालेज, हिन्दू-विश्वविद्यालय, बनारस, तिरुपति संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय आदि उच्चतम शिक्षण-संस्थानों में विभागीय अध्यक्ष और अध्यक्ष के रूप में इनने मीमांसा-दर्शन की जो सेवायें की हैं-उनके परिणाम के रूप में आज सारे देश में हम सैंकड़ों की मात्रा में उच्चकोटि के मीमांसक देख रहे

हैं। मीमांसा के इतिहास की दृष्टि से वर्तमान काल में यदि कोई परंपरा चल रही है, तो वह श्री चिन्नस्वामी-शास्त्री-परंपरा ही है। अध्ययन और अध्यापन की दृष्टि से दक्षिण भारत में मीमांसा का प्रकाश फिर भी देदीप्यमान था (इन्हीं की पूर्व-परंपरा के कारण) पर उत्तर-भारत में आज स्थान स्थान पर मीमांसा का जो डिंडिम घोष हमें सुनाई पड़ रहा है-वह इसी महाकाय, अतएव प्रभावशाली महा-पुरुष की देन है। इनके आने से पहले बनारस जैसे संस्कृत-विद्या के केन्द्र में भी मीमांसा की जो स्थिति थी, वह सर्व-विदित है। उसीके उत्थान के लिए तो महामना मालवीय जी ने इन्हें पूर्व-मीमांसा के प्रधान-अध्यापक पद पर प्रतिष्ठित किया था। काशी में रहते हुए मीमांसा की जो सेवा उनने की-उसीका यह परिणाम था कि कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने आदर के साथ इन्हें मीमांसा के आसन को सुशोभित करने के लिए आमन्त्रित किया। वर्तमान में बंगाल सरकार के अन्वेषण-विभाग में स्मृति-पुराण-प्रोफेसर के पद पर आप काम कर रहे हैं।

म० म० श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री के अनन्तर श्री चिन्न-स्वामी-शास्त्री ही एक ऐसे व्यक्ति हैं-जिनने अपना सारा जीवन एकमात्र इस दर्शन की सेवा करने में बिताया है। इस दर्शन पर उनका व्यापक अधिकार है। वे केवल इसके अध्यापक ही नहीं रहे हैं, अपितु उच्च-कोटि के लेखक भी हैं। वैदिक-साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों के संपादन में अपने योग्य अधिकारी और विद्वान् शिष्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री के सहयोग से इनने जितना श्रम किया है-बहुत थोड़े विद्वान् ऐसा कर पाये हैं। तांड्य-महाब्राह्मण, बृहती, आपस्तंब-श्रौतसूत्र, बोधायन-धर्म-गृह्यसूत्र, मीमांसा-कौस्तुभ, तौतातितमततिलक आदि ५०, ६० ग्रन्थों के ये संपादक हैं। मीमांसा-न्याय-प्रकाश की जितनी अच्छी टीका इनने लिखी है-वैसी पहले कोई टीका नहीं थी। तंत्रसिद्धान्त-रत्नावलि और यज्ञतत्व-प्रकाश इनकी मौलिक रचनायें हैं। इनकी इन्हीं सेवाओं एवं महत्ताओं से प्रभावित हो कर भिन्न भिन्न प्रशासनों ने इन्हें जहाँ महा-महोपाध्याय, वेद-विशारद, शास्त्र-रत्नाकर आदि उच्च उपाधियों से

संमानित किया है–वहाँ संस्कृत–जगत् ने जयपुर जैसे प्रतिष्ठित संस्कृत–शिक्षा–केन्द्र के अ० भा० संस्कृत–साहित्य–सम्मेलन के अधिवेशन का सभापति चुन कर अपनी अपार आस्था व्यक्त की है।

ये सब ग्रंथ जहाँ इनके प्राकाशनिक वैदुष्य के साक्षी हैं–वहाँ आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री, पं० श्री राम स्वामी शास्त्री, बाल–सुब्रह्मण्य शास्त्री, कृष्णमूर्ति शास्त्री, वासुदेवाचार्य, रामपदार्थदास, महेश्वर शास्त्री आदि इनके स्नातक प्रसिद्ध मीमांसकों के रूप में इनके अध्यापन–कौशल के ज्वलन्त प्रमाण हैं। अतः यदि हम यह कहें कि अध्ययन, प्रचार और ग्रंथ–प्रकाशन इन सभी दृष्टियों से मीमांसा को सार्वदेशिक उत्थान की ओर ले जाने वाला कोई व्यक्ति इस काल में इनकी समता के योग्य नहीं, तो मेरी दृष्टि से कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हमारे सौभाग्य से अभी भी हुये वृद्धावस्था के न देखते हुए मीमांसा की सेवा में संलग्न हैं।

१३ महामहोपाध्याय डा० श्री उमेश मिश्र

आधुनिक काल के प्रारंभ में हम जिस प्रथम धारा की चर्चा कर आये हैं—डा० श्री उमेश मिश्र उसी के अधिकृत संवाहक हैं। मिथिला के विद्वानों को जन्म देने के लिए विख्यात गजहरा नामक गाँव में संवत् १९५२ में आपका जन्म हुआ। इनके पिता महामहोपाध्याय पं० जयदेव मिश्र एवं चाचा पं० मधु-सूदन मिश्र भारत के सुविख्यात विद्वान् थे। अपने पिताजी के अतिरिक्त इनने महामहोपाध्याय डा० श्री गोपीनाथ कविराज से संस्कृत और दर्शन-साहित्य का अध्ययन किया। मीमांसा तो आपकी परंपगत बपौती रही है—आप महामीमांसक भवनाथ मिश्र एवं शंकर मिश्र के वंशज हैं। एवं महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा के पश्चात् आप ही एक भारत के प्रतिभाशाली विद्वान् हैं—जिन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय ने "डाक्टर ऑफ लेटर्स" की उपाधि से संमानित किया। प्राच्यविद्या-सम्मेलन के दर्शन-धर्मशास्त्र-विभागाध्यक्ष (१९२३)

मैथिली साहित्य परिषद् के अध्यक्ष एवं प्रयाग विश्वविद्यालय में (१६२३ से १६५२ तक) प्रोफेसर पद पर काम करते हुए आपने संस्कृत साहित्य की जो सेवा की है—वह अपूर्व है। लेखनी पर आपका व्यापक अधिकार रहा है—यही कारण है कि अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी और मैथिली इन चारों भाषाओं में इनके द्वारा लिखित, संपादित और प्रकाशित ग्रन्थों की मात्रा सैंकड़ों तक पहुँच चुकी है। १—कंसेप्शन ऑफ मैथेमेटिक्स अकार्डिंग टू दा न्याय वेशेषिक फिलासफी, २-मुरारि-मिश्राज व्यूज ओन् मीमांसा, ३—म० म० चन्द्र के अनुसार मीमांसा-तत्त्व-विचार, ४—स्वप्नतत्त्व-निरूपण, ५—शब्दतत्त्वनिरूपण, ६—मीमांसा-कुसुमाञ्जली, ७—चार्वाक-दर्शन, ८—सांख्यकारिका-टीका, ६—सांख्यतत्वकामुदी का खंडन, १०—भारतीय-दर्शनों का समालोचनात्मक इतिहास (१५०० पृष्ठ में—जिसका प्रथम खंड, प्रकाशित होचुका है) ११—गीता का तात्विक विचार तथा शंकर मत का आलोचन, १२—विद्यापति ठाकुर आदि आपकी उच्च कोटि की रचनायें हैं—जो इनके व्यापक अध्ययन एवं गंभीर वैदुष्य की ज्वलन्त साक्षिणी हैं। उन्हीं सब से प्रभावित होकर भारत-सरकार ने आपको महामहोपध्याय पद से संमानित किया है।

अनुसन्धान आपका मुख्य विषय रहा है। विशेषतः दर्शन-साहित्य के अनेक अविदित तथ्यों से हमें परिचित करा कर इनने अतिशय उपकृत किया है। मीमांसा के क्षेत्र में मुरारि मिश्र के सिद्धान्तों को हम आपके आलोचन से पूर्व बहुत कम जानते थे। और भी बहुत सी रचनाओं एवं लेखकों को प्रकाश में लाने का श्रेय आपको है। चाहे अध्यापन-परंपरा की दृष्टि से न सही, पर एक मूक-सेवक के रूप में मीमांसा को इनने जो मौलिक और ठोस देन दी है—वे अतिशय महनीय हैं। हमारा यह सौभाग्य है कि इतनी वृद्ध अवस्था के रहते हुए भी वे मिथिला रिसर्च-इन्स्टीट्यूट के डाइरेक्टर पद पर प्रतिष्ठित होकर साहित्य-सेवा कर रहे हैं। विशेषकर यह गौरव को

बात है कि मिथिला की मिश्र-परंपरा में-जिसने मीमांसा को पर्याप्त प्रौढिमा प्रदान की है, आज भी एक योग्य प्रतिनिधि इस क्षेत्र में विराजमान है। सब से अधिक हर्ष की बात यह है—जो बहुत कम मात्रा में देखने को मिलती है कि आपकी संपूर्ण संततियां अतिशय योग्य हैं। आपके छै पुत्रों में प्रथम—डा० श्री जयकान्त मिश्र, एम० ए० डी० लिट् प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य के अध्यापक हैं, द्वितीय—पं० विजयकान्त मिश्र एम० ए० बिहार राजकीय आर्किओलौजी विभाग के अध्यक्ष, तृतीय—पं० श्री कृष्णकान्त मिश्र एम० ए० मिथिला-कालेज, दरभंगा में इतिहास के प्रोफेसर, चतुर्थ—पं० श्री रमाकान्त मिश्र एम० ए० रिसर्च-स्कालर, व अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय, पंचम श्री प्रभाकान्त मिश्र एम० ए. एल० एल० बी०, प्रयाग विश्वविद्याल षष्ठ—पं० सुधाकान्त मिश्र इलाहाबाद में अनुसन्धान के विद्यार्थी हैं। निश्चय ही इस दिशा में डाक्टर साहब जैसा तपस्वी मिलना बहुत दुर्लभ है। पाश्चात्य-साहित्य और शिक्षा में निष्णात होते हुए भी भारतीय संस्कृति में अनन्य आस्था व निष्ठा आपके जीवन की प्रमुख विशेषता है—जिसे प्रतिदिन हम इनके आचार-व्यवहार में क्रियात्मक देखते हैं। अभी भी आप और आपकी परंपरा से मीमांसा-दर्शन को बहुत आशाएं हैं।

१४ श्री टी० आर० चिन्तामणि

महामहोपाध्याय श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री के प्रधान शिष्यों में आपकी गणना है। इनसे मीमांसा-दर्शन का व्यापक अध्ययन कर इनने अपना थीसिस भी "डाक्टर ओफ" फिलासफी" पदवी के लिए "मीमांसा का इतिहास" विषय पर लिखा—जिसका पूर्णशः प्रकाशन न होने पर भी कुछ कुछ स्वतंत्र लेखों के रूप में मद्रास ओरियण्टल रिसर्च जनरल में प्रकाशन होचुका है। इसके अतिरिक्त भी इस विषय पर इनने अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे। आपने मद्रास विश्वविद्यालय के सीनियर संस्कृत लेक्चरार पद को अलंकृत किया।

१५ श्री रामस्वामी शास्त्री

आपका मीमांसा-दर्शन के साथ साथ संस्कृत-साहित्य के अन्य अंगों पर भी अच्छा अधिकार है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—इनने तिरुवैय्यार संस्कृत कालेज में म० म० श्री चिन्नस्वामीजी से मीमांसा-दर्शन का अध्ययन किया। आप अनेक वर्षों से बडौदा-राज्य के जगत्-प्रसिद्ध पुस्तकालय के श्रौत-पंडित पद पर काम कर रहे हैं। आपके तत्त्वावधान व संपादकता में गायकवाड़ संस्कृत सीरीज आदि प्रकाशन-संस्थाओं द्वारा मीमांसा व अन्य विषयों के अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन हुआ है। पार्थ-सारथि की न्यायरत्नमाला उनमें प्रमुख है—जिस पर इनका अंग्रेजी में समालोचनात्मक प्राक्कथन भी विद्यमान है। इन्हें अंग्रेजी और संस्कृत दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है।

१६ आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री

श्री चिन्नस्वामी जी के अनन्तर श्री कुप्पूस्वामी-शास्त्री-परंपरा का उचित प्रतिनिधित्व उन्हीं के योग्य शिष्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री में आ रहा है। सन् १९०८ ई० में मद्रास प्रान्त के पैलाशूर गावें (कांची मंडल) में श्रीमती लक्ष्मी देवी के गर्भ से इनका जन्म हुआ। आपके पिता पं० श्री कृष्णशर्मा नार्थ आकड़ जिले के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट पद पर काम करते थे। बनारस में अध्ययन कर आपने उत्तम श्रेणी में मीमांसाचार्य, साहित्याचार्य एवं न्यायाचार्य परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं—एवं पूजनीय मालवीयजी ने तत्काल ही आपकी हिन्दू विश्वविद्यालय में मीमांसा के सहायक प्रोफेसर एवं १९३९ में प्रधान प्रोफेसर पद पर नियुक्ति की। संस्कृत साहित्य के सभी अङ्गों पर शास्त्रीजी का अच्छा अधिकार है। उनकी विद्वत्ता एवं सर्वतोमुख प्रतिभा को देख कर ही मालवीयजी ने इन्हें स्थानीय अधिकारियों की प्रार्थना पर महाराज संस्कृत कालेज जयपुर के अध्यक्ष पद पर सन् १९४५ में भेजा। वहाँ ८ वर्ष कार्य करने के अनन्तर सन् १९५२ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय

ने मीमांसा आसन को सुशोभित करने के लिए आपको आदर के साथ आमंत्रित किया—वर्तमान में भी आप उसी पद पर काम कर रहे हैं।

शास्त्रीजी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सर्वतोमुख गति है। वे एक कुशल दार्शनिक, रसिक साहित्यकार, सरस अध्यापक, श्रेष्ठ लेखक प्रभावशाली वक्ता एवं योग्य शासक हैं। उत्तर-प्रदेश में मीमांसा-प्रचार के अतिरिक्त राजस्थान जैसे विस्तृत प्रान्त में मीमांसा का स्रोत संचार करना आपका अनुपम स्मारक है। भारत के कोने कोने में आपके सैकड़ों स्नातक मीमांसा का कार्य कर रहे हैं। केवल इन सब रूपों में ही नहीं अपितु एक कुशल नियामक के रूप में इनने राजस्थान के संस्कृत-जगत् को जिस उन्नति की ओर अग्रसर किया है—वह प्रशंसनीय है।

लेखनी पर आप का व्यापक अधिकार है—और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—इनने अपने गुरूजी के साथ व स्वतन्त्र रूप से प्रायः ५०, ६० ग्रन्थों का लेखन व संपादन किया है। तांड्य-महा-ब्राह्मण शतपथ-ब्राह्मण, वेद-प्रकाश, जैमनीय-न्यायमाला, तौतातितमततिलक आपस्तंबगृह्य तथा धर्म-सूत्र, कृत्यकल्पतरु, बृहती, भट्टप्रभाकरयोर्मभेदः, अर्थ संग्रह, तत्रसिद्धान्त-रत्नावली, रामायण-संग्रह, सनातन-धर्मोद्धार, मीमांसा-न्याय-प्रकाश, शाबर-भाष्य, ध्वन्यालोक, मीमांसा-दर्शनोदय, जयवंश-महाकाव्य, प्रमाण-मंजरी शास्त्रदीपिका और प्रकरण-पंचिका आदि उनमें प्रमुख हैं। मीमांसा का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है—जिस पर इनने काम नहीं किया हो—यह भी यदि कहा जाये, तो कोई अत्युक्ति नहीं है। यही कारण है कि भारत के विद्वानों ने इन्हें "मीमांसान्याय केसरी", व राजस्थान के राजप्रमुख ने "विद्या-सागर" जैसे गौरवपूर्ण पदों से संमानित किया है। अभी संस्कृत-जगत् और विशेषकर मीमांसा-दर्शन को आपसे बहुत सी आशायें हैं। एक दो वृद्धों को छोड़कर कार्य-क्षेत्र में उतरे हुए आप ही ऐसे व्यक्ति हैं—जिनके कंधों पर मीमांसा की सेवा का भार है और यह भी ठीक है कि ये उसके उचित अधिकारी हैं-जिनमें आकर सब परंपरायें सुरक्षित हैं।

इन सब गण्य मान्य विद्वानों के अतिरिक्त सारे देश में सैकड़ों विद्वान् भिन्न भिन्न रूपों में मीमांसा की सेवा कर रहे हैं। इनमें बहुत से तो मूक साधक हैं - जिनकी सेवायें जितनी अधिक अविदित हैं— उतनी ही महनीय भी हैं। कुछ एक ने समय समय पर भिन्न भिन्न प्रसंगों में विभिन्न रूपों में मीमांसा का ध्यान रखते हुए उसकी अधिकृत चर्चाएँ की हैं। पाश्चात्य विद्वानों में भारतीय दर्शन का इतिहास लखते हुए श्री मैक्समूलर ने इस दर्शन पर भी एक अध्याय लिखा है। हमारे उपराष्ट्रपति डा० श्री राधाकृष्णन् भी इसी प्रकार की चर्चा में इस दर्शन को नहीं भुला पाये हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने दर्शन-दिग्दर्शन में चाहे इसे पुरोहितों की विद्या ही कही हो, पर इसे आदरपूर्ण स्थान अवश्य दिया है। आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय ने—जो कि आध्यात्मिक साहित्य के क्षेत्र में उच्चकोटि के लेखक हैं—भी अपने भारतीय-दर्शन में एक संक्षिप्त और सारगर्भित विवेचन इस शास्त्र का भी उपस्थित किया है। विशेषकर हिन्दी के क्षेत्र में दर्शन जैसे विषयों को प्रस्तुत करने का सबसे अधिक श्रेय आप ही को है और आप से हिन्दी-दर्शन-साहित्य को पर्याप्त आशायें हैं। संस्कृत विद्या के इतिहास के लेखक श्री कपिलदेव ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। डा० श्री कुन्जन राजा और श्री माधवकृष्ण शर्मा ने—जो कि अनुसन्धान की दृष्टि से प्राच्य साहित्य के सम्मानित विद्वान हैं—भी भिन्न भिन्न अनुसन्धानपूर्ण लेखों द्वारा इस दर्शन को अनेक मौलिक देन दी हैं एवं दे रहे हैं। इस तरह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक साधक बीसवीं शताब्दी के इस महान् संक्रमण-काल में भी इस दर्शन की ठोस सेवा कर रहे हैं। हम इन सभी के प्रति कृतज्ञ हैं और इनकी सेवाओं के कारण गौरवान्वित हैं। हमारा विश्वास है कि मीमांसा का भविष्य साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा उज्ज्वल है।

एक शास्त्रीय उदाहरण से इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है–धर्म मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय है और उसकी परिभाषा की जब चर्चा उसमें सबसे [१] प्रथम प्रस्तुत होती है–तो वहाँ और और विशेषणों के साथ स्पष्ट रूप से यह भी घोषित कर दिया जाता है कि 'जो प्रयोजन वाला हो" वह धर्म है–यदि सब कुछ अन्य भाग उसमें विद्यमान हैं और प्रयोजनवत्ता नहीं है–तो कोई भी मीमांसक उसे धर्म के रूप में स्वीकृत करने के लिए तैयार नहीं है। इस प्रयोजन की आगे चल कर जब व्याख्या की गई तो मुख्यतया इसे दो भागों में बांटा गया-दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट से यहाँ अभिप्राय लौकिक और अदृष्ट से अलौकिक का है। इन दोनों प्रयोजनों के प्राबल्य-दौर्बल्य-निर्णय का जब प्रसंग आया, तो सर्वसंमति से यह निर्णय किया गया कि "जब तक लौकिक या दृष्ट प्रयोजन मिलता है तब तक अलौकिक या अदृष्ट की तो कल्पना तक करना अन्याय है"। इससे हम सहज ही उपर्युक्त तथ्य की सत्यता तक पहुँच जाते हैं–जिसके द्वारा हमने यह प्रतिपादित किया है। मीमांसा-दर्शन उपयोगितावाद के प्रवर्तन की दृष्टि से सब से पहला दर्शन है। इस उपयोगिता में भी वह अलौकिक उपयोगिता की अपेक्षा लौकिक उपयोगिता को अधिक महत्व देता है। यह भी उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध है। इसी लिए तो इस दर्शन को लोक और वेद के समन्वय की प्रस्तावना कहा जा सकता है।

यह तो हुआ-एक मौलिक दृष्टिकोण। इसके अतिरिक्त भी हम मीमांसा की उपयोगिता अनेक दृष्टि से आंक सकते हैं। क्या लौकिक, क्या अलौकिक या पारलौकिक, क्या सामाजिक, क्या धार्मिक और क्या शास्त्रीय सभी प्रकारों से मीमांसा में हम व्यापक उपयोगिता के दर्शन करते हैं। इसके एक हजार से अधिक अधिकरणों या न्यायालयों द्वारा जो सिद्धान्त या निर्णय प्रस्तुत किये गये हैं–उनसे केवल एक भाग, संप्रदाय या समाज नहीं, अपितु सारा आगम और उसकी परंपरायें

१—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जैमिनि)

प्रभावित ही नहीं-पर ओतप्रोत भी हैं। सैकड़ों से ऊपर न्याय इन अधिकरणों के द्वारा सिद्ध किये गये-जिनकी विवेचना करने के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ चाहिए। ऐसा कोई शास्त्र नहीं-जिसने इनको आदर देकर स्वयं को कृतकृत्य नहीं किया हो। ऐसा कोई विचारक नहीं हुआ-जिसने अपने विचारों के समर्थन के लिए उनकी शरण न ली हो-और ऐसा कोई धर्मवेत्ता नहीं हुआ-जिसको उनसे पथ-प्रदर्शन न मिला हो। यदि इनका संकलन [1] मात्र भी किया जाये-तो इस ग्रन्थ का आकार द्विगुणित हो जायगा। ऐसी दशा में मीमांसा की उपयोगिता का वर्णन करना एक सहज कार्य नहीं है-वह इतनी व्यापक और प्रसरणशील है-जिसे इस स्तम्भ में सीमित करना एकमात्र दुस्साहस है-पर वह भी इसलिए किया जा रहा है, क्योंकि आज के युग की प्रथा है।

संविधान पर प्रभाव

सबसे पहले हम धर्म-शास्त्र को लें-जो हमारे जीवन का तत्कालीन नियामक शास्त्र था। उसे हम भारत का एक संविधान कह सकते हैं। भारत के इस संविधान के निर्माण में सबसे अधिक सहायता इस दर्शन ने दी। इसके अधिकरणों के सिद्धान्त आज के न्यायालयों की तरह इस विधान के निर्माताओं के प्रेरणा—दायक रहे। जैसे कोई व्यक्ति अपने पुत्रों की बाल्यावस्था में ही मरते समय अपनी संपत्ति के लिए "मेरे मरने के अनन्तर मेरी संपूर्ण संपत्ति की स्वामिनी मेरी स्त्री होगी—और जब मेरे पुत्र युवक (बालिग) हो जायेंगे तो वे मेरी संपत्ति के पूरे अधिकारी होंगे" यह भविष्यत्—विवरण (वसीयतनामा) लिखकर जाता है। यहाँ यह संशय होगा कि क्या स्त्री वस्तुतः स्वामिनी है-अथवा पुत्र है। स्वामी शब्द का प्रयोग स्त्री के साथ भी किया गया है और पुत्र के साथ भी। मीमांसा के समक्ष जब यह प्रश्न विचारार्थ उपस्थित होगा, तो वह निर्णय देगी—संपत्ति का सर्वाधिकार पुत्रों को है—स्त्री को नहीं।

१—देखिये इनका संकलन-लौकिकन्यायाञ्जलि के तीनों भाग।

स्त्री के साथ स्वामी शब्द का प्रयोग प्रबंध-कर्त्री या रचयित्री के अभिप्राय में है और पुत्रों के साथ वास्तविक अर्थ में। इस प्रकार हिन्दू-कानून के निर्माण में जहां इस दर्शन का मौलिक भाग रहा—वहाँ उसके अभिप्रायों की यथार्थता के बोधन में भी। इसी लिए मीमांसा-ज्ञान से शून्य धर्म-शास्त्री को हमारे इतिहास ने कोई महत्ता नहीं दी। वस्तुतः यही धर्म-शास्त्र का आधार ही क्या वास्तविक धर्म—शास्त्र है। इसके ज्ञान के बिना धर्म-शास्त्र का पांडित्य तो दूर रहा—सामान्य ज्ञान भी असंभव है।

एक उदाहरण और इसकी स्पष्टता के लिए आवश्यक है। धर्म शास्त्र ने राजा के कर्तव्यों के संबंध में विस्तृत चर्चा करते हुए उसको आदेश दिया—

"व्यवहारान्नृपः पश्येत्"

अर्थात् राजा स्वयं राजकीय कार्यों का निरीक्षण करे। इसी विधान का जब विस्तृत विश्लेषण किया गया और केवल राजा के लिए इतने विशाल कार्यों की देखरेख असंभव सी प्रतीत होने लगी—तो धर्म-शास्त्र ने इस अनुशासन को कुछ शिथिल किया और कहा—

अपश्यता कार्यवशाद् व्यवहारान्नृपेण तु।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥

अर्थात् यदि कार्यों की प्रचुरता के कारण राजा इन सब व्यवहारों को नहीं देख पाये-तो उसे संपूर्ण विधान के ज्ञाता ब्राह्मण की नियुक्ति उसके सभ्य वर्ग के साथ करनी चाहिये। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। पर यह सब जो मार्ग हमारे संविधान ने दिखाया, वह एक मात्र मीमांसा के आश्रय पर। मीमांसा नें गंभीर विवेचन के पश्चात् प्रतिनिधि-परिग्रह-न्याय सिद्ध[१] की अर्थात् जब मुख्य वस्तु किन्हीं भी कारणों से अनुपस्थित या अप्राप्त हो, तो उसके अभाव में उसके

१—(६—३—४) शास्त्र-दीपिका

प्रतिनिधि के द्वारा वही कार्य लिया जा सकता है। अतएव वह नियोज्य-मान ब्राह्मण राजा का प्रतिनिधि है—और निरीक्षण का अधिकारी है। केवल एक दिशा में ही नहीं, लोक और शास्त्र सभी ओर प्रतिनिधि-परिग्रह न्याय का व्यापक प्रचार हुआ—मीमांसा की इस संक्षिप्त अपितु प्रभावपूर्ण देन ने सबको लाभ पहुँचाया। आज वादी प्रतिवादी वकील को अपना प्रातिनिध्य सौंप कर निश्चिन्त हो जाते हैं—शासक के हजारों प्रतिनिधि उसके नाम पर सब काम चलाते हैं। यहां तक कि आम जनता भी अपने प्रतिनिधि चुन कर अपना सारा भाग्य-विधान उन्हें भेंट कर देती है। ये सारी विधान—सभायें और संसद् हमारी इसी न्याय के जीते जागते स्वरूप हैं। इसीसे हम अनुमान लगा सकते हैं कि मीमांसा ने किस प्रकार हमारे संविधान और जीवन को प्रभावित किया व उसके एक एक निर्णय का कितना व्यापक महत्व है—जिसका आदर आज के संविधान को भी करना पड़ा है। प्रतिनिधि परिग्रह तो आज के संविधान की पृष्ठ—भूमि है। यदि मीमांसा के निर्णयों की व्याख्या कर उन्हें आज के संविधान के साथ भी संयुक्त किये जायें-तो मेरा यह दृढ़ विश्वास और दावा है कि एक एक पृष्ठ में हम मीमांसा के निर्णयों को पायेंगे। इसके निरूपण के लिए एक स्वतन्त्र ग्रंथ की आवश्यकता है।

साहित्यिक महत्व

मीमांसा के··· क. ख. ग···से अपरिचित फिर भी दुराग्रही अनेक पंडितमानियों द्वारा मुझे यह सुनने का दुर्भाग्य मिला है कि "मीमांसा एक गया बीता विषय है और उसके विद्यार्थी को संस्कृत-साहित्य या संस्कृत-भाषा-संबन्धी ज्ञान नहीं होता"। उनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही मुझे यह कष्ट करना पड़ रहा है। कभी भी मीमांसा का दृष्टि-कोण एकतोमुख नहीं रहा-ऐसा कोई विषय नहीं छोड़ा गया-जिसकी ओर इसके विचारकों का ध्यान नहीं गया हो। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि रटने की अपेक्षा सदा ही मीमांसा ने विचार को प्रधानता दी है। केवल कुछ एक सूत्र या श्लोक रटकर कोई मीमांसक न बना है और

न बन हो सकता है। योग्यता और विचारशक्ति को ही यहाँ प्राधान्य मिला है—ऐसी स्थिति में इसके विद्यार्थी को भारवाहक नहीं कहा जा सकता। विशेषता तो यह है कि साहित्यिक दृष्टि से भी हम कभी नहीं पिछड़ पाये। साहित्य के रस, वृत्ति और अर्थ की महत्ता आदि अनिवार्य अंगों पर मीमांसकों ने अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थिर किये। रस के विषय में मीमांसा का जो दृष्टिकोण है-साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी उसका अध्ययन अनिवार्य रूप से करता है। भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद इसी विचार-धारा को देन है। वृत्तियों की जहां चर्चा उपस्थित होती है—वहां भी हम अपने निजी सिद्धान्त रखते हैं। अभिधा लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त भी हमने गौणी और तात्पर्या नाम की वृत्तियां स्वीकृत की हैं। उनकी स्थापना किसी आग्रह से नहीं, अपितु तर्क और आवश्यकता के आधार पर की गई हैं। अर्थ की अभिव्यक्ति के संबन्ध में साहित्य के उच्च विद्यार्थी अभिहितान्वयवाद और अन्वि-ताभिधानवाद के नाम से जिन सिद्धान्तों का अध्ययन उच्च कक्षाओं में करते हैं—वे सब इसी की देन हैं। साहित्य के कुवलयानन्द आदि उच्च-कोटि के ग्रंथों के ऐसे अनेक स्थल हैं— जिनका समझना या समझाना मीमांसा के ज्ञान के बिना असंभव है। अतः मीमांसा एक शुष्क दर्शन ही नहीं है — अपितु साहित्यिक दृष्टि से भी उसका एक निजी स्थान है और साहित्य के मुख्य मुख्य अंगों के विवेचन में उसकी महान् उपयोगिता है। यह सब जाने बिना इस गंभीर और पवित्र विचार—शास्त्र पर इधर उधर के आक्षेप करना महान् पाप है।

अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

इन सब के अतिरिक्त भी अन्य शास्त्रों के अध्ययन में मीमांसा की सहायता परम अपेक्षणीय है। वेदान्त के साथ उसका जो घनिष्ठ संबन्ध है और उसमें मीमांसा का जो उपयोग है—उसका पूर्ण विवरण गत कांड में किया जा चुका है। न्याय भी स्थान स्थान पर पूर्वपक्ष के रूप में इसे

संमानित कर इसकी महत्ता का द्योतन करता है। व्याकरण के सिद्धान्तों का सर्वोत्तम प्रतिपादक ग्रन्थ "वैयाकरण-भूषण-सार" तो मेरी दृष्टि से तब तक नहीं समझा समझाया जा सकता-जब तक उसमें प्रतिपादित मीमांसा के सिद्धान्तों की गहराई न जान ली जाये। इस प्रकार लोक, वेद और शास्त्र सभी दृष्टियों से इस दर्शन ने हमारे जीवन को इतनी अगाधता के साथ प्रभावित किया है कि चारों ओर इसकी उपयोगिता ही उपयोगिता के दर्शन होते हैं।

वैदिक मान्यता

ये सब तो हुईं लौकिक चर्चायें—इनके अतिरिक्त इस दर्शन का प्रादुर्भाव ही वैदिक मान्यता के आधार पर हुआ है। जहाँ मीमांसा के प्रारंभ करने का प्रश्न आता है-वहाँ सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हमें ऐसा करने के लिए वेद अनुमति दे रहा है। इस प्रश्न का व्यापक समाधान किया गया और इसके अनन्तर ही विषय पर लेखनी चलाई गई। इस विचार का सूक्ष्म रूप निम्न प्रकार से है—

वेद ने "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्य के द्वारा स्वाध्याय अध्ययन का विधान किया। यहाँ अध्ययन शब्द का अभिप्राय गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण है (अर्थात् कंठस्थ-मात्र कर लेना) या अर्थ ज्ञान ऐसा संशय होने पर रटने मात्र को ही अध्ययन नहीं माना गया, अपितु अर्थ ज्ञान ही को उसका लक्ष्य स्वीकार किया गया है। यदि हम वेद को केवल घोट लें और उसके अर्थ ज्ञान तक जाने का यत्न भी न करें तो यह बुरा ही नहीं, अपितु वेद में निहित इस तत्वज्ञान की राशि की अवहेलना या अपमान भी है। वेद पढ़कर उसका अर्थ ज्ञान नहीं रखने वाले व्यक्ति की तो वही स्थिति होती है-जो स्थिति बोझा ढोने वाले खंभे या किताबें ढोने वाले गधे की हो सकती है—

"स्थाणुरयं भारहारः यः किलाधीत्य वेदमर्थं न विजानाति" अतः अर्थज्ञान के सहित किये गये अध्ययन का ही वास्तविक महत्त्व है।

विधि-वाक्य का तो सदा यह कार्य होता है कि वह किसी अपूर्व वस्तु का विधान करे। यह अध्ययन तो लोक से ही प्राप्त हो गया था, फिर इसके विधान की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। ऐसा होते हुए भी "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि के द्वारा जो विधान किया गया—वह अध्ययन के साथ अर्थज्ञान की अनिवार्यता युक्त करने के लिए है। इसी को दूसरे शब्दों में नियम-विधि कहा जा सकता है—जिसका आकार कर्मकांड के क्षेत्र में यह होगा—"अर्थज्ञान पूर्वक किये हुए कर्म ही फलाधायक हो सकते हैं—अन्य नहीं"।

यह अर्थज्ञान ही वस्तुतः अध्ययन का दृष्ट फल है—जब हमें प्रत्यक्ष रूप से यह प्राप्त हो रहा है—तो किसी अदृष्ट फल के कल्पित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस प्रकार जब हम अर्थ-ज्ञान की अनिवार्यता को शिरोधार्य कर लेते हैं—तो हमें तत्काल विचार की शरण लेनी पड़ती है। क्योंकि विचार के बिना अर्थज्ञान असंभव है। यह विचार की आवश्यकता ही मीमांसा शास्त्र के प्रति प्रयोजक है और इसी माध्यम से उपर्युक्त परंपरा के अनुसार वेद इस शास्त्र को मान्यता ही नहीं देता, अपितु इसकी उत्पत्ति तक के लिये प्रेरणा प्रदान करता है।

यद्यपि अर्थज्ञान के लिए शब्दशास्त्र, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, संनिधि, विप्रयोग, आदि अनेक नियामक हैं—तथापि विचार-शास्त्र के अभाव में इन सब से काम चलाना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। हम एक ही उदाहरण द्वारा इस तथ्य को पुष्ट कर देना चाहते हैं—वेद ने एक प्रसंग में विधान किया—"अक्ताः शर्करा उपद्धाति" अर्थात् भीगी हुई शक्कर से हवन करे। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन शर्कराओं का अंजन (भिगोना) किसके द्वारा किया जाये—घी से, तैल से या अन्य किसी द्रव्य से। ऊपर बताये हुये सारे शास्त्रों का उपयोग कर देख लीजिये—इस प्रश्न का समाधान उनसे नहीं हो सकेगा। ऐसी दशा में मीमांसा की शरण लेने के सिवा कोई चारा ही नहीं रह

जाता। विचार-शास्त्र ने ऐसे प्रसंग में निर्णय दिया-"घी से अंजन करना चाहिये, क्योंकि "आयुर्वै घृतम्" (घी ही आयु है) इत्यादि प्रशस्ति-वाक्यों के द्वारा की गई इसकी प्रशंसायें उसके उपादान की प्रेरणा देती हैं।

इस संक्षिप्त निरूपण से हम विचार-शास्त्र की आवश्यकता और विशेषतः इसकी वेद—प्रयुक्तता के निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। वेदार्थ के ज्ञान में इसकी सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। उलझे हुए वाक्य के अर्थ समझाने में इसकी सशक्तता को देख कर ही तो इसे वाक्य-शास्त्र जैसे गौरव-पूर्ण पद से संमानित किया गया है। अतः जितनी इसकी लौकिक और शास्त्रीय उपयोगिताएँ हैं, उनसे भी कहीं अधिक वैदिक उपयोगिताएं या मान्यताएँ हैं। मीमांसा के प्रत्येक ग्रन्थ में इस वैदिक मान्यता का पूर्ण विश्लेषण है।

ज्ञान कांड

सामान्य-परिचय

इस ग्रन्थ के प्रथम काण्ड का लक्ष्य मीमांसा की सामान्य रूपरेखा रखने की दृष्टि से उसकी संपूर्ण विचार-धाराओं, उनके प्रवर्तकों एवं अन्य दर्शनों के साथ उसके सबन्ध व उपयोगिताओं की चर्चा करनी थी। ये सब चर्चायें मौलिक और प्रायः स्वतन्त्र थीं। उन सब को हम एक दिशा में प्रस्तुत किये गये विचार कह सकते हैं—जिनमें मीमांसा के उदय से लेकर अब तक की गणनीय घटनाओं पर समालोचनात्मक प्रणाली द्वारा प्रकाश डाला गया है—इसी लिए उस भाग को "विचार कांड" के नाम से संबोधित किया गया। जैसा कि गत कांड में लिखा जा चुका है कि मीमांसा एक दर्शन है। कर्म-कांड के सिद्धांतों के प्रतिपादन के साथ साथ दार्शनिकता की दृष्टि से भी हम उसे किसी भी रूप में पिछड़ा हुआ नहीं पाते। उसकी इस दार्शनिकता की पुष्टि के लिए सामान्य रूप से विचार-कांड में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अब इसके अग्रिम भाग ज्ञान-कांड के द्वारा हम इसकी उसी दार्शनिकता को प्रत्यक्ष रूप में दिखाना चाहते हैं। वह एक प्रकार का सिद्धान्त-निरूपण भाग था, तो यह उसका उदाहरणों द्वारा प्रमाणी-करण है। इस स्तम्भ के द्वारा मीमांसा के मौलिक मन्तव्यों का प्रदर्शन कर हम अपनी इस घोषणा को क्रियात्मक रूप में दिखाना चाहते हैं कि "मीमांसा एक स्वतन्त्र दर्शन है और वह दार्शनिकत्व की दृष्टि से भी सर्वथा संपन्न है"। इसी उद्देश्य से ज्ञानकांड की रचना की जा रही है—इसके द्वारा शब्द, अर्थ, पद, पदार्थ, वाक्यार्थ, ईश्वर, वेद, आत्मा, प्रमाण आदि संपूर्ण विषयों पर मीमांसा के मंतव्यों का संकलन-मात्र ही प्रस्तुत नहीं किया जायेगा, अपितु अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों की अपेक्षा उनकी आवश्यकता, उपयोगिता और महत्ता का भी प्रकाशन व स्थापना होगी। ये सब मेरे व्यक्तिगत विचार न हो कर पूरे मीमांसा-शास्त्र पर आधारित विषय हैं—इसीलिए इन्हें विचार कांड में स्थान नहीं मिल सका। एक प्रकार से यह मीमांसा के ज्ञान-नवनीत की निधि है—जिसे संपूर्ण शास्त्र

का मंथन कर निकाला गया है-इसीलिए इस भंडार को "ज्ञान-कांड" जैसी गंभीर आख्या से समाख्यात किया गया है। इसमें स्वतंत्र स्वतंत्र स्तंभों के रूप में सर्वथा मौलिक दृष्टि से मीमांसा के मंतव्यों की प्रस्तावना की जायेगी। मेरा विश्वास है कि इससे मीमांसा की सामान्य रूप रेखा (विचार-कांड के द्वारा) के जानने के अनन्तर किसी भी विचारशील पाठक में स्वतः समुदित सिद्धान्त-ज्ञान-पिपासा की शान्ति होगी और वह तृप्ति का अनुभव करेगा।

१-ईश्वर

संस्कृत की ऐश्वर्यार्थक ईश धातु से "ईष्टे इति ईश्वरः" इस व्युत्पत्ति में वरच्[१] प्रत्यय होने पर "ईश्वर" शब्द सिद्ध होता है-जिससे सर्वतः समर्थ सर्वतंत्र-स्वतंत्र सत्ता का आभास होता है। पौराणिक साहित्य में यही भगवान् शब्द से अभिप्रेत है-जिसमें संपूर्ण ऐश्वर्य,[२] धर्म, यश, श्री, (लक्ष्मी, शोभा) ज्ञान और वैराग्य इन सभी का पूर्ण रूप से समावेश है। लोक ज्ञान, ऐश्वर्य व प्रभुत्व की इस पराकाष्ठामयी सत्ता से अत्यधिक प्रभावित है और ब्रह्म आदि की अपेक्षा यही जन-साधारण के अधिक संपर्क में है। जनता इसे अपनी भावनाओं के अनुसार अनेक रूपों में देखती है-तथा इसे स्थावर एवं जंगम जगत् का सर्वाधिकारी व भाग्य-विधाता मानती हुई अपनी विपन्न अवस्था में इसके समक्ष आत्मसमर्पण कर शान्ति की सांस लेती है। व्यास के अष्टादश पुराण इसी के नानारूपों के द्योतक हैं—भिन्न भिन्न दर्शनों ने भी इसका माहात्म्य अनेक प्रकारों से उपवर्णित किया है।

वेदान्त के अनुसार "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इस मौलिक सिद्धान्त के अनुरूप ब्रह्म ही सारी सृष्टि का संचालन करता है। उसकी तीन मूल प्रकृतियां या मायायें हैं। वही जब शुद्ध सत्त्व-प्रधान-माया में प्रतिबिंबित होता है, तो ईश्वर, राजप्रधान माया में प्रतिबिम्बित होता है, तब—जीव एवं तमः प्रधान माया में प्रतिबिम्बित होकर जड-

---

१—स्थेशभासपिस्कसो वरच् (पाणिनि)

२—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

जगत् का स्वरूप-धारण करता है। जिस प्रकार शुद्ध और स्वच्छ दर्पण में हम अपने आकार को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, अंधे में नहीं। उसी प्रकार प्रथम आवरण की शुद्धता के कारण उसमें ब्रह्म की ज्योति उग्र रूप से दिखने लगती है-इसी लिए वह अन्य सृष्टि की अपेक्षा अलौकिक शक्तिशाली हो कर ईश्वर का रूप धारण कर लेती है। संक्षेप में यह ईश्वर नाम वाला महापुरुष माया से अवच्छिन्न ब्रह्म है- जो संसार का निमित्त व उपादान दोनों ही कारण है। यह सर्वतः स्वतन्त्र व निरपेक्ष है, अत एव विभु है। सृष्टि की रचना, स्थिति व प्रलय उसका लीला-विलास-मात्र है।

नैयायिक ईश्वर को संसार का निमित्त कारण-मात्र मानते हैं। संसार एक कार्य है-वह बिना कर्ता के नहीं हो सकता, इसलिए कर्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना अनिवार्य है। जिस प्रकार बुनकर अपने बुनने के औजार व तन्तुओं से भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र बुनता है- और वह उस वस्त्र रूप कार्य के प्रति कर्ता होने के कारण निमित्त कारण है-तथा उसके ओजार आदि उपादान कारण हैं-उसी प्रकार संसार रूप कार्य के प्रति ईश्वर कर्ता के रूप में निमित्त कारण है और परमाणु आदि उपादान कारण हैं। ईश्वर इन उपादान कारणों की सहायता से सृष्टि की रचना करता है। न्याय का यह सिद्धान्त ईश्वर की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत्ता पर आघात पहुँचाता है- भला उपादान आदि कारणों के आधार पर अवलंबित रहने वाला कर्ता (लौकिक कर्ता से अविशिष्ट) कैसे प्रभु या विभु कहला सकता है ?

वैशेषिक दर्शन का ईश्वर के विषय में कोई स्वतंत्र सिद्धान्त नहीं है। सांख्य निरीश्वरवादी है तथा वह ईश्वर की असिद्धि स्वीकार करता है। योग और सांख्य के संपूर्ण पदार्थों में अंतर न[१] होते हुए भी योग-दर्शन ईश्वर पदार्थ की सत्ता विशेष रूप से स्वीकार करता है।

१—सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः (गीता)

योग के सिद्धान्त में ईश्वर एक अलौकिक महापुरुष है—जो क्लेश, कर्म-विपाकों [1] तथा आशय से सर्वथा पृथक् हैं। वह नित्य है और प्रकृति पर उसका पूर्ण प्रभुत्व है। उसकी भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है और उसकी प्रसन्नता संपूर्ण विघ्नों के शमन के साथ साथ हमें फल की ओर उन्मुख करती है।

मीमांसा-दर्शन की इस सबन्ध में विचित्र स्थिति है। वस्तुतः यदि निष्पक्ष समीक्षा की दृष्टि से देखा जाये—तो हमें यह कटु सत्य भी कहना पड़ेगा कि मीमांसा का ईश्वर के विषय में कोई निश्चित मत ही नहीं है। न हम यही मान सकते हैं कि मीमांसा ने ईश्वर का खंडन किया है! व न हम यही मान सकते हैं कि मीमांसकों के द्वारा इसकी सत्ता को स्वीकार करने के लिए कोई डिंडिम घोष ही किया गया हो। इस विचित्र परिस्थिति में से गुजरते हुए सहसा इस महत्वपूर्ण विषय पर कुछ कह देना केवल दुस्साहस ही नहीं, पर अनौचित्य-पूर्ण भी है।

ईश्वर के सम्बन्ध में वस्तुतः हमारे आचार्यों की नीति सर्वथा तटस्थ और उदासीन सी रही हैं। इसके कई एक मौलिक कारण तो हैं ही हैं—पर आगे आकर तो यह एक प्रवाह सा ही बन गया है। यह अवश्य है कि इस तटस्थता का बहुत से लोगों ने दुरुपयोग भी किया है। कई एक आलोचकों ने तो मीमांसा को इस प्रकार के अवलंब पर अनीश्वरवादी सिद्ध करते हुए नास्तिक-दर्शन तक कह डाला है। खैर, यह नास्तिक दर्शन है या आस्तिकों का शिरोमणि—इसका तो निर्णय हम विचार-कांड में दे चुके हैं—यहाँ तो केवल दुरुपयोग के साहस का परिचय देने के लिए इसे प्रस्तुत किया गया है। इस प्रश्न पर मौन रहने के अलावा कतिपय आधार और भी ऐसे हैं—जो निरीश्वरवादिता की प्रतिपत्ति में सहायक होते हैं। नवमाध्याय के देवताधिकरण-प्रसंग

१—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट ईश्वरः (योग-सूत्र)

में देवताओं की स्वरूप-चर्चा उपस्थित होती है और वहां पर सिद्धान्त-रूप से मीमांसा-दर्शन उनकी विग्रहादिमत्ता का निराकरण करता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मीमांसा ने देवताओं का खंडन ही कर दिया हो-अपितु उनकी व्यापक प्रभुता के लिए उनकी शरीर-धारिता की व्यावृत्ति की। हमने तो कर्म के स्वरूप की निष्पत्ति के लिए देवता को अनिवार्य अंग घोषित किया। इतना होने पर भी पुराणों द्वारा प्रसाधित विग्रहादिमत्ता का जब उन्मूलन सिद्धान्त हो गया-तो लोगों ने इसे देवताओं का ही खंडन समझकर परंपरा से ईश्वर-निरास के साथ संबन्धित कर दिया।

पर वस्तुतः स्थिति ऐसी नहीं है। हम यह मानते हैं कि इस दिशा में हमारे मूल आचार्यों ने सर्वथा तटस्थता रखी, पर उसका अभिप्राय ईश्वर का खंडन नहीं, अपितु उसके कई स्वतंत्र और मौलिक कारण हैं। सबसे प्रथम बात तो यही है कि विचारशास्त्रियों ने अपना जो कार्य-क्रम घोषित किया या मार्ग निर्धारित किया-वह स्वभावतः ही इतना साफ सुथरा बन गया कि उसमें किसी अन्य पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता ही नहीं रही। यह एक प्रवाह सा बन गया और ज्यों ज्यों यह स्रोत उसी रूप में बेरोक टोक बहता गया-दिन दिन ईश्वर हमें अनावश्यक सा प्रतीत होने लगा या वह हमारी परंपरा से विच्छिन्न हो गया। सबसे बड़ी आवश्यकता-जो इस अलौकिक शक्ति की हो सकती है-वह सृष्टि के कर्ता के स्थान पर, लेकिन हमारे यहाँ तो वह स्थान रिक्त नहीं हो पाया और न उसकी कभी भी हमें कमी की ही अनुभूति हुई। सृष्टि को हमने अनादि और अनन्त माना-परिणामतः उसके कर्ता की कल्पना ही नहीं हो पाती। दूसरा आधार-जो ईश्वर की सत्ता में सहायक हो सकता था-वह था—वेद के कर्ता के रूप में इसकी मान्यता। पर हमने तो वेद को किसी की कृति ही अंगीकार नहीं किया-जिसके कर्ता के रूप में किसी का भी उपदेश किया जा सकता हो। तीसरा अवलंब जो इसकी मान्यता का हो सकता है-वह फल के नियन्ता या दाता के

रूप में इसकी स्वीकृति का है-जैसा कि अन्य दर्शन मानते हैं। पर हमारे यहां तो कर्म और फल की शृंखला अपूर्व के माध्यम से इस प्रकार शृंखलित कर दी गई कि उसमें न किसी पृथक् व्यक्ति की नियन्ता के रूप में आवश्यकता है और न दाता के रूप में। शास्त्र से विहित विधान के अनुसार विधि-पूर्वक जब हम कर्म का पूर्ण अनुष्ठान करते हैं-तो भला उसका फल वह कर्म ही हमें क्यों नहीं देगा। वेद-विहित प्रकार से अनुष्ठित कर्म ही स्वयं फलदाता है और उसके लिए किसी की कल्पना किसी भी स्वरूप में करना एक गौरव-मात्र है। घट के पैदा होने के संपूर्ण साधनों को जुटा कर जब एक कुम्भकार उसकी उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार अनवरत करता हो जाता है-तो फिर घड़ा स्वयं ही पैदा हो जायेगा। तन्तुओं का विधि-विधान के अनुसार संयोग करते करते पट स्वयं उत्पन्न हो जायगा-फिर भला इस स्वाभाविक बात के लिए किसी गौरव-पूर्ण वस्तु की कल्पना क्यों की जाये? इस प्रकार सभी विधानों द्वारा हमारे सिद्धान्तों ने-किसी के खंडन मंडन के उद्देश्य से नहीं, अपितु स्वभावतः ही-एक ऐसा दिव्य मार्ग बना दिया-जिसके सामने ईश्वर को न कोई आवश्यकता अनुभूत हुई और न उसका कोई प्रसंग ही आया। यह इस विषय पर हमारे आचार्यों की तटस्थता का मौलिक कारण है-जिसका लक्ष्य या अभिप्राय ईश्वर का निराकरण नहीं है।

समीक्षा की दृष्टि से हम उन दार्शनिक परंपराओं को भी-जिनने कि डिण्डिम घोष के साथ ईश्वर को अंगीकार किया है-जब देखते हैं—उनका ईश्वर भी स्वयं ईश्वर नहीं दिखाई देता। वह उसे प्रभु कहते हैं-पर उसकी स्वतन्त्र प्रभुता नहीं मानते। वह [1] कर्मापेक्ष है। जो जन जैसा कर्म करता है-ईश्वर उस पर वैसा प्रकार का अनुग्रह करता है।

१—तत्कारित्वादहेतुः (न्याय-दर्शन)

वार्तिक—"न ब्रूमः कर्माद्यनपेक्ष ईश्वरः कारणमिति, अपितु पुरुषकर्म ईश्वरोऽनुगृह्णाति।

यदि वह बिना क े के भी फल देने लग जाये, तो उसे अन्याय-कर्ता तक भी कहा जा सकता है। सांख्य तो प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त इसकी सत्ता ही को सहन नहीं करता। योग भी इसे परम साध्य नहीं मानता। वेदान्त का तो परम-प्राप्य ब्रह्म है—जो सर्वथा निगु ण है। ईश्वर के लिए तो उसमें इतना ऊंचा स्थान भी नहीं है—आखिर वह भी ब्रह्म की माया ही का एक भाग है—चाहे वह कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो? यह दशा है—ईश्वर के नाम को ढूँडो पीटने वालों की। फिर यदि मीमांसा-दर्शन अपने स्वाभाविक प्रवाह में थोड़ी सी उदासीनता धारण कर लेता है—तो मेरे विचार से तो वह कोई अन्याय नहीं करता।

यह तो हुआ एक स्पष्टीकरण–इसके पश्चात् हमें अब इस विषय पर आंतरिक रूप से विचार करना होगा। यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारे कुछ एक आचार्य इस विषय पर जान बूझ कर भी चुप रहे हैं—कुछ ने जान बूझ कर इसकी अवहेलना भी की है। मैक्समूलर ने इस दर्शन को निरीश्वर बताकर इसके आचार्यों की स्वतन्त्र समालोचना-शक्ति का परिचय दिया है। उसने कहा—यह भारतीय दर्शन के विद्वानों का ही सामर्थ्य है कि वे ईश्वर जैसे सर्व संमत-सिद्धान्त की भी आलोचना या खंडन कर सकते हैं। यह एक प्रकार से विचार-स्वातन्त्र्य का ज्वलन्त प्रतीक है। शबर स्वामी तक को इसके निरुपण का कोई अवसर ही नहीं आया—उनके शब्द–नित्यत्व-वाद–प्रकरण से कुछ आक्षेप अवश्य किये जाते हैं। आचार्य कुमारिल ने अपने बहुत लंबे चौड़े प्रकरण द्वारा सर्वज्ञ का खंडन कर अवश्य इस विषय की ओर कुछ संकेत दिया। यह सर्वज्ञ ईश्वर के नाम से तो नहीं कहा गया—पर प्रायः इसका स्वरूप वैसा ही है। कुमारिल के इस प्रसंग से स्पष्ट रूप में अभिधा वृत्ति से चाहे न हो, पर लक्षणा की सहायता से उसके ईश्वर-निरासका आभास अवश्य मिल जाता है। ईश्वर जैसी शक्ति के संबन्ध में सहसा कुछ कहने का साहस लोगों ने कुछ नहीं

किया—पर चाहे यह कटु सत्य ही क्यों न हो—मुझे तो यह स्पष्ट घोषित करना पड़ेगा कि हमारे आचार्यों द्वारा इस विषय में धारण किया हुआ मौन यही प्रमाणित करता है कि उन्हें ईश्वर के अंगीकार करने की आवश्यकता नहीं थी। कुमारिल द्वारा किया गया सर्वज्ञ का खंडन इसका साक्षी है। यद्यपि हम इस रहस्य से परिचित हैं कि कुमारिल ने सर्वज्ञ का जो खंडन किया—वह एक विशेष लक्ष्य को लेकर ही। यदि वह किसी भी दृष्टि से सर्वज्ञ नाम की सत्ता को किसी भी रूप में स्वीकृत कर लेता, तो उसे इतर दर्शनों या विचारधाराओं द्वारा सिद्ध किये जाने वाले सर्वज्ञों को भी मान्यता देनी होती। उदाहरण के लिए मान लीजिये—कुमारिल ने लोकोत्तर सत्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया—उसके लिए तर्क उपस्थित किये और उसकी अलौकिक विभुता का भी प्रतिपादन किया। ठीक इसी तरह इसी रूप में जब बौद्धों ने बुद्ध को उसके समक्ष प्रस्तुत किया—तो फिर वह उसका खंडन नहीं कर सकता। जब वह स्वयं इस प्रकार की एक शक्ति को स्वीकार करता है तो दूसरी के लिये इन्कार नहीं कर सकता। यह एक व्यावहारिक संकट था—जिससे बचने के लिए कुमारिल ने उसके मूल ही का उच्छेद कर दिया है। अतः उसके द्वारा किया हुआ सर्वज्ञ का खंडन बौद्धों को चुप करने के लिए है—जिससे वे बुद्ध में हमारे तर्कों के सहारे भगवत्ता प्रमाणित नहीं कर सकें। इस सत्ता को सर्वज्ञ के नाम से जो उसने अभिहित किया, उसका भी एक कारण है। बुद्ध को उसके अनुयायियों ने सर्वज्ञ के[1] नाम से भी पूजित किया है। यह है—इस विषय में कुमारिल का दृष्टिकोण और उसकी प्रक्रिया व तटस्थता का कारण। इसका अभिप्राय स्पष्ट है—और मैं तो यह स्वीकार करते हुए भी नहीं हिचकिचाता कि कुमारिल को ईश्वर की सत्ता शिरोधार्य नहीं थी। फिर भी उसके अनुयायियों ने कुमारिल की इस आंशिक तटस्थता के अनेक अर्थ लगाये। अधिकतर तो अपने श्रद्धेय आचार्य की तरह ही तटस्थ से रहे और कुछ ने इसकी

१—सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो ……… (अमरकोश)

सर्वसंमत स्वीकृति के समक्ष अपना मस्तक झुका दिया। प्रायः सब ही ने अपने ग्रन्थों के मंगलाचरणों में अनेक रूपों में इसकी वन्दना की। उनमें यह साहस नहीं हो सका कि वे इस अलौकिक शक्ति का निराकरण कर सकते—यद्यपि यह कोई बड़ी बात नहीं थी। खंडदेव जैसे आचार्यों ने तो आगे आकर इसकी सत्ता को स्वीकार करने के संबन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट तक कर दिया। भट्ट के इन परंपरा-पालकों की सी ही स्थिति प्रभाकर और उसके अनुयायियों की है। प्रभाकर स्वयं इस संबन्ध में सर्वथा मौन है—उसका पट्टशिष्य शालिक-नाथ तो इसकी चर्चा तक नहीं करता। नन्दीश्वर ने अपने प्रभाकर-विजय में ईश्वर का खंडन करने के उद्देश्य से एक स्वतंन्त्र प्रकरण लिखा—किन्तु उसमें उसने एक विशेषण लगाया—आनुमानिकेश्वर-निरास-अर्थात् उसने ईश्वर की आनुमानिक सत्ता मात्र का निरास किया—पूर्ण सत्ता का नहीं। इस प्रकार इन दोनों ही परंपराओं में हम ईश्वर के संबन्ध में किसी एक निश्चय का दर्शन नहीं कर पाते। न स्पष्ट रूप से इसका खंडन ही किया जा सका और न मंडन ही। फिर भी ईश्वर के संबन्ध में बड़े बड़े आचार्यों द्वारा अपनाई गई उदासीनता एक रहस्य है—जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। इसके अति-रिक्त इस विषय पर कुछ कहना हठ होगा।

कुछ एक विद्वान् इस वास्तविक स्थिति से सर्वथा परिचित होते हुए भी इधर उधर की खेंचातानी से ईश्वर को इस विचारधारा के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयास करते हैं-केवल इसलिए कि यदि मीमांसा के द्वारा इसकी स्वीकृति नहीं दिखाई गई-तो मीमांसा में एक बहुत बड़ी अपूर्णता आ जायगी। कम से कम मैं तो इस सिद्धान्त या अभिप्राय से सहमत नहीं हूँ। मेरे मंतव्य में ईश्वर को न मानने पर भी मीमांसा के महत्त्व में कोई कमी नहीं आ जाती व न इससे कोई अपूर्णता ही होती है। अत एव किन्हीं भी अस्वाभाविक तर्कों द्वारा ईश्वर को प्रमाणित करने की न मैं आवश्यकता ही समझता हूँ और न उसके अभाव में

इस दर्शन का महत्त्व ही घटा हुआ पाता हूँ। यह तो एक प्रकार से हमारे महत्व का सूचक हो सकता है कि हमने किसी का अंध अनुकरण नहीं किया और बड़े से बड़ा मूल्य चुका कर भी अपने विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा की।

२ वेद का अपौरुषेयत्व

वेद हमारे ज्ञान-विज्ञान का आदिम स्रोत है—और वही विश्व का सर्वसंमत आदि-साहित्य भी है-अत एव इसकी महत्ता के विषय में—जो कि सर्वविदित है—कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। आस्तिक-दर्शनों में किसी को भी वेद के प्रामाण्य में संशय नहीं-फिर भी इसकी रचना के संबन्ध में वे अनेक मतभेद रखते हैं। न्याय-दर्शन मानता है कि वेद पौरुषेय अर्थात् पुरुष की रचना है और वह पुरुष ईश्वर है। वे अपने अनुमान रूपी अस्त्र से उसकी इस पौरुषेयता को प्रमाणित भी करते हैं। उनके अनुमान का प्रकार यह है-"वेद पौरुषेय है-वाक्य होने के कारण, महा-भारत आदि की तरह"। वेदान्ती इसको पौरुषेय तो नहीं मानते-पर उनकी अपौरुषेयता मीमांसा की अपेक्षा विचित्र है। उनके यहाँ पौरुषेय का अर्थ है-किसी पुरुष के द्वारा दूसरे प्रमाणों की सहायता से बनाया हुआ। वेद इस प्रकार का नहीं है—अत एव अपौरुषेय है। किन्हीं अन्य प्रमाणों की सहायता लेकर उसकी रचना नहीं की गई। इतना होने पर भी वेदान्ती इसके साथ ईश्वर का रचयिता के रूप में संबन्ध स्वीकार करते हैं—यही उनका मीमांसा के साथ वैमत्य है।

नास्तिक दर्शनों का तो कहना ही क्या-उनकी तो इस संबन्ध में कही गई एक एक उक्ति या तर्क विचार से नहीं—अपितु हास्य से परिपूर्ण हैं। वे जानते थे कि जब तक भले या बुरे साधनों द्वारा इसका खंडन नहीं कर दिया जायेगा—तब तक उनकी स्वरूप-रक्षा नहीं हो सकेगी। इसीलिए उनने इसे निरर्थक वाग्जाल कह कर इसका अप्रामाण्य घोषित किया। उनका कहना है कि यह भिन्न भिन्न पुरुषों की कृति है। वेद भागों की "काठकं, कौथुमं, कालापकम्-आदि जो विशेष आख्याएँ हैं-वे कर्ता ही के आधार पर हैं—अर्थात् कंठ, कलाप आदि आचार्यों ने उन भागों

की रचनाएँ कीं। चार्वाक ने तो इसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-राशि और कर्म-जाल को ब्राह्मणों के पेट[1] भरने का पिटारा तक कहा। मीमांसकों को वेद के संबन्ध में फैली हुई या फैलाई जाने वाली इन सब धारणाओं का खंडन करना पड़ा—और यह उन्हीं का सामर्थ्य था कि वे इस भयंकर काल में वेद के निरपेक्ष प्रामाण्य की स्थापना और रक्षा कर सके।

उनने कहा—वेद अपौरुषेय है। यदि इसका रचयिता कोई पुरुष विशेष होता, तो भला यह कब और कैसे हो सकता था कि इतनी बृहत् ज्ञान-राशि के निर्माता पुरुष-विशेष का नाम तक हमारी जाति को स्मरण नहीं रहता। केवल वह वाङ्मय है—इसीलिए अनुमान के आश्रय से ईश्वर, हिरण्यगर्भ या प्रजापति का कर्ता के रूप में संबन्ध मान लिया जाये—यह कोई आवश्यक नहीं है। सभी अनुमान सत्य भी नहीं होते, चाहे कितने ही हेतु उनके साथ लगा दिये जायें। यदि सब अनुमान सच्चे हैं—तो "अपनी स्त्री से संभोग नहीं करना चाहिए—स्त्री होने के कारण, दूसरे की स्त्री की तरह" ऐसे अनुमान भी प्रमाणिक होने चाहिएँ। अनुमानों के इन दोषों को पकड़ने के लिए ही तो हेत्वाभास माने गये हैं। ये हेतु जहां दूषित होते हैं—वे अनुमान प्रामाणिक नहीं माने जाते। वेद का पौरुषेयता की सिद्धि के लिए भी जो अनुमान व्यवहृत किया गया है—उसकी यही स्थिति है और वह उपाधि-ग्रस्त है। साध्य में रहते हुए भी जो साधन में नहीं रहता—उसे उपाधि कहा जाता है। यहां पर भी जन्यमानान्तरमूलकत्व और स्मर्यमाणकर्तृकत्व ये दो उपाधियां हैं—जो पौरुषेय वाक्य में रहते हुए भी वेद-वाक्य में नहीं रहतीं। अर्थात् जो पौरुषेय होते हैं—वे दूसरे प्रमाणों पर अवलंबित रहते हैं तथा उनके कर्ता का भी स्मरण होता है—पर ये दोनों ही बातें यहां नहीं हैं—अतएव यह अनुमान दोष-ग्रस्त होने के कारण वेद की पौरुषेयता सिद्ध करने में असमर्थ है।

१—बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृ-निर्मिता।

रही बात नास्तिक-मंतव्यों की-उनका कठ और कलाप को कर्ता के रूप में प्रस्तुत करना संगत नहीं है—इन प्रकरणों की जो आख्यायें पड़ी हैं—वे रचनाओं के आधार पर नहीं, किन्तु उनके द्वारा किये गये प्रवचनों के कारण हैं। उतने भाग का सर्वोत्तम या असाधारण अध्ययन कठ या कलापने किया—इसीलिए "कठेन प्रोक्तम्" काठकम्...(कठने प्रवचन किया) इस पाणिनि के प्रतिपादनानुसार ये नामकरण प्रवचन-निमित्तक हैं। भगवान् पाणिनि का 'तेन प्रोक्तम्" यह शासन इसका साक्षी है। यही स्थिति "बबरः प्रावाहणिरकामयत, वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत, गावो वा" आदि वाक्यों की है। नास्तिक समालोचक प्रावाहणि को किसी पुरुष-विशेष का वाचक मान कर वेद को पुरुष-संबद्ध अतएव; अनित्य व प्रावाहणि से पूर्व की रचना सिद्ध करते हैं—पर प्रावाहणि का अर्थ यहां पुरुष-विशेष से नहीं, अपितु प्रवहण-कर्ता है। वनस्पतियों ने सत्र किया, सर्पों ने सत्र किया—इन वाक्यों को नास्तिक उन्मत्त प्रलाप कह कर भी वेद के प्रामाण्य पर आघात पहुँचाते हैं—पर यह सब उनकी भ्रान्त धारणाओं का निदर्शन है। ये सब अर्थवाद-वाक्य हैं और पुरुषों में उत्साह या प्रेरणाओं का संचार इनका उद्देश्य है—अर्थात् जबकि वनस्पतियों और सर्पों तक ने ऐसा किया—तो मानव को तो करना ही चाहिए। इस प्रकार की भ्रान्त धारणायें मीमांसकों के समक्ष नहीं ठहर सकीं।

उनने तीव्र योग्यता और वैदुष्य के साथ इन धारणाओं का खंडन किया। वेद को अपौरुषेय सिद्ध कर उनने यह बताया कि किसी भी प्रकार से पुरुष और उसमें रहने वाले दोषों का समावेश इसमें नहीं हो सकता। वस्तुतः इतने अक्षय्य ज्ञान-राशि की रचना किसी पुरुष विशेष के द्वारा संभव भी नहीं। निम्न-लिखित अनुमान भी-जो उपयुक्त अनुमान की तरह ग्रस्त नहीं है—वेद की अपौरुषेयता ही का साधक है—जिसका यह स्वरूप है। "वेद का अध्ययन गुरु-अध्ययन-

४—आत्मा

शब्द-शास्त्र के अनुसार "अत सातत्यगमने" इस धातु से "आत्मा" शब्द की सिद्धि होती है-जिससे "अतति सर्वं सततं व्याप्नोति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वव्यापक अर्थ निकलता है। विष्णु-पुराण[१] "भी" जो प्राप्त करता है, जो ग्रहण करता है, जिसमें सब विषयों के समाने का सामर्थ्य है और जो सदा रहने वाला है—उसको "आत्मा" कहकर पुकारता है। आत्मा के इस वैभव के समक्ष संपूर्ण विश्व और उसकी ज्ञानराशियां नत-मस्तक हैं। भिन्न भिन्न विचार-शास्त्रियों ने इस महत्वसंपन्न सत्ता की अनेक रूपों में उपासनायें की हैं और उनने भिन्न भिन्न रूपों में इसके दर्शन कर अपने अपने स्वतन्त्र मत स्थिर किये हैं।

शरीरात्मवाद

आत्मा का स्वरूप शब्दों एवं उनसे गुंफित शास्त्रों तक की सीमा से बाहर है। वह तो एक अनुभूति का विषय है और सबकी अनुभूति सदा एक सी ही हो, यह भी कोई नियम नहीं है। जिस प्रकार अनेक अंधे आदमी हाथी को जानने की दृष्टि से दौड़ते हुए जो हाथी का अंग उनके हाथ में आता है—उसे ही हाथी समझने लगते हैं—वही स्थिति आत्म-ज्ञान की ओर प्रवृत्त होने वालों की है। जिसकी जितनी पहुँच होती है, वह वहीं तक पहुँच पाता है और उसको ही अपने संमत सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत भी कर देता है। इसमें उसका कोई दोष भी नहीं है। इस प्रकार के स्वरूप-निर्देशकों में चार्वाक का स्थान पहला है, क्योंकि वह आत्मा को स्थूल रूप में देख सका है। उसके आगे आने वाले

१—यच्चाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावः, स "आत्मा" इति कथ्यते॥

साधकों ने इस दिशा में अतिशय प्रगति की और आत्मा के सूक्ष्मतम स्वरूप का अनुभव किया—जिसकी चार्वाक कल्पना भी नहीं कर सका। उसने कहा—शरीर ही आत्मा है—इससे अतिरिक्त आत्मा को स्वीकृत नहीं किया जा सकता। क्योंकि चैतन्य आत्मा का धर्म है और वह चैतन्य शरीर ही में रहता है। शरीर के बिना चैतन्य रह भी नहीं सकता। हम देखते हैं कि जब तक शरीर है, तभी तक प्राण-धारण-क्रिया हो सकती है। लोक में भी ऐसा व्यवहार होता है—'आज उसका देहान्त हो गया, मैं स्थूल हूँ" आदि यह। स्थूलत्व, कृशत्व आदि व्यवहार शरीर ही को लेकर है और उसी के साथ "मैं" शब्द का प्रयोग है। जिस प्रकार पानी, गुड़, यव व बंबूल की छाल में पृथक् २ रूप से मादक शक्ति नहीं रहती, किन्तु इन्हें संयुक्त कर भांड में डालने से स्वतः मादक-शक्ति मदिरा के रूप में आ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज वायु में पृथक् पृथक् रूप से अविद्यमान चैतन्य भी संयुक्त अथवा इनके संघात रूप में अवश्य प्रतिभासमान होगा। यही चैतन्य आत्मा है। इसी प्रकार की कल्पित युक्तियों के आधार पर इससे कुछ आगे बढ़ने वाले विचारक इन्द्रियों को आत्मा सिद्ध करते हैं।

शरीर और इन्द्रियों की यह आत्मा सर्वथा अनुपपन्न है। शरीर आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि प्राणन या चैतन्य आदि इसके गुण नहीं हैं। "काय" द्रव्य में रहने वाले जो विशेष गुण होते हैं, उनके अत्यन्त विरुद्ध गुण के आने अथवा उस द्रव्य के नष्ट हो जाने पर वे भी नष्ट होजाते हैं" यह एक सामान्य नियम है। इसके अनुसार यदि प्राणन आदि शरीररूपी द्रव्य ही के विशेष गुण होते, तो वे भी उसकी विद्यमानता में शाश्वत रूप से विद्यमान रहते। किन्तु हम इसके विपरीत देखते हैं—मृत अवस्था में शरीर यों का यों विद्यमान रहता है, पर प्राणन आदि गुण नहीं रहते। अतः प्राणन आदि को शरीर का गुण नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त "सभी विशेष गुण कारण में रहते हुए ही उसके द्वारा कार्य-द्रव्य के गुण बनते हैं" यह

भी एक सामान्य बात है। ऐसी स्थिति में जब शरीररूपी द्रव्य के कारण-भूत पार्थिव परमाणुओं में चैतन्य है ही नहीं, तो फिर वह संघात अवस्था में कहां से आ जायेगा। मदिरा की बात दूसरी है। अतः शरीर-गुण के रूप में चैतन्य नहीं माना जा सकता, अपितु वह भी उससे अतिरिक्त है। शरीर के साथ "मैं" यह व्यवहार तो आत्मा के सान्निध्य के कारण है। "यह मेरा शरीर है" आदि व्यक्ति की बुद्धि शरीर के अतिरिक्त आत्मा को लौकिक रूप में प्रमाणित करती है। सहस्त्रों वैदिक वाक्य शरीर से अतिरिक्त आत्मा के प्रतिपादक हैं—जिनकी गणना तक करना दुर्भर है। इन्द्रियों के अतिरिक्त भी "जिस मैंने रूप को देखा था—वह मैं स्पर्श कर रहा हूं" आदि व्यवहार एक ज्ञाता के रूप में आत्मा को मान्यता दे रहे हैं। "यह मेरी ऐसी आंख[1] है, मेरा मन भ्रान्त है" आदि इन्द्रियों की भिन्नता का व्यवहार भी दिखाई देता है। इसलिए इन्द्रियात्मवाद भी स्वतः ही खंडित हो जाता है।

विज्ञानात्मवा

इन दोनों से आगे बढ़कर बौद्ध-दर्शन कुछ सूक्ष्म सिद्धान्त इस प्रसंग में प्रस्तुत करता है। उसका कहना है—"रूप, संज्ञा, वेदना सस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। भूत एवं भौतिक पदार्थ को रूप, किसी वस्तु के साक्षात्कार को संज्ञा, तज्जन्य सुख, दुःख एवं उदासीनता के भाव को वेदना, अतीत अनुभव से उत्पाद्य और स्मृति के कारण-भूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को संस्कार एवं चैतन्य को विज्ञान के नाम से पुकारते हैं। यह विज्ञान ही आत्मा है। इस दृष्टि से ज्ञान और ज्ञाता में कोई अंतर नहीं है। यहां यह शंका उठती है कि जब ज्ञान क्षणिक है, तो फिर पहले दिन प्राप्त चीज की दूसरे दिन स्मृति या इच्छा

१—इदं मयीदृशं चक्षुर्मनो मे भ्रान्तमित्यपि।
इन्द्रियेष्वपि भेदेन, व्यवहारश्च दृश्यते॥

क्यों होती है ? इसका समाधान करते हुए बौद्ध-विद्वान् कहते हैं कि इसके लिए आत्मा की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। यह तो एक संतति होने के कारण संभव है। यह संतति एक प्रकार का प्रवाह है—जिसके आधार पर स्मरण आदि उपपन्न हो जाते हैं। अतः ज्ञान ही ज्ञाता है—उसके अतिरिक्त ज्ञाता नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

मीमांसक प्रथम मतव्यों की तरह विज्ञान की इस आत्मता को भी स्वीकृत नहीं करते। कर्म के पहले और बाद में स्पष्ट रूप से कर्ता की प्रतिपत्ति होती है—जो क्षणभंगुर विज्ञान से सर्वथा भिन्न है। जब "जिस मैंने पहले देखा था, वही मैं अब इसे देख रहा हूँ" इस प्रकार के वाक्य में पूर्व और उत्तर काल में एक ही ज्ञाता की उपलब्धि हो रही है—फिर उसका अपह्नव किस प्रकार किया जा सकता है। ज्ञाता की यह एकता तो प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही अवगत होजाती है। अतः ज्ञान ही ज्ञाता नहीं हो सकता। भला ज्ञाता ही ज्ञान कैसे बन सकता है, क्योंकि एक ही वस्तु कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती। ज्ञान का अधिकरण तो आत्मा है।

यह आत्मा शरीर, इन्द्रिय एवं विज्ञान आदि से भिन्न है। इसके परिमाण के विषय में तीन पक्ष हैं—१—अणु, २—शरीर-परिमाण, ३—विभु। आत्मा को अणु मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि एक साथ शिर और पांव में वेदना की उपपत्ति नहीं हो सकती—जो प्रत्यक्ष-दृष्ट है। यदि शरीरपरिमाण माना जाये, तो फिर शरीर ही की तरह इसके भी भिन्न भिन्न अवयवों की कल्पना करनी होगी। बड़े हाथी के शरीर के लिए इसके बड़े और चींटी के लिए छोटे स्वरूप की कल्पना करनी होगी, जो सर्वथा अरुचिकर है। अतः प्रथम दोनों पक्ष न मान कर इसके विभुरूप को ही मानना शास्त्र और व्यवहार-संमत भी है। श्रुति[1] ने एवं गीता ने[2] भी इसकी व्यापकता को सादर

१—अनन्तमपारम्।

२—नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

शिरोधार्य किया है। उपनिषद् आदि शास्त्रों एवं पुराणों[1] में जहां भी कहीं इसके अणु-रूप की चर्चा की गई है—वह इसकी सूक्ष्मता को लेकर है।

आत्मा की इस व्यापकता को सिद्धान्तित करते हुए भी मीमांसक सब शरीरों के साथ उसकी एकता नहीं मानते। वह एक और विभु होते हुए भी नाना है। यदि सब शरीरों में उसके एक ही रूप को माना जायेगा, तो देवदत्त के शरीर में रहने वाली आत्मा के द्वारा देखी हुई वस्तु को यज्ञदत्त के शरीर में रहने वाली आत्मा भी पहचानने लगेगी, क्योंकि प्रत्यभिज्ञाता (पहचानने वाला आत्मा) दोनों में एक ही है। जिस प्रकार एक होने पर एक ही व्यक्ति के भिन्न भिन्न अंगों द्वारा किये हुये कार्यों को उसकी आत्मा ग्रहण कर लेती है और वह कहने लगता है कि "जिसे मैंने देखा था, वह मैं छू रहा हूँ"। यहां चक्षु और त्वचा ये इन्द्रियां यद्यपि भिन्न हैं, पर वह प्रत्यभिज्ञाता एक है—इसलिए ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसी तरह सब शरीरों में आत्मा की एकता मान लेने पर एक दूसरे द्वारा देखी हुई चीज का एक दूसरे द्वारा पहचानना संगत होने लगेगा—जो दृष्ट और व्यवहार-विरुद्ध है। अतः यह आत्मा एक होते हुए भी प्रतिशरीर भिन्न है।

इसके अतिरिक्त भी अनेक अव्यवस्थाएं इस एकता के कारण होने लगेंगी। फल कौन पायेगा और कर्म कौन करेगा। एकता के होने पर तो मेरी आत्मा द्वारा किये हुए सत्कर्मों का फल यज्ञदत्त को भी मिलना चाहिए—क्योंकि उसकी भी आत्मा वही है। ऐसी परस्थिति में कोई क्यों कर्म करेगा? और सारा कर्म-काण्ड-भाग निरर्थक हो जायेगा। कहीं कहीं श्रुति, स्मृति और पुराणों में यदि इसकी एकता की चर्चा भी है, तो वह इसकी विभुता को ले कर है, व्यावहारिकता

१—अंगुष्ठमात्रं पुरुषम्।

को लेकर नहीं। वायु के दृष्टान्त से हम इसे और भी अधिक स्पष्ट कर सकते हैं।[१] वायु एक है—पर उसके भी वेणु, रन्ध्र आदि के अनुसार षड्ज आदि अनेक भेद होजाते हैं—यही स्थिति आत्मा की भी है। अर्थात् आत्मा में भी पशु, मनुष्य आदि जो विलक्षणता है—वह देह-संबन्ध की देन है, स्वाभाविक नहीं है। अतः प्रतिशरीर भिन्न आत्मा की स्वतः सिद्धि होजाती है-जो सर्वगत और नित्य है। इसीलिए बन्धन और मोक्ष आदि की व्यवस्था भी उपन्न होजाती है।

यह आत्मा मन से गम्य है। श्रुति भी इसी प्रकार कहती है—"स मानसीन आत्मा जनानाम्"। न इसका पुत्र, पिता आदि के रूप में किसी से संबन्ध[२] ही है, क्योंकि जन्य और जनकभाव शरीर का विषय हैं। शरीर हो शरीर से उत्पन्न होता है, आत्मा आत्मा से नहीं। यह आत्मा अहंप्रत्यय, से गम्य ज्ञाता है-जो सब से अतिरिक्त है।[३] गीता और उपनिषद्[४] शास्त्र उसकी इस अहंप्रत्ययगम्यता के प्रमाण हैं। मंत्रवर्ण भी कहता है—"अहं मनुरभवं सूर्यश्च"।

१—वेणुरन्ध्रादिभेदेन, भेदः षड्जादिसंज्ञितः।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथा तस्य महात्मनः॥

२—"नास्य कश्चिज्ज्ञायं कस्यचित् निर्मुक्ताहंकारममकार एवायमिति"।

३—तथा च येऽपि योगस्य, परां काष्ठामुपागताः।
योगेश्वरेश्वरास्तेऽपि, कुर्वन्त्यात्मन्यहंमतिम्॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः प्रलयस्तथा।
तान्यहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परंतपः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
एवमादावहं शब्दः परस्मिन्पुंसि हि ध्रुवम्॥

४—ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि।

आत्मा के इस स्वरूप का व्यापक वर्णन उपनिषद्-शास्त्रों में विस्तार से किया गया है—इसीलिए महामना कुमारिल ने कहा है—"इत्यत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्त-निषेवणेन"। जहाँ तक मीमांसा-दर्शन का प्रश्न है-उसके सिद्धान्त ऊपर बताये जा चुके हैं। मीमांसा के मत में यही कर्म का कर्ता और भोक्ता है। यही कारण है कि "यजमानः स्वर्गलोकं याति" आदि वाक्य उपपन्न हो जाते हैं। इसकी कर्तृता पर मीमांसा की अमिट छाप है। यह सर्वगत आत्मा भी याग, ज्ञान, संकल्प[1] आदि का साक्षात् कर्ता है। जिस प्रकार सांख्य दर्शन इसको सर्वथा निर्लिप्त अथवा तेजः पुञ्ज के रूप में स्वीकृत कर इसका कर्तृत्व स्वीकृत नहीं करता, उस प्रकार हमारा मत नहीं है। न वैशेषिक दर्शन की तरह स्पन्द मात्र को ही हम क्रिया मानते हैं—जिससे आत्मा में कर्तृत्व न आ सके। हमारी दृष्टि से तो धात्वर्थ-मात्र ही क्रिया है। स्पन्दन का भी प्रयोजक रूप में यह कर्ता हो सकता है, क्योंकि यह प्रयत्न से शरीर को स्पन्दन में प्रयुक्त करता है। स्पन्दन के प्रति साक्षात्कर्तृता तो इसमें नहीं आ सकती, क्योंकि सर्वगत होने के कारण इसका स्पन्दन असंभव है। इस असाक्षात् संबन्ध ही को लेकर पुराणों और उपनिषदों में आत्मा का अकर्तृत्ववाद है—जो वास्तविक नहीं है। वस्तुतः यह आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है—जो यदि साक्षात् नहीं, तो लक्षणा[2]-से शरीर के द्वारा यज्ञ-साधनों से संबद्ध होता है। इसके कर्त्ता मानने से ही मीमांसा की कर्म-व्यवस्था संगत होती है।

इन्द्रिय-निरूपण

जो अर्थ (विषय) के साथ संबद्ध होने पर स्पष्ट ज्ञान कराती है—उसे इन्द्रिय कहा जाता है। ये इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—बाह्य और

१—संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीति। (उपनिषद्)

२—साक्षाद्यद्यपि संबन्धो, नात्मनो यज्ञ-साधनैः।
तथापि लक्षणा-वृत्त्या, शरीरद्वारको भवेत्॥

आभ्यन्तर। इन दोनों में बाह्य इन्द्रिय पाँच प्रकार की हैं— १—घ्राण, २—रसना, ३—चक्षु, ४—त्वचा, ५—श्रोत्र। आभ्यन्तर इन्द्रिय एक मन ही है। प्रथम पाँचों में चार पृथिवी, जल, तेज और वायु-प्रकृतिक हैं—जिस प्रकार न्याय-दर्शन स्वीकार करता है। अंतिम श्रोत्र को नैयायिक जहाँ आकाशात्मक मानते हैं, वहाँ मीमांसक उसे दिशाओं पर आश्रित कहते हैं। "दिशः श्रोत्रम्" इस श्रुति-वाक्य के अनुसार हम कर्ण शष्कुली से अवच्छिन्न दिशाओं के भाग को ही श्रोत्र कहते हैं। मन आभ्यन्तर इन्द्रिय है—क्योंकि वह आत्मा और उसके गुणों के ज्ञान में ही स्वतन्त्रता के साथ प्रवृत्त होता है। बाह्य रूप आदि के ग्रहण में नहीं। रूप आदि ज्ञान में यदि वह प्रवृत्त भी होता है—तो चक्षु आदि की सहायता से ही, साक्षात् नहीं।

५—सृष्टि—प्रपंच और मोक्ष

सृष्टि

आत्मा ही की तरह सृष्टि के संबन्ध में भी भिन्न भिन्न दर्शनों के भिन्न भिन्न सिद्धान्त हैं। वेदान्त के अनुसार संसार के आदि में केवल एक आत्मा ही था—वही अपनी इच्छा से आकाश आदि प्रपंच के रूप में परिणत हुआ—जिस प्रकार बीज वृक्ष के रूप में परिणत होता है. शाश्वत, सत्, चित् और आनन्दमय ब्रह्म जड़ के रूप में किस प्रकार परिणत होता है? यह प्रश्न होने पर यों समाधान किया जाता है कि वस्तुतः वह नहीं वदलता, अपितु बिना बदले हुए ही अविद्या (भ्रान्ति) के कारण बदले हुए की तरह दिखाई देने लगता है—जिस प्रकार दर्पण आदि में मुँह। अविद्या से होने वाली यह प्रक्रिया ही सृष्टि है—जो स्वप्न-प्रपंच के समान है। वस्तुतः परमात्मा[१] एक ही है और उसका यह जो रूप दिखाई देता है—वह माया के कारण है। माया ही के[२] कारण यह संसार भिन्न रूप में दिखाई देता है। संसार की इस माया के द्वारा ब्रह्म का नानात्व[३]-दर्शन ही मृत्यु और इस माया-बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर इस ब्रह्म की एकता का दर्शन ही मोक्ष है। इस दृष्टि से यह सृष्टि—प्रपंच सर्वथा असत्य है—जो अविद्या-मूलक है।

पर सृष्टि—प्रपंच की यह सार्वत्रिक असत्यता प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। भला पृथ्वी, पहाड़, नदी, समुद्र, नगर और असंख्य चर, अचर जन्तु हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं और उनसे व्यवहार भी कर रहे हैं, फिर इस सृष्टि की असत्यता पर किस प्रकार विश्वास किया जा सकता है। यदि केवल

१—A. सर्वं खल्विदं ब्रह्म। B—आत्मैवेदं सर्वं नेह नानास्ति किंचन।

२—इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

३—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (उपनिषद्)

उपनिषद् आदि शास्त्रों के प्रमाणों को लेकर हम इसे असत्य सिद्ध करना चाहें, तो वह भी संभव नहीं है। क्योंकि कोई भी शास्त्र प्रत्यक्ष का बाध नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष शीघ्र प्रवृत्त होता है, इसलिए वह सब प्रमाणों से प्रबल है। प्रत्यक्ष में वह रोधक शक्ति विद्यमान है—जिसके द्वारा आगम के लिए अर्गला लग जाती है। जिस प्रकार उत्पन्न होते हुए घड़े को डंडे से फोड़ देने पर वह उत्पन्न ही नहीं हो पाता, उसी तरह प्रपंच को असत्य सिद्ध करने वाला आगम प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिहत होजाने के कारण प्रवृत्त ही नहीं हो पाता। दूसरी बात यह कि जब हम प्रपंच ही को सर्वथा असत्य मानते हैं, तो उसके अन्तर्गत होने के कारण फिर शास्त्र को भी हमें असत्य ही मानना होगा। जब वह स्वयं असत् रूप है, तो फिर उसे किसी भी विषय के प्रति प्रमाण नहीं स्वीकृत किया जा सकता।

इन सब आपत्तियों से बच कर कतिपय [१] वेदान्तवादियों ने कहा—हम इस प्रपंच को सर्वथा असत् नहीं कहते, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है। न हम इसे वस्तुतः सत् ही कहते हैं, क्योंकि आत्मज्ञान से इसका सत् रूप बाधित होजाता है। अतः न यह पूर्ण सत् है और न पूर्ण असत् है—अपितु इन दोनों से अनिर्वचनीय है। पर यह मार्ग भी सर्वथा सुरक्षित नहीं है। जब सत् नहीं है, तो उसे असत् होना चाहिए और जब असत् नहीं है तो उसे सत् होना चाहिए। जो दोनों नहीं है—वह तीसरा कहां से होगा। यह प्रपंच तो स्पष्ट प्रतीत हो रहा है—इसलिए इसे अनिर्वाच्य भी नहीं कहा जा सकता। न इसे किसी भी प्रकार से बाधित ही किया जा सकता है, क्योंकि संसार (जीवित) में रहने की स्थिति में यह प्रत्यक्ष रहता है। मोक्ष अवस्था में भी इसका बोध नहीं जाना जा सकता, क्योंकि इस समय तो ज्ञान के संपूर्ण साधन नष्ट हो जाते हैं—

१—प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न तत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः॥

इसलिए बाधक या साधक किसी भी प्रकार का ज्ञान उस समय असंभव है। यह प्रपंच सर्वथा अबाध्य है—इसीलिए सत् है।

यदि इस प्रपंच को अविद्या से उत्पन्न किया हुआ मानते हो, तो यह भी संगत नहीं है। अविद्या का अर्थ भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति-रूपिणी अविद्या किसको है? ब्रह्म की तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह स्वच्छ विद्या-रूप है। प्रकाश में अंधकार को कोई स्थान नहीं मिल सकता। यदि यह जीवों की भ्रान्ति मानी जाये, तो वे भी तो ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। यदि इस अविद्या के आश्रय के रूप में ब्रह्म और जीव इन दोनों के अतिरिक्त वस्तु की कल्पना की गई, तो अद्वैतता छिन्न भिन्न होजायेगी। अतः यह अविद्या निराश्रित है और इसीलिए यह अविद्या-वाद या मायावाद सर्वथा असंगत और निर्मूल है। इससे तो शून्य या क्षणिक-वाद ही अच्छा है। इस प्रपंच को असत् बताते हुए—जो यह कहा जाता है कि "अज्ञान से उत्पन्न हुआ यह प्रपंच ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है—जिस प्रकार मृग का जल और स्वप्न का प्रपच"। अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार अपने संपूर्ण व्यापारों के द्वारा घड़े को उत्पन्न करता है और मूसल का प्रहार उसे नष्ट कर देता है—उसी प्रकार अज्ञान (कुम्हार) इस प्रपंच को उत्पन्न करता है और ज्ञान (मुसल) उसको नष्ट कर देता है। पर इससे तो प्रपंच की नश्वरता या अनित्यता ही सिद्ध हुई—इसका सर्वथा अभाव तो सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार आप ही की युक्तियों से प्रपंच की सत्ता तो स्वतः प्रमाणित होजाती है।

आत्म-परिणामवाद

इस आत्म-परिणाम-वाद में कुछ एक उपनिषत्-शास्त्री नवीन मार्ग उपस्थित करते हैं—इसी से उनकी पूर्व-प्रतिपादित युक्तियों की प्रभाव-हीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इनका मानना है कि वस्तुतः आत्मा ही अपनी इच्छा से प्रपंच के रूप में परिणत हो जाती है।

आत्मा के इन भिन्न भिन्न रूपों की परिणमन-अवस्था के संबन्ध में उपनिषदों[1] एवं पुराणों में भी अनेक वाद प्रचलित हैं। जिस प्रकार एक ही अनेक शाखाओं वाला वृक्ष दूर से देखने वालों को ऊपर ऊपर से अनेक वृक्षों के रूप में दिखाई देता है, किन्तु उसको निकट से देखने वाले व्यक्ति स्पष्ट कह देते हैं कि "यह एक ही वृक्ष है—जिसकी अनेक शाखायें हैं"। उसी प्रकार इस नाम रूपी सांसारिक प्रपंच को नाना रूप में समझने वालों को तात्त्विक बात समझाना इस प्रकार के एकत्ववादों का कार्य है। अर्थात् यह सब प्रपंच उस एक ही सत्ता का विस्तार है—यहाँ नाना कुछ भी नहीं है। जो प्रपंच को असत् बताने वाले अविद्या, भ्रान्ति या मायावाद हैं—वे सब औपचारिक हैं, वास्तविक नहीं हैं। जैसे मृग-जल, रस्सी में सर्पज्ञान और स्वप्न-प्रपंच आदि कुछ क्षण तक उत्पन्न हो कर पुनः नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार भेद-प्रपंचरूपी ब्रह्म का परिणाम भी पैदा होता है और नष्ट भी हो जाता है—इसी लिए उसको औपचारिक रूप से असत् कहा जाता है। वह असत् न होते हुए भी असत् के समान है, इसीलिए उससे सम्बन्धित ज्ञान में भी औपचारिक रूप से भ्रान्तित्व अपने आप आ जाता है। इसी प्रकार के संपूर्ण व्यवहार और वाक्य या तो औपचारिक हैं, अथवा अर्थवाद-मूलक हैं। प्रपंच में जो असत्यता बताई भी गई है, वह वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए, एवं आत्मा में जो परमार्थता सिद्ध की गई है, वह मोक्ष की इच्छा रखने वालों का उत्साह बढ़ाने के लिए है। अतः यह प्रपंच एक ही आत्मा का परिणाम है—सर्वथा असत् नहीं है। यदि असत् होता, तो फिर विज्ञान से भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता था—जिस तरह खरगोश के शृंगों का ज्ञान नहीं हो सकता।

पर यह आत्म-परिणामवाद भी ऊपर लिखे हुए अविद्या, माया या असद्वाद की तरह अयुक्त है। जो आत्मा सर्वथा चित् रूप है—उसका

१—A—तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।

B—तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः।

पुरुष एवेदं सर्वं नेह नानास्ति किंचन।

जड़ रूप में परिणत होना असंभव है। यदि आत्मा की एकता ही मानी जाये. तब तो देवदत्त का सुख यज्ञदत्त का भी सुख होना चाहिए। कदाचित् आप यह कहें कि आत्मा के एक होते हुए भी अंतःकरणों के भिन्न होने के कारण सब प्राणियों में अभेद-ज्ञान नहीं होता, तो यह भी संगत नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण अचेतन है, अतएव वह सुख और दुःख का अनुभव करने वाला है—और वह एक है—अतः एक दूसरे का सुख दुःख एक दूसरे के अनुभव का विषय रहना चाहिए। पर रहता नहीं है, इस लिए यह सिद्धान्त भी असंगत है।

प्रकृति-परिणामवाद

सांख्य-दर्शन संसार को प्रकृति का परिणाम मानता है। दो प्रकार का सांख्य है-निरीश्वर और सेश्वर। निरीश्वरवादी कहते हैं-सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों वाली अचेतन प्रकृति महद् आदि विशेष तत्त्वों से प्रपंच के रूप में चेतन व्यक्तियों के उपभोग के लिए परिणत हो जाती है। सेश्वरवादी (योग) भी इसी प्रकार कहते हैं—पर इतनी विशेषता अवश्य है-यह प्रकृति पुरुष नामक ईश्वर का आश्रय लेकर संसार की रचना करती है। जैसे अच्छे खेत में पड़ कर बीज उसके संपर्क से अंकुर आदि क्रम के द्वारा वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी ईश्वर का आश्रय लेकर सर्वव्यापिनी प्रकृति महन्, अहंकार, तन्मात्रा आदि क्रम से परिणत होती हुई विशेषान्त प्रपंच का आरंभ कर देती है। इतिहास एवं पुराणों में भी यही है। यही प्रकृति-मूलक सृष्टि है, ईश्वर तो निमित्त-मात्र है। यह प्रकृति सब जगह एक है, भोक्ता (भोगने वाले) भिन्न हैं-इसलिए बँधन और मुक्ति आदि की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है-यही [१] शास्त्र-संमत भी है। उपनिषद् शास्त्रों के जो एकात्मवाद हैं-वे केवल अविलक्षणता को लेकर हैं। वस्तुतः वह

१—अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाम्।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

इसी ईश्वर की इच्छा प्रलय के अनन्तर भी परमाणुओं की सहायता से सृष्टि की रचना कराती है-ये परमाणु प्रलय के अवसर पर भी नष्ट नहीं होते। पार्थिव, आप्य (जल के) तैजस और वायवीय ये चार प्रकार के परमाणु क्रमशः पृथिवी, जल, तेज और वायु के प्रति समवायि-कारण हैं। दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक फिर तीन द्व्यणुकों से एक चतुरणुक आदि क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्रलय-काल में इसका पूर्णशः विनाश हो जाता है।

सृष्टि के संबन्ध में यह सिद्धान्त भी मीमांसकों को अभिप्रेत नहीं है। प्रयत्न के बिना केवल ईश्वर की इच्छा-मात्र से परमाणुओं में कोई क्रिया (वैशेषिक दर्शन के अनुसार-स्पन्द) नहीं हो सकती। इच्छा के द्वारा कराये गये प्रयत्न के वश से तो आज भी शरीर में स्पन्द होता है, पर केवल इच्छा से नहीं होता। कदाचित-यह कहा जाये कि ईश्वर भी प्रयत्न करता है, पर यह भी उचित नहीं, क्योंकि जो शरीरधारी नहीं होता, उसके लिए प्रयत्न असंभव है। सब आत्माएँ शरीर में रहते हुए ही प्रयत्न का आरंभ करती हैं, बाहर नहीं। अतः प्रयत्न शरीरापेक्षी है। जिसके शरीर नहीं है—उसके तो इच्छा भी नहीं हो सकती। यदि ईश्वर का शरीर भी माना जाये, तो प्रलय-काल में सब शरीरों के नष्ट होजाने की तरह वह भी तो नष्ट होजाता है। अतः संक्षेप में बिना शरीर के न इच्छा हो सकती है, न प्रयत्न और न ज्ञान, क्योंकि उस समय इन्द्रिय आदि का सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में सृष्टि को किसी की कृति नहीं माना जा सकता। वह तो सर्वथा नित्य है और उसकी यह नित्यता ही मीमांसा-दर्शन की संमति में ऊपर बताई गई सब आपत्तियों का समाधान है। "यः कल्पः स कल्पपूर्वः" आदि न्याय (जो कल्प है वह पहले के कल्प की ही तरह है) भी इसके साक्षी हैं। ऐसा कोई काल देखने में नहीं आता-जिस समय कोई सृष्टि न हो। केवल प्राणी आता है और चला जाता है-इसी से तो सृष्टि का विनाश नहीं माना जा सकता। गोकुल नामक व्यक्ति मरता है-इस का अर्थ यह नहीं है कि सृष्टि या

मनुष्य मरता है। यह तो एक प्रकार का प्रवाह है—जो अनवरत रूप से सदा चलता रहता है और जिसका न कोई कर्ता ही है। यही इसकी नित्यता है।

मोक्षवाद

सृष्टि के इस विवरण के साथ मोक्ष का अटल संबन्ध है। विशेषकर हम भारतीय सदा से मोक्ष के उपासक रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों में मोक्ष ही हमारा परम प्राप्य रहा है, इसीलिए अपने इस चरम उद्देश्य के संबन्ध में सभी विचारकों ने भिन्न भिन्न रूप से विचार व्यक्त किये हैं। महाशय चार्वाक इस शरीर से छुटकारा पाने हो को मोक्ष कहते हैं—जो मरते ही बिना किसी साधना के भी प्रत्येक मनुष्य को स्वतः प्राप्त होजाती है। उनका यह मंतव्य शरीर को आत्मा मानने के कारण है—जिसका हम खंडन कर चुके हैं, इसलिए यह भी गतार्थ हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं (बौद्ध-विचारक) विचित्र प्रकार की वासनाओं के कारण नील, पीत आदि रूपों में बहती हुई ज्ञानधारा संपूर्ण वासनाओं के नष्ट होजाने पर नील, पीत आदि विचित्रताओं को छोड़कर जब केवल विशुद्ध ज्ञान के रूप में अवस्थित होजाती है, तो वही स्थिति मोक्ष है। अर्थात् संसार के सब दृश्यमान रूप एक प्रकार से वासना-वश बहते हुए ज्ञान ही के रूप हैं। जब यह वासना नष्ट हो जायेगी, तो यह सब प्रपंच अपने आप अनेक-रूप नहीं रहेगा। पर उनका यह मंतव्य तो तब ही संगत हो सकता है—जबकि संसार के दिखते हुए संपूर्ण पदार्थों का सर्वथा अभाव मान लिया जाये। यह सिद्धान्त बाह्यार्थ के अभाव पर आधारित हैं। जबकि हम बाह्यार्थ के अभाव को न मानकर उसकी सत्य सत्ता प्रमाणित कर आये हैं, तो उपर्युक्त मंतव्य फिर स्वतः ही खंडित होजाता है।

इनसे आगे बढ़ कर कतिपय विचारक इस सृष्टि-प्रपंच के विनाश को मोक्ष कहते हैं। यह प्रपंच अविद्या (भ्रान्ति) द्वारा बनाया

हुआ है। जिस तरह जागते ही स्वप्न के सब जंजाल नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या के नष्ट हो जाने पर यह प्रपंच भी स्वयं ही विलीन होजाता है। श्रुति भी इसमें प्रमाण है—"जहां दो[1] होते हैं (जीव और आत्मा) वहां एक दूसरे को देखता है, पर जहाँ सब कुछ आत्मा ही होजाती है, वहाँ कौन किस को देखेगा।" पर यह मत भी कोई अखंडनीय अस्तित्व नहीं रखता। यह मत प्रपंच को अविद्या-निर्मित मानकर चलता है—जबकि हम प्रपंच के अविद्या-जन्य होने का विस्तार के साथ खंडन कर चुके हैं—इसी से यह निर्मूल होजाता है। यह प्रपंच तो सत्य है। "आत्मा[2] ही सब कुछ है" आदि उपनिषद्-वाक्य भी प्रपंच के स्वरूप का खंडन करने वाले नहीं हैं, अपितु "आत्मा ही इन सब का भोगने वाला है" इस अभिप्राय को प्रकट करने वाले हैं। जिस प्रकार "जो चाहता है मैं [3]राष्ट्र हो जाऊँ" इस वाक्य में राष्ट्र होने का अर्थ राष्ट्र का भोक्ता होने से है, उसी प्रकार यहाँ भी सब के भोक्ता होने का तात्पर्य है। दूसरी बात यह है कि मुक्त अवस्था में आत्मा के लिए न कोई ज्ञेय (दृश्य) न ज्ञान का साधन (इन्द्रिय आदि) और न ज्ञाता ही रहती है—अपितु आत्मा ही सब कुछ है—फिर किससे क्या देखे? इसी प्रसंग को लेकर प्रथम वाक्य कहा गया है, प्रपंच की असत्यता को लेकर नहीं। जिस प्रकार संसार में जिसके पास न कुछ द्रव्य होता है न संबन्धी होते है-वह यह कहा करता है कि "मेरे तो कुछ भी नहीं हैं, मैं ही सब कुछ हूँ" यही स्थिति यहाँ भी है। इस प्रकार यह प्रपंच असत्य नहीं है, न इसका कभी विलय ही होता है-अतः प्रपंच के विलय को मोक्ष मानना सर्वथा निराधार है।

१—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्।

२—यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्।

३—"यः कामयेत राष्ट्रं स्यामिति"।

इन सबका खंडन कर मीमांसक इन दोनों मतों के अतिरिक्त मत इस विषय में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं—इस सृष्टि-प्रपंच के साथ विद्यमान संबन्ध का विलय हो जाना ही मोक्ष है। यह सृष्टि-प्रपंच तीन प्रकार से मनुष्य को बाँधता है—भोग के पात्र शरीर, भोग के साधन इन्द्रियां, एवं भोग के योग्य शब्द आदि विषय ये इसके तीनों रूप हैं। भोग से यहाँ सुख, दुःख आदि का प्रत्यक्ष अनुभव अभिप्रेत है। इन तीनों प्रकार के बन्धनों से आत्यन्तिक रूप में छुटकारा पा लेना ही मोक्ष है। यह आत्यन्तिक विलय (बन्धनों का) दो कारणों से हो सकता है—पहले उत्पन्न हुए शरीर, इन्द्रिय और विषय नष्ट होजायें और जो उत्पन्न नहीं हुए हैं—वे सदा उत्पन्न न हों। यह सदा के लिए उत्पन्न न होना तभी संभव होता है—जबकि उत्पन्न करने वाले धर्म और अधर्म सर्वथा नष्ट होजायें। धर्म भी यदि रह गया, तो उत्पत्ति करायेगा और इसी तरह अधर्म भी। अतः यह प्रपंच के साथ संबन्ध ही एक प्रकार का बन्धन है और इस संबन्ध से छुटकारा पा लेना ही मोक्ष है।

मुक्त अवस्था

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित हुआ कि मीमांसकों के मत से मोक्ष में धर्म और अधर्म इन दोनों ही का संबन्ध नहीं रहता। इस पर कुछ एक विद्वानों को आपत्ति है—क्योंकि मुक्त अवस्था में आपके मत से जब सब धर्म नष्ट हो चुके, तो फिर मुक्त व्यक्ति को किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इस तरह जब मुक्त अवस्था में सुख नहीं रहेगा, तो फिर मोक्ष कोई प्राप्त भी क्यों करना चाहेगा, न वह पुरुषार्थ ही रहेगा। इस साधारण आपत्ति से बचने के लिए वेदान्तियों ने मुक्त अवस्था में भी आनन्द की सत्ता को[१] स्वीकार किया है। उनका कहना है कि उस अवस्था में मुक्त व्यक्ति को स्वाभाविक आनन्द प्राप्त होता है, जो लौकिक आनन्द से असीम और अत्यन्त उन्नत है,

१—आनन्दं ब्रह्म।

इसी लिए उसको आत्मानंद कहा जाता है। इस प्रकार के आनन्द की सत्ता में अनेक[1] श्रुतियां भी प्रमाण हैं। यह आनन्द स्वप्रकाश होता है। मुक्त अवस्था में यद्यपि बाह्य इन्द्रियां निवृत्त होजाती हैं, पर मन तो विद्यमान रहता ही है—ऐसा अनुमान उस काल में होने वाले आनन्द की द्योतक श्रुतियों से किया जा सकता है। आनन्द की तरह ही उस काल में ज्ञान[2] का भी लोप नहीं होता, ऐसा भी श्रुतियों के आधार पर उनका मानना है। अतः मुक्त अवस्था में मानस-प्रत्यक्ष से परम आनन्द का अनुभव करती हुई आत्मा रहती है। इससे मोक्ष में पुरुषार्थता भी आ जाती है।

विचार-शास्त्री इन छोटे मोटे प्रश्नों से घबराकर अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं होते। वे कहते हैं—न मुक्त अवस्था में आनन्द का अनुभव होता है एवं न ज्ञान ही का। जिस आनन्द को आप मुक्त अवस्था में स्वप्रकाश कहते हो—वह संसार अवस्था में कहाँ[3] चला जाता है। दूसरी बात यह है कि आनन्द का अनुभव करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता अनिवार्य है। मुक्त अवस्था में इन्द्रियां कहाँ से आयेंगी—जिनके माध्यम से आनन्द का अनुभव किया जा सकेगा। बाह्य इन्द्रियों की तरह मन भी मुक्त अवस्था में नहीं रहता—जिसकी सहायता से आनन्द-लाभ किया जा सके। श्रुति स्वयं यह प्रतिपादित करती है कि उस अवस्था में मन[4] नहीं रहता, अतः मुक्त अवस्था में आनन्द की स्वीकृति वेद के भी विपरीत पड़ती है। यही शक्ति ज्ञान की भी है। ज्ञान के जब सब साधन ही नहीं रहते, तो फिर ज्ञान होगा किस प्रकार।

१—निजं यत्वात्मचैतन्यमानन्दश्चेष्यते च यः।
यच्च नित्यविभुत्वादि, तैरात्मा नैव ुच्यते ॥

२—न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो भवति।

३—अथ संसारवेलायामनन्दो न प्रकाशते। न ह्यप्रकाशनं युक्तं स्वप्रकाशस्य वस्तुनः। यद्यसौ न प्रकाशेत, किं तर्ह्यन्यत्प्रकाशते।

४—अमनोऽवाक्।

"जानने वाले के[१] ज्ञान का नाश नहीं होता" यह श्रुति-जो ज्ञान की सत्ता के प्रमाण रूप में प्रस्तुत की गई है—उसका अभिप्राय यह नहीं है कि मुक्त अवस्था में ज्ञान रहता है, अपितु यह है कि उस दशा में भी "जानने वाले की ज्ञान की शक्ति का नाश नहीं होता"। एक ही नहीं—ऐसे अनेक वाक्य हैं—जो उस आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता के प्रतिपादक हैं। मुक्त अवस्था में भी उसकी ज्ञान-शक्ति नष्ट नहीं होती, पर इन्द्रियों के साधन के अभाव में ज्ञान अवश्य नहीं हो पाता। "जो वह[२] नहीं देखता, वह देखते हुए भी नहीं देखता, देखने वाले की दृष्टि का कभी नाश नहीं होता।" "वह[३] सूंघते हुए भी नहीं सूंघता, सूंघने वाले की घ्राण का लोप नहीं होता"। ये सब वाक्य शक्तियों को लेकर हैं-अर्थात् उसकी जानने, देखने और सूंघने आदि की शक्ति नष्ट नहीं होती। पर इनका अर्थ यह नहीं है कि इन सब का ज्ञान उसको होता हो। इस सब प्रकार के ज्ञान के अभाव में साधनों का अभाव ही मूल कारण है। अतः मुक्त अवस्था में आत्मा को न किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है व न ज्ञान ही का।

इतना होने पर भी साधकों के लिए वह सबसे परम कोटि का साध्य है। उस अवस्था में आनन्द नहीं रहता, फिर भी वह पुरुष का चरम अर्थ है, क्योंकि उसमें सब प्रकार के दुःखों का लोप हो जाता है। यह भी कोई कम फल नहीं है। इसलिए सुख, दुःख आदि संपूर्ण आत्म-गुणों का उच्छेद ही मोक्ष है[४] और इन सुखों एवं दुःखों के उच्छेद में हमको धर्म और अधर्म के उच्छेद को कारण मानना पड़ेगा। जब धर्म रहेगा, तो सुख अवश्य होगा एवं जब अधर्म रहेगा, तो दुःख अवश्य

१—नहि ज्ञातुर्ज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।

२—यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।

३—जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यते।

४—सुखदुःखोपभोगो हि संसार इति शब्द्यते।
तयोरनुपभोगं तु मोक्षं मोक्षविदो विदुः॥

होगा। इन दोनों में किसी की सत्ता जब तक रहेगी, तब तक मुक्ति कहाँ? शरीर की प्रवृत्ति तो कर्म से उत्पन्न फल को भोगने के लिए होती है— जब किसी भी प्रकार का शुभ या अशुभ कर्म हमारा[१] रह ही नहीं जायेगा, तो फिर हमें क्यों शरीर धारण करना पड़ेगा? अर्थात् नहीं। इसलिए मीमांसा-शास्त्र ने विधान किया, कि जो मोक्ष चाहता है—वह काम्य[२] और निषिद्ध कर्म न करे, क्योंकि यदि वह काम्य कर्म करेगा, तो सुख आदि की प्राप्ति होगी और निषिद्ध करेगा—तो दुःख की। ऐसा होने पर मोक्ष दुर्लभ हो जायेगी। केवल नित्य कर्म उसको करना चाहिए—जिससे सामान्य दोष उस पर न लगें। इस प्रकार वह स्वयं कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायेगा। एवं सुख व दुःख से मुक्त हो कर उस अवस्था में स्वस्थ[३] रहेगा।

मोक्ष के अधिकारी और साधन

जब कि मोक्ष इतनी उत्कृष्ट वस्तु है, फिर उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति का लालायित होना तो स्वभाविक है ही। पर उसको प्राप्त करने का अधिकारी होना कोई साधारण बात नहीं है—इसके लिए अत्यन्त विशाल योग्यताएँ चाहिएं। उनका विवेचन करने में भी यह शास्त्र पिछड़ा नहीं है। उनका कहना है कि—[४]विवेकशील महामानवों के लिए अत्यन्त दुःखों से घिरा हुआ यह थोडा बहुत लौकिक सुख भी मदिरा

१— कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं नः प्रवर्तते, तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते।

२—मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः, नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया॥

३—सुखदुःखविहीनोऽतो मुक्तः स्वस्थोऽवतिष्ठते।

४—बहुदुःखसंरम्भं यन्नाम स्वल्पकं सुखम् सुरापानादिसुखवद्वर्जनीयं विवेकिनाम्।
एवंभूतेऽपि संसारे ये रक्ताः सुखतृष्णया, न तेषामधिकारोऽस्ति मुक्तिशास्त्रे कथंचन॥
संसारादुद्विजन्ते ये दृष्टलोकपरावराः, त एव खलु मुच्यन्ते न तु यः प्राकृतो जनः।
तेषामेवापवर्गाख्यः पुरुषार्थो महात्मनाम्, तेषामेवाधिकारश्च मुक्तिशास्त्रे मनीषिणाम्॥

पीने आदि से उत्पन्न होने वाले सुख की तरह वर्जनीय है। इस प्रकार के संसार में भी जो सुख और तृष्णा से लिपटे हुए हैं—उनका मोक्ष-शास्त्र में किसी भी प्रकार से अधिकार नहीं है। अपितु जो इस संसार के संपूर्ण रहस्य को समझ कर इससे उद्विग्न हो जाते हैं—वे ही इससे मुक्त हो सकते हैं? हर कोई व्यक्ति नहीं। उन्हीं को यह मोक्ष नामक पुरुषार्थ प्राप्त होता है और उन्हीं मनीषियों का इस मोक्ष-शास्त्र में अधिकार भी है।

इसी प्रकार इसके साधनों की चर्चा का कुछ निरूपण जो विचार-शास्त्रियों को अभिप्रेत है, हम ऊपर कर चुके हैं। आत्म[१]-ज्ञान को मोक्ष के साधनों के रूप में मानने की एक महान् परंपरा अद्वैत-विचारकों की ओर से प्रचलित की गई है, वह प्रायः सर्वसंमत भी हो गई है। मीमांसा-दर्शन भी उपनिषद् वाक्यों को दो रूप में स्वीकृत करता है—एक रूप में वह जहाँ तक क्रतु के साथ साक्षात् या परंपरा से उनका संबन्ध बैठता है, वहाँ तक उन्हें वहीं संगत करता है। जो वहाँ संगत नहीं होते—उनको वह अदृष्ट-मूलक कहता है। उसका यह अदृष्ट दो प्रकार का है—एक अभ्युदय-रूपी और दूसरा निःश्रेयस-रूपी। अतः इस योजना से उसका भी दूसरी परंपरा के साथ इस मंतव्य में समन्वय हो जाता है। "न स पुनरावर्तते" आदि वाक्यों को प्रमाण मानना ही इसका साक्षी है। अतः आत्म-ज्ञान मोक्ष में भी सहायक है।

सगुण-धारा के उपासक भी मोक्ष को ही प्राप्त करने की साधना करते हैं, किन्तु उनकी मोक्ष का स्वरूप विचित्र है। उनमें कई एक तो सायुज्य-मुक्ति के समर्थक हैं—जिसमें ब्रह्म (रामकृष्ण आदि) के साथ किसी भी रूप में सहवास प्राप्त करना अन्तर्हित है, इसीलिए रसखान कहता है—

"मानुस हों तो वहीं रसखान बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन
जो खग हों तो बसैरो करू, नित कालिन्दी—कूल कदंब की डारन"

१—आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यश्च।

आदि ये सब चर्चायें सृष्टि और ब्रह्म के संबन्ध में व्यवस्थापित भिन्न भिन्न सिद्धान्तों पर आधारित हैं। जब सृष्टि और ब्रह्म दोनों एक हों, तब तो मोक्ष की यह अवस्था असंगत है। पर जब उन्हें भिन्न भिन्न रूपों में स्वीकृत किया जाये, तब तो सायुज्य-मुक्ति स्वतः संगत हो जाती है। एक उदाहरण से इस अंतर को स्पष्ट किया जा सकता है। वेदान्तियों के मत में ब्रह्म एक खीर है और जीव भी मुक्त अवस्था में उस खीर में जाकर पड़ जाता है, वहाँ उसे आनन्द का अनुभव होता रहता है। विशिष्ट-अद्वैत वाले इससे कुछ भिन्न मत रखते हैं—वे कहते हैं—खीर बनने में वह आनन्द नहीं है—जो उसको खाने में है। इसीलिए वे अपने कृष्ण आदि ब्रह्म के साथ रह कर इस अवस्था में उसका अक्षय्य आनन्द लूटना चाहते हैं। मीमांसक तो इस दशा में सुख और दुःख आदि से निर्लिप्त होकर स्वस्थ रहता है और यही वस्तुतः मुक्त अवस्था की उच्चता है। आनन्द भी चाहे आनन्द हो क्यों न हो, है एक दृष्टि से बन्धन ही—जिससे मुक्त होना परम आवश्यक है।

६—स्वतः प्रामाण्यवाद

परिभाषा

प्रामाण्य के विषय में कुछ लोग कहते हैं-ज्ञान होते समय जो पदार्थ जिस रूप में प्रकट या अवभासित हो रहा है-वह पदार्थ वस्तुतः उसी तरह से अवस्थित हो, तो उसे प्रामाण्य कहा जाता है। अर्थात् वह अर्थ जो सामने उपस्थित है-अव्यभिचरित होना चाहिए-और उसकी वास्तविकता उसके अवभास से पृथक् नहीं होनी चाहिए।

"अर्थस्य चतथाभावः प्रामाण्यमभिधीयते" इति (न्यायरत्न-माला (४ पृष्ठ२ पद्य)

अन्य लोग कहते हैं-अनधिगत और अबाधित अर्थ की निश्चायकता ही प्रामाण्य है। ऐसी स्थिति में यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है—और प्रामाण्य इसी प्रमा से जीवित है। अयथार्थ ज्ञान का अप्रमात्व अप्रामाण्य का बीज है।

प्रकार

इस प्रामाण्य को लेकर भिन्न भिन्न दर्शनों में भिन्न भिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं—जिनमें ये चार प्रमुख हैं—१-प्रामाण्य या अप्रामाण्य ये दोनों ही स्वतः होते हैं २—प्रामाण्य या अप्रामाण्य ये दोनों ही परतः है (यह तार्किक पथ) ३—अप्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है—पर प्रामाण्य तो परतः होता है-(बौद्ध) ४-प्रामाण्य स्वतः व अप्रामाण्य परतः होता है (मीमांसक)।

प्रामाण्य व अप्रामाण्य स्वतः

प्रथम पक्ष का प्रतिपादन इस प्रकार किया जाता है कि-हरेक कारण में अपने कार्य को संपन्न करने की शक्ति स्वभाव से ही रहती है-जिस प्रकार माषों (उड़द की दाल) के द्वारा पित्त और कफ ये दोनों

ही विरुद्ध वस्तुएं पैदा कर दी जाती हैं-उसी तरह ज्ञान के द्वारा भी स्वभाव ही से अपना प्रामाण्य या अप्रामाण्य प्रकट कर दिया जाता है-ये दोनों ही स्वभावतः ज्ञान के कार्य हैं-इस कार्य में अपने कारण से अतिरिक्त दूसरे कारण का अन्वेषण करना अयुक्त है-इसलिए ज्ञान का प्रामाण्य व अप्रामाण्य स्वतः सिद्ध है।

पर यह सिद्धान्त अयुक्त है-क्योंकि प्रामाण्य व अप्रामाण्य ये दो विरुद्ध वस्तुएं हैं-प्रामाण्य तब कहा जा सकता है-जब कि जो वस्तु जिस रूप में जानी गई है-वह उसी रूप में वस्तुतः हो भी। अप्रामाण्य तब कहा जाता है-जब कि वह वस्तु उस रूप में न हो-जिस रूप में वर्णित की गई है-इसी अभिप्राय को अर्थतथात्व व अतथात्व शब्द से अभिव्यक्त किया जाता है। इस स्थिति में ज्ञान अपने ही विषय में एक साथ दो विरुद्ध मंतव्यों को किस रूप में बोधित कर सकता है! यही कारण है कि ज्ञान प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों को स्वतः अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य परतः

इसे कुछ संशोधित रूप में उपस्थित कर एक नया मार्ग उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है—वह यह है कि उपर्युक्त विरोध का समाधान सुशक है—क्योंकि जब एक ही ज्ञान-व्यक्ति स्वनिष्ठ प्रामाण्य या अप्रामाण्य दोनों का बोधन करती हो, तो विरोधापत्ति है—पर जब एक ज्ञान व्यक्ति अपना प्रामाण्य व्यक्त कर रही हो—(जैसे यह घर है) व दूसरी कोई ज्ञान—व्यक्ति अपना अप्रामाण्य (शुक्ति में रजत ज्ञान) प्रकट कर रही हो - तो व्यक्ति-भेद से यह मूल भेद सुशक है—किन्तु यह मंतव्य अनवस्था से अपेत है—क्योंकि किसी भी अन्य कारण की अपेक्षा बिना किये ही केवल ज्ञान प्रामाण्य व अप्रामाण्य का उपलम्भक है—इससे विनिगमना-विरह तथात्व व अतथात्व की व्यवस्था नहीं रहने

देग-अर्थात् जब एक ज्ञान व्यक्ति से घट ज्ञान में प्रामाण्य प्रतिपादित है-तो फिर स्वतः होने के कारण उसमें अप्रामाण्य क्यों नहीं रह सकेगा। ऐसी स्थति में प्रामाण्य किस ज्ञान में माना जायेगा, व अप्रामाण्य किस ज्ञान में माना जाये-यह विवेचना के मार्ग से दूरापास्त है। इसलिए यह मानना पडेगा कि दोनों ही स्वाभाविक नहीं है-अर्थात् ज्ञान स्वय कुछ बोधित नहीं करता, अपितु ज्ञान कारण गुणों के ज्ञान से प्रामाण्य, व ज्ञान कारण में दोषों के ज्ञान से अप्रामाण्य वगत हो जाता है-इसी लिए प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों ही का परतस्त्व तार्किकों ने तर्क-संमत अंगीकृत किया है-कहा भी है:—

"दोषो ऽप्रमाया जनकः, प्रमायास्तु गुणोभवेत्"

अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः

इस अपसिद्धान्त की भित्ति पर एक नया सिद्धान्त और खड़ा होता है-क्यों कि जब प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही का परतस्त्व स्वीकृत किया जायेगा-तो जब तक ज्ञान-कारण के गुणों का ज्ञान न होगा, तब तक प्रामाण्य, व दोषों का ज्ञान न होगा-तब तक अप्रामाण्य उपपन्न नहीं हो सकेगा-इस प्रामाण्य व अप्रामाण्य दशा से निर्मुक्त हो कर ज्ञान गुण एवं दोष ज्ञान के अधीन न होने के कारण न प्रामाण्य व न अप्रामाण्य रूप से ही पदार्थ का बोध करा सकेगा-ऐसी स्थिति में उसे स्वरूप रहित अर्थात् निः स्वभाव बन कर रहना पडेगा-क्यों कि ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह अपने उत्पन्न होने के समय में ही विषय का निवेदन करे। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह विषय को प्रकाशित करता ही उत्पन्न होता है—तो जब इस हालत में वह विषय का अर्थ का समर्पण नहीं कर सकेगा, तो उसे अपना स्वभाव तक छोड़ देना पड़ेगा। जब वह अपने स्वभाव के अपरित्याग के उद्देश्य से विषय का समर्पण करे—वह निवेदन यदि प्रामाण्याकार में हो तो ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानना पड़ेगा—व अप्रामाण्याकार में होगा, तो

अप्रामाण्य का स्वतस्त्व स्वीकार्य होगा—व उससे भिन्न का परतस्त्व। तर्क की यह कसौटी दोनों का परतस्त्व नहीं रहने देती। अतः यह उपयुक्त है कि अप्रामाण्य स्वतः माना जाये, व प्रामाण्य परतः। बौद्धों का यही मंतव्य है—जिसे निम्न-लिखित युक्तियों से उपपादित किया जाता है।

ज्ञान के उत्पन्न होने मात्र से उसका तथात्व निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका व्यभिचार उपलब्ध है—अतः वह अप्रमाण होता हुआ ही उत्पन्न होता है—यह रजत है—यह ज्ञान जब शुक्ति में होता है—तो उस स्थान पर जब रजत नहीं मिलती, तो उसका व्यभिचार प्रत्यक्ष सिद्ध होता है—इसी प्रकार "यह स्थाणु है—अथवा पुरुष" आदि स्थलों में अनिश्चय भी रहता है—अतएव यदि उत्पन्न होते हुए ही ज्ञान प्रमाण रूप से उत्पन्न होगा तो—उपर्युक्त उदाहरणों की तरह कहीं पर भी व्यभिचार या अनिश्चयात्मकता उपलब्ध नहीं होगी, पर होती है—वही यह सिद्ध करती है कि ज्ञान उत्पन्न होने से ही उसमें तथात्व निर्धारण नहीं कर लेना चाहिए अपितु उत्पन्न होने के अनन्तर १—संवाद-ज्ञान (प्रवृत्ति-साफल्य) २—अर्थक्रियाज्ञान (चाँदी के मिलने पर उससे जेवर आदि का बन जाना व पानी से प्यास आदि का बुझ जाना) व ३—कारणगुणज्ञान, से उसमें प्रामाण्य अवगत होता है—उसी से उसका वह स्वभावजन्य अप्रामाण्य अपोदित हो जाता है। वेदप्रतिपादित यज्ञ आदियों का फल स्वर्ग आदि प्रत्यक्ष उपलब्धि से बाहर हैं—अतः ऐसे शास्त्रों का प्रामाण्य संवादज्ञान आदि से नहीं—अपितु कारणगुण ज्ञानों से उत्पन्न है। शब्दराशि के प्रामाण्य अंगीकार करने में आप्त-प्रणीतता ही वस्तुतः गुण है—जब आपके द्वारा वेद का अपौरुषेयत्व स्वीकृत है—तो उसमें तो वह गुण भी नहीं—जिसके सहारे उसका प्रामाण्य अंगीकृत किया जा सके—उसमें उस गुण का समावेश तो दूर रहा—अपितु उसमें तो अनाप्तप्रणीतत्व आदि अनेक दोष समाविष्ट हैं। जैसे "वनस्पतयः सत्रमासत" इत्यादि। ये तो एक मात्र पागलों के प्रलाप हैं—इसलिए वेदों का अप्रामाण्य ही प्राप्त है।

प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः

यदि प्रामाण्य का परतन्त्र माना जायेगा, तो उसका प्रामाण्य अनवस्थित रहेगा। क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य जब दूसरे ज्ञान के आधीन रहेगा, तो वह दूसरा पोषक या प्रामाण्य—प्रतिपादक ज्ञान भी अपने प्रामाण्य की उपपत्ति के लिए अवश्य इतर ज्ञान की शरण लेगा। वह इतर की—वह इतर की—इस तरह ज्ञान कभी भी अपनी सत्ता की प्राप्ति नहीं कर सकेगा—और उसका मूल तक उच्छिन्न हो जायेगा—इस प्रकार के पक्ष को कौन बुद्धिमान् अंगीकृत करेगा[१]।

क्योंकि यदि सभी ही ज्ञान अपने विषय के तथात्व के अवधारण के लिए स्वयं के असामर्थ्य का अनुभव करते हुए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रखने लगेगें, तो कारणगुण-ज्ञान, संवाद-ज्ञान व अर्थ-क्रिया-ज्ञान भी अपने विषयनिष्ठ गुण आदि के अवधारण के लिये इतर ज्ञान की अपेक्षा करने लगेगें—इस प्रकार हजारों जन्मों में भी कोई अर्थ जब निश्चित नहीं हो सकेगा, तो प्रामाण्य अपने आप उच्छिन्न हो जायेगा।

इस अनवस्था की परावृत्ति के लिये अर्थ-क्रिया—ज्ञान की स्वतः प्रमाणता भी यदि स्वीकृत की गई तो, कोई खास विशेषता उत्पन्न नहीं हो सकेगी। क्यों कि यद्यपि अर्थक्रिया की फल—रूपता के कारण उसमें अप्रामाण्य की शंका का अवकाश नहीं—पर स्वप्नावस्था में जल लाना, जल पीना आदि क्रियायें उसे भी व्यभिचरित कर ही देती हैं। यदि केवल सुख ज्ञान को अव्यभिचरित समझ कर उस तक ही अर्थ-क्रिया को सीमित कर दिया जायेगा—तो उससे भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य अध्यवसित नहीं किया जा सकेगा। स्वप्न में प्रिया-संग के

---

[१] "परापेक्षं प्रमाणत्वं—नात्मानं लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति॥
शा० दी० ७७ पे०

विज्ञान से सुख होता है—व उसका ज्ञान भी होता है—पर उस सुख-ज्ञान के मिथ्यात्व ने उस ज्ञान में अप्रामाण्य निहित कर ही रखा है। इसलिए यही मानना उपयुक्त है कि प्रामाण्य स्वतः ही प्राप्त होता है—पर यदि कारण-दोष-ज्ञान आदि से उसमें अन्यथात्व आ जाता है—तो वह प्रामाण्य नष्ट हो जाता है।

यही उपपन्न भी है—व वस्तुतः चोदना के प्रामाण्य में यह स्वतः-प्रामाण्य ही हेतु है। क्योंकि जब स्वतः प्रामाण्य स्वीकृत नहीं किया जायेगा, व परतः प्रामाण्य ही माना जायेगा—ऐसी परिस्थिति में चोदना-विहित विषयों के अन्य-प्रमाणों से प्रमाणित करने के सामर्थ्य के अभाव में चोदना का प्रामाण्य कदापि संभव नहीं होगा—जब कि प्रामाण्य स्वतः अंगीकार किया जाता है—तब तो चोदना से प्रतिपादित विषय के बाध-प्रत्यक्षत्व के अभाव में, व अपौरुपेय होने की दृष्टि से दोषों के प्रवेश तक की संभावना न रहने के कारण चोदना का स्वतः प्रामाण्य सर्वतः सिद्ध रहता है—इसी आशय को कुमारिल भट्ट ने [1] व्यक्त किया है। इस प्रकार जब कि प्रामाण्य स्वतः सिद्ध रह जाता है, तो चोदना के भी प्रामाण्य की इतर साधनों से परीक्षा लेने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

ऊपर प्रतिपादित सभी विषयों को भट्ट ने यों स्वीकृत किया है:—

१–A "तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्वं, तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥
प्रत्ययोत्पत्तिहेतुत्वात, प्रामाण्यं नापनीयते।"

B "परतस्तु कारणदोषादयथार्थलक्षणमप्रामाण्यमिति दोषाभावाद्धेदस्य यथार्थत्वमिति" पार्थसारथिः-(न्यायरत्नमाला ४८)

जातेऽपि यदि विज्ञाने, तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत्कारणशुद्धत्वं, न प्रमाणान्तराद् भवेत् ॥
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः, प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ॥
तस्यापि कारणे शुद्धे तज्ज्ञाने स्यात् प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीच्छंश्च, न क्वचिद् व्यवतिष्ठते ॥
यदा स्वतः प्रमाणत्वं, तदान्यन्नैव गृह्यते ।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः ॥
तस्माद् बोधात्मकत्वेन, प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ इति ॥

७—प्रमाण-परिच्छेद

प्रमाण का लक्षण और उसकी संगति

तार्किक भाषा में प्रमा—कारण को प्रमाण कहा जाता है—यहां प्रमा से अज्ञात तथा सत्यभूत पदार्थ का ज्ञान अभिप्रेत है। अर्थात् आपका वह ज्ञान जिसे आप पहले नहीं जान सके हैं, और वस्तुतः उसी रूप में हो रहा है—जिस प्रकार की वह वस्तु है, प्रमाण है। संक्षेप में जहां जो वस्तु हो—उसका उसी रूप में अनुभव करना ही प्रमा है। उस ज्ञानकी नवीनता व उसके कारणों में दोषबाधक—ज्ञान का अभाव अनिवार्य है। जैसा कि शास्त्रदीपिकाकार ने कहा है—"कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रामाण्यम्"। यहां पर बार बार ज्ञान की अज्ञातता या नूतनता इसलिए आवश्यक समझी गई है कि अनुवाद और स्मृति इन सापेक्ष ज्ञानों में मौलिक रूप से प्रमाणत्व न आ सके, क्योंकि इनका विषय कोई नवीन पदार्थ नहीं, अपितु प्रतिपादित पदार्थ है। उस ज्ञान को प्रामाण्य के लिए सत्यता की भी अपेक्षा करना अनिवार्य है। अन्यथा मान लीजिये—सामने रस्सी पड़ी है—उसे यदि आप रस्सी ही समझ रहे हैं—तो आपका यह अनुभव यथार्थ है—प्रमा है—सत्य है—पर आप यदि उसे सांप समझने लगते हैं—तो आपका यह अनुभव सर्वथा असत्य है—इसीलिए वह अयथार्थ ज्ञान कहा जायेगा।

भ्रम व संशयात्मक ज्ञान इसीलिए तो प्रमाण कोटि में प्रविष्ट नहीं होपाते। इस प्रकार के अनुभवों को जहां पर वस्तु का अभाव रहने पर भी उसके ज्ञान की प्रतीति होती हो—अयथार्थ-ज्ञान या अप्रमा कहा जाता है—जिसकी गणना प्रमाण से विपरीत दिशा में है। संक्षेप में विषय की यथार्थ रूप से (हूबहू) प्रतीति अर्थात् सांप

को सांप व रस्सी को रस्सी समझना ही प्रमा ज्ञान है व इसके सर्वथा विपरीत-विषय के उस प्रकार नहीं रहते हुए भी रस्सी को सांप या सांप को रस्सी समझना वास्तविकता-शून्य होने के कारण अप्रमा है। इसी प्रमा के अतिशय उपकारक प्रकृष्टतम साधन को प्रमाण कहा जाता है—अर्थात् वह साधन इस प्रकार हो—जिसका संपर्क होते ही क्रिया की फल-निष्पत्ति होजाये—बीच में किसी के व्यवधान के प्रवेश की संभावना न हो। जैसे राम के बाण से रावण मारा गया—यहां पर मारने रूप क्रिया का बाण इस प्रकार का प्रकृष्टतम साधन है—जिसके संपर्क होने पर बिना किसी गुँजाइश के हनन-क्रिया शीघ्र सपन्न हो जाती है—ठीक इसी प्रकार प्रमाण के संसर्ग होते ही प्रमा-ज्ञान यथा-शीघ्र उत्पन्न होजाता है।

प्रमाण की आवश्यकता और महत्व

लौकिक व्यवहार ही से हम अनुभव कर सकते हैं कि प्रमाण का कितना महत्व है। यथार्थ-ज्ञान अर्थात् वस्तु-स्थिति के ज्ञान के लिए वह एक कितना महत्त्वपूर्ण साधन है। ज्ञान का वह एक प्रकार का मापदंड है—वह एक इस प्रकार का तराजू है—जो यथार्थ और अयथार्थ को पलडे पर रख कर पृथक् पृथक् कर देता है—वह एक अलौकिक हंस है—जिसकी नीरक्षीरविवेकिता लोक-शास्त्र-प्रसिद्ध है। यह एक इस प्रकार की कसौटी है—जिस पर कस कर ज्ञान की वास्तविकता परखी जाती है, इसी लिए तो इसे संपूर्ण पदार्थों का व्यवस्थापक या ज्ञान-सामान्य का निर्णायक कहा[१] गया है व ज्ञान की यथार्थता की सिद्धि इसी के आधीन प्रकट की गई है। जहाँ देखते हैं—इसी का साम्राज्य फैला हुआ है—न्यायाधीश न्याय के आधार रूप में इसे ही स्वीकार करता है—व प्रमाण मांगता है। इसी यथार्थ ज्ञान के साधन को आज-कल राजदूत, अध्यापक व हर एक व्यक्ति को अपने क्रिया-कलाप के

१—प्रमाणस्य सकलपदार्थव्यवस्थापकत्वम् (विश्वनाथ)

वास्तविक परिचय देने के लिए उपस्थित करना पड़ता है—व हर एक बात के लिए प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना पड़ता है। इसी से इसकी उपादेयता व व्यापकता का परिचय सुशक है। इसके इसी महत्व को लेकर नैयायिकों ने तो इसे ईश्वर के समकक्ष तक ठहरा दिया है। अर्थ के निर्णय करते समय इसे १—इन्द्रियों की स्वच्छता व २—हेतुओं की (कारणों की) सत्यता की अनिवार्य अपेक्षा रहती है।

प्रमाणों की परिगणना

इनकी संख्या के विषय में विभिन्न दार्शनिकों में भिन्न भिन्न मत हैं—पर इसका महत्व सब के लिए समान रूप से शिरोधार्य है। चार्वाक दर्शन भूत-वादिता के आधार पर एक मात्र प्रत्यक्ष, वैशेषिक प्रत्यक्ष व अनुमान, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द, न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द, व उपमान, प्रभाकर-मीमांसा संप्रदाय—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान व अर्थापत्ति तथा भट्ट-मीमांसा व उत्तर मीमांसा-संप्रदाय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि इन छै प्रमाणों को अङ्गीकार करता है—जिनकी स्थापना प्रबल तर्कों के आधार पर की गई है।

१५

प्रत्यक्ष का विवेचन

जैसा कि शाब्दिक व्युत्पत्ति से प्रकट हो रहा है (अक्षिणी प्रति-प्रत्यक्षम्) इस प्रमाण का साक्षात् संबन्ध इन्द्रियों (अक्ष) से है—व यह ज्ञान के तथात्व-निर्णय का सब से स्थूल साधन है। इसी लिए "आँख्या देखी परशुराम कदे न झूंठी होय" इस लोकोक्ति के अनुसार या आधार पर "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" आदि युक्तियां प्रचलित हैं—जो इस ज्ञान को सर्वथा असंदिग्ध सिद्ध करती हैं। संक्षेप में—किसी विद्यमान पदार्थ से इन्द्रियों का संबन्ध (साक्षात्) होने पर जो बुद्धि

उत्पन्न होती है—वह ज्ञान [1] प्रत्यक्ष है। जिस प्रकार सामने मौजूद घट के साथ चक्षु के संयोग होने पर जो घड़े का ज्ञान उत्पन्न होता है—वह प्रत्यक्ष है। सीप में जहाँ चाँदी का ज्ञान होता है—वहाँ सीप वस्तुतः विद्यमान नहीं होती, अतएव विद्यमान के साथ इन्द्रियों का संयोग नहीं होने के कारण इस प्रकार के भ्रांति-भरित ज्ञानों की प्रत्यक्षता नहीं कही जाती—अनुमान आदि में तो विषय का इन्द्रियों के साथ संबन्ध तक नहीं होता। इंद्रियों से साक्षात् संबन्ध हो जाने के कारण इस ज्ञान को सापेक्ष नहीं कहा जा सकता, यह किसी भी ज्ञान पर आधारित नहीं है।

अनुमान ज्ञान भी मनोजन्य है—और मन एक इन्द्रिय है—किन्तु उस इन्द्रिय के साथ विषय का साक्षात् संबन्ध नहीं होता। अतएव उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। सुख का प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय ही की सहायता से होता है—वह इन्द्रिय मन है—जिससे साक्षात् संबन्ध होने पर सुख का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए सुख दुःख की प्रतिपत्ति के साधन रूप से मन को [2] परिभाषित किया गया है।

प्रत्यक्ष के भेद

यही प्रमाण सर्वातिशायी है, व सबका मूल है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—१-निर्विकल्पक, २-सविकल्प। इन्द्रिय संनिकर्ष के बाद ही विशेषण विशेष्य भाव से रहित विषय स्वरूप मात्र का ग्राहक शब्दानुगम से शून्य संमुग्ध आकार वाला ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है—अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान में केवल किसी सत्ता मात्र ही की उपलब्धि होती है—उसकी प्रकारता या विशेषता आदि की नहीं। जिस प्रकार शिशुपालवध में प्रारंभ में अवतरित होता हुआ नारद पहले एक तेजः

१—सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि-जन्म तत्प्रत्यक्षम्। (शबर)।

२—"सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः" इति।

३—"रूपूर्वकत्वाच्चानुमानाद्यमि"

पुंज के रूप में दिखाई देता है—उसकी कोई विशिष्टता उस समय प्रतीत नहीं होती—फिर धीरे २ कभी अग्नि, कभी सूर्य आदि की कल्पना करते करते वह जैसे तैसे बहुत देर बाद पुरुष रूप में परिज्ञात होता है—व फिर नारद रूप में। इस ज्ञान की प्रथम अवस्था में केवल तेजःपुंज मात्र दृष्ट था—उसके संबन्ध में कोई विशिष्ट ज्ञान नहीं था।

इसलिए इस प्रकार के ज्ञानों को निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है। यह समुग्ध आकार वाला अर्थात् एक पिण्ड-स्वरूप या अनिर्णीत स्थिति में प्रकट होता है—इसका प्रत्यक्ष सीधा होता है। जिस प्रकार एक अज-ज्ञान बालक हाथी को देखता है—पर वह उसके विषय में कुछ भी नहीं जानता, उसके सामने एक काले काले मोटे भारे पिण्ड स्वरूप मात्र की उपस्थिति है—उसकी जाति, उसके नाम—व गुणों से उसका कोई भी सम्बन्ध अवगत नहीं—इसी लिए विशेष्य-ज्ञान से शून्य प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक कहा जाता है। यही ज्ञान की प्राथमिक अवस्था है।

सविकल्पक

जब ज्ञान की यही अवस्था इतर उपकरणों से परिपुष्ट होती चली जाती है—व उसका विशेषण, नाम, गुण-क्रियाओं से संबन्ध होता चला जाता है—तो उसे सविकल्पक कहा जाता है—जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में नारद का परिज्ञान। यह सविकल्पक ज्ञान पाँच प्रकार के विकल्पों से प्रतिभासित होता है—जाति—जैसे नारद के लिए—पुरुष यह जाति, वीणापाणि यह द्रव्य, तेजस्वी गुण, तपस्वी क्रिया व नारद यह नाम विकल्प है। इन्हीं पाँच विकल्पों के आधार पर सविकल्पक ज्ञान स्थित है।

निर्विकल्पक ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञानका आधार है—वह एक इस प्रकार का विस्तृत मैदान है—या विस्तृत पृष्ठ-भूमि है—जिस पर अनेक क्रिया, विशेषण, नाम आदि अवस्थित हैं। क्रिया, नाम, विशेषण

गुण आदि एक विविध प्रकार के रंग है—जिनका संपर्क होने पर विस्तृत ज्ञान को एक सीमा में चित्रित कर दिया जाता है।

निर्विकल्पक की स्थापना व सविकल्पक का खंडन

बौद्ध संप्रदाय निर्विकल्पक की ही प्रत्यक्षता स्वीकृत करता है—सविकल्पक को नहीं, क्योंकि वह तो निर्विकल्पक के बाद उत्पन्न होता है। प्रमाण का अनधिगत अर्थ का बोध कराना स्वभाव है। सविकल्पक के द्वारा जब निर्विकल्पक से अधिगत अर्थ ही बताया जाता है—तो फिर उसकी प्रत्यक्ष-प्रमाणता किस प्रकार स्वीकृत की जा सकती है। यही निर्विकल्पक सविकल्पक ज्ञान के प्रति निमित्त है—जिसके द्वारा स्वरूप मात्र का ग्रहण कराया जाता है। भावों के इसी आत्मीय स्वरूप मात्र को बौद्धों के पारिभाषिक शब्दों में [१] स्वलक्षण नाम से संबोधित किया जाता है।

इसी स्वलक्षण का विशद ज्ञान जाति, नाम आदि से संबन्धित होने पर होता है—उसके लिए इसको सविकल्पक की शरण लेनी या उसकी देन कहना उचित नहीं। क्योंकि यह तो निर्विकल्पक का ही विशद रूप है—और उसी के संसर्ग से समुत्पन्न है—जिस तरह अचेतन भी बुद्धि आत्मा के संबन्ध से चेतन रूप में उपस्थित होती है—उसी तरह अविशद रूप से अवभासित हो रहा भी सविकल्पक प्रत्यय अपने से पूर्व उत्पन्न, अपने मूल कारण भूत निर्विकल्पक प्रत्ययके संबन्ध से विशद अवभास की तरह प्रतीत होता है। यदि इस सविकल्पक की यह विशदता निर्विकल्पक की देन नहीं मानी जायेगी, तो उसके संसर्ग से रहित शब्द-ज्ञान और अनुमान से भी इसकी अवस्थिति होने लगेगी। पर नहीं होता—इसीसे पता चलता है कि सविकल्पक की जो विशदता है—वह निर्विकल्पक के साथ हुए संबन्ध की देन है—इसलिए निर्विकल्पक ही जब विशद स्वरूप का प्रकाशक है—

१—इह भावानामन्यासाधारणमात्मीयं यत्स्वरूपं तत्स्वलक्षणं-प्रसन्नपदा।

तो उससे अतिरिक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष मानने की क्या आवश्यकता है? धर्ममूर्ति ने कहा भो है—

"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः॥ इति॥

सविकल्पक-स्थापना

बौद्धों के इस सिद्धान्त का खंडन कर विचार-शास्त्रियों ने कुशलता के साथ सविकल्पक प्रत्यक्ष की स्थापना की है। वे कहते हैं—जाति गुण व क्रिया से संबन्धित यह ज्ञान वस्तुतः सविकल्पक की ही देन है—जिस विशेषता के उत्पादक होने के कारण निर्विकल्पक मूलक होने पर भी इसमें प्रत्यक्षता अनिवार्य रूप से आ ही जाती है। सविकल्पक की विशदता के अन्य संसर्ग से उत्पन्न होने में कोई प्रमाण नहीं है। यह कोई नियम भी नहीं—कि जो चीज जिससे पैदा हो—उसमें उसकी सभी बुराई भलाई यों के यों रहें। कीचड़ से पैदा होने वाले कमल की सुगंधि को कीचड़ को देन नहीं कहा जा सकता। इसकी प्रत्यक्षता में प्रत्यक्ष व युक्तिसंगत तर्क भी हैं। दूर ही से किसी सफेद व्यक्तिमात्र को देखते हुये जब तक उसने यह गाय है—या घोड़ा है—यह निश्चित नहीं किया—वही पुरुष जब उसके हिनहिनाने शब्द को सुनता है—तो उसे सुन कर उसी स्वलक्षण में वह घोड़ेपन का अनुमान करत है—भी अश्वत्वज्ञान परोक्ष नहीं होता—इसीलिए लोक-व्यवहार में भी प्रचलित है, यह तो घोड़ा है, पर आँखों से इस रूप में नहीं दिखाई देता।

जब उसी के नजदीक आता है—तो कहता है—इस समय इसके अश्वत्व को आँखों से देख रहे हैं। इन्हीं उदाहरणों से यह पता चलता है कि यह भेद-व्यवहार व्यक्तिगत नहीं, अपितु जातिजन्य है—जिसके विकल्प के कारण हमें सविकल्पक प्रत्यक्ष अंगीकार करना अनिवार्य है। सम्बन्ध ग्रहण करने वाले सविकल्पक के प्रत्यक्ष होने के कारण ही प्रत्यक्ष की अनुमानमूलकता उपपन्न है।

निर्विकल्पक का खंडन

जब कि निर्विकल्पक ज्ञान से किसी का भी व्यवहार सिद्ध नहीं होता—तो फिर निर्विकल्पक को स्वीकार करने की अनावश्यकता को ध्यान में रखते हुए वैयाकरणों ने केवल सविकल्पक ही को स्वीकार किया है—भर्तृहरि ने कहा भी है:—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ इति

कुछ अन्य लोगों ने भी कहा है—कि जाति आदि की योजनाओं से रहित निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहना उपयुक्ततर नहीं, क्योंकि जब हम जाति और गुण को ही प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख रहे हैं—तो उनसे रहित प्रत्यक्ष फिर क्या रह जाता है।

निर्विकल्पक स्थापना

किन्तु यह सब वास्तविक प्रतीति के सर्वथा विपरीत है—विषय का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हो जाने के बाद एक सामान्य विशेष की विवेचना से रहित व विशेषण विशेष्य के संबन्ध से शून्य संमुग्ध वस्तु-मात्र गोचर आलोचन ज्ञान होता ही है—जिसे स्वीकार करना उपयुक्त है—अन्यथा उसके अभाव में सविकल्पक की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। क्योंकि जब तक 'घटघटत्वे' आदि समूहालंबनात्मक ज्ञान नहीं होगा—तब तक घटत्वरूप विशेषता से युक्त घट रूप विशेष्य का सविकल्पक रूप से ज्ञान नहीं हो सकेगा। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति जिस प्रकार नहीं होती। सविकल्पक ज्ञान को करने वाले पुरुष के द्वारा निर्विकल्पक से ज्ञात जाति विशेष या संज्ञा-विशेष का अनुस्मरण करके उससे सामने स्थित वस्तु या व्यक्ति को संबन्धित कर "गाय जाति से युक्त गाय" (गोत्वविशिष्टो गौः) आदि प्रकारों से सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करना चाहिए। इसी आशय को न्याय-रत्नाकर में भी कहा गया है:—

(तदभावेहि निर्निमित्तं शब्दस्मरणं स्यात् । अस्मृत शब्दस्य च न शब्दानुबिद्धो विकल्पः संभवतीति)

इसलिए सविकल्पक से पहले जात्यादि से रहित पदार्थ मात्र का बोधक निर्विकल्पक अवश्य स्वीकृत करना चाहिए—अन्यथा अज्ञात ही जाति आदियों के साथ सामने स्थित वस्तु को किस प्रकार विशिष्ट या संबन्धित किया जा सकता है। जाति आदि को नहीं देखने वाले पुरुष को उनका स्मरण भी कैसे हो सकता है—क्योंकि अनुभव ही स्मरण का मूल है—इसलिए जाति आदिका अनुभव स्वीकार कर ही लेना चाहिए।

निर्विकल्पक का केवल चैतन्यग्राहकत्व

निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार करते हुए भी अद्वैती उसके ग्राहक तथ्यों के विषय में पर्याप्त मतभेद रखते हैं—उनका कहना है कि शुद्ध चैतन्य के बिना निर्विकल्पक घट, घटत्व आदि विशेषों का ग्राहक नहीं बन सकता—क्योंकि भेद ग्रहण के बिना विशेषों का ग्रहण असंभव है। यह भेद-ग्राहकता सविकल्पक में ही रहती है—इसलिए यह सब कार्य सविकल्पक ही का है। इस भेद का संबन्ध भी इतरेतराभाव (एक दूसरे का अभाव) से ही है—इसलिए अभाव के अनुपलब्धि-प्रमाण-गम्य होने के कारण इस भेद का ग्रहण निर्विकल्पक से तो कब हो सकता है—जब कि प्रत्यक्ष ही से नहीं हो पाता। इसलिए तो "नेह नानास्ति किंचन—एकमेवाद्वितीयम्" आदि अद्वितीय ब्रह्म-प्रतिपादक श्रुतियां उपपन्न हैं—अन्यथा यदि प्रत्यक्ष ही भेदग्राहक होने लगेगा, तो इन अभेद-बोधक श्रुतियों का प्रत्यक्ष-विरोध होने के कारण अप्रामाण्य होने लगेगा। अनुपलब्धि-प्रमाण से चाहे भेदका ग्रहण होता भी हो, पर वह शब्दकी अपेक्षा अत्यन्त निर्बल प्रमाण है—इसलिए वह श्रुति के प्रामाण्य में बाधा नहीं पहुँचा सकती। और यदि मान लीजिये, प्रत्यक्ष की भेद-ग्राहकता भी स्वीकार करें—तो भी वह एक मात्र

व्यावहारिक भेद ही को ग्रहण करा सकता है—अतएव उसका पारमार्थिक अभेद-बोधक श्रुति से विरोध नहीं कहा जा सकता—क्योंकि उसके लिए समानविषयत्व अपेक्षित है। वह अभेद-श्रुति में बाधक भी[१] नहीं बन पाता। इसलिए इस भेद के निरूपण में अशक्यता आने के कारण प्रत्यक्ष केवल सन्मात्र (शुद्ध चैतन्य स्वरूप) ही का ग्राहक है।

निर्विकल्पक की भेद-ग्राहकता

यह एक व्यावहारिक समस्या है—जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती—क्या आपको नीले और पीले में भेद नहीं दिखाई देता—यदि नहीं, तो आप जैसे लोक के सर्वथा विपरीत जाने वालों से फिर कुछ कहना ही नहीं है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" ये सब वाक्य तो ब्रह्म की प्रशंसा करने वाले हैं—न कि उसके अद्वैत के प्रतिपादक हैं।

निर्विकल्पककी व्यक्तिमात्रग्राहकता

बौद्ध लोगों का कहना है कि निर्विकल्पक से केवल स्वलक्षणमात्र (व्यक्ति) का ही बोध होता है—वह स्वरूप से भी विशेषण का ग्रहण नहीं कर सकता है। "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्" इस न्याय से वह ज्ञान स्वलक्षण को ग्रहण करने के बाद विशेषण के स्वरूप मात्र को भी नहीं ग्रहण कर पाता—इसलिए जब आपके मत में दूसरा ज्ञान सविकल्पक विशेषण स्वरूप का ग्रहण करता है—तो परिशेषात् निर्विकल्पक ज्ञान स्वयं स्वलक्षण मात्रका बोधक रह जाता है। एक ही ज्ञान से दोनों बातें हो भी तो नहीं सकतीं—कि एक ही

१—भेदोऽयं भिन्नधर्मिप्रतिभटविषयज्ञानजज्ञानवेद्यो—
धर्म्यादेर्भेदसिद्धिः पुनरपि च तथेत्यापतेच्चानवस्था।
भेदे धर्म्याद्यभेदे बत भवति मृषा भेदबुद्धिर्विभेदे—
प्रादुःष्युः पूर्वदोषा न च गतिरपरा तेन भेदो मृषैव॥

ज्ञान गंध का भी ग्रहण करले और रस का भी—इसलिए इसे स्वलक्षण मात्र का ग्राहक मानना उपयुक्त है।

निर्विकल्पक और सविकल्पक में मौलिक भेद

किन्तु विचार–शास्त्रियों ने इसका भी विरोध किया है—क्योंकि इन्द्रियों का संबन्ध होते ही अचानक विशेष्य-विशेषण भाव से रहित एक वस्तु की प्रतीति होती है—फिर उसी वस्तु को यह गम्य है—इस जाति–यह दण्डी है–इस द्रव्य, यह सफेद है–इस गुण—यह जाती है–इस क्रिया–यह देवदत्त है यह नाम इस प्रकार इन पांच विकल्पों से संबद्ध किया जाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु का अनेक आकारों से संबन्ध रहता है—वह एक प्रकार से विशेष्य एवं विशेषण का अविभाजित लेखा है। सविकल्पक में इतनी विशेषता है—कि वह उन्हें पृथक् पृथक् रूप से विभाजित कर ग्रहण करता है। यह घट विशेष्य है–घटत्व इसका विशेषण है—इस प्रकार का विवेक निर्विकल्पक में नहीं होता। सविकल्पक में यह जाति का अंश है—यह व्यक्ति का अंश है—इस प्रकार पृथक् पृथक् विवेचन होता है। किन्तु यह अवश्य है कि निर्विकल्पक में भी ये सभी विषय निहित रहते हैं—जिनका अग्रिम क्षणों में प्रकाश होता है। यही इन दोनों में व्यावहारिक अंतर है और इन दोनों ही को स्वीकार करना आवश्यक है। ये उपरि-प्रतिपादित पाँचों विकल्प इस अन्तर के प्रतीक हैं।

इन पाँच विकल्पों के अतिरिक्त कुछ एक विद्वान् 'प्रत्यभिज्ञा" (पहचान) को छठे विकल्प के रूप में स्वीकार करते हैं, पर वस्तुतः वह एक प्रकार का नाम ही है, इसलिए उसका नाम–विकल्प में अन्तर्भाव हो जाता है। इन सब विकल्पों के द्वारा जब सविकल्पक में हमें निर्विकल्पक की अपेक्षा अत्यन्त विशेषताएं स्पष्ट रूप में प्रतीत होती हैं, फिर उसकी सर्वमान्य सत्ता में भला किसको संशय हो सकता है।

यह सविकल्पक एवं निर्विकल्पक इन दोनों भेदों से युक्त प्रत्यक्ष भी धर्म व अधर्म में प्रमाण नहीं बन सकता, क्योंकि धर्म व अधर्म का इन्द्रियों के साथ सत्संप्रयोग नहीं हो सकता। वह भावी है, अतएव केवल चोदना उसमें प्रमाण है।

सन्निकर्ष

विषय का इन्द्रियों के साथ प्रत्यक्ष ज्ञान में होने वाला यह संबन्ध सन्निकर्ष कहलाता है। यह मुख्य रूप से दो प्रकार का है- १-लौकिक २-अलौकिक। इनमें लौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है। १-संयोग, २-संयुक्त-तादात्म्य, ३-संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य। जहाँ इन्द्रियां द्रव्य को ग्रहण करती हैं-उस संबन्ध को संयोग-सन्निकर्ष एवं जहाँ द्रव्य में रहने वाली जाति-गुण या कर्म का ग्रहण होता है-उसे संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष कहा जाता है। भट्ट-मत में जाति, गुण एवं कर्म का द्रव्य के साथ तादात्म्य,[1] संबन्ध स्वीकृत है। यहाँ तादात्म्य से अभिप्राय नैयायिकों की तरह अत्यन्त अभिन्नता या पूर्ण एकता नहीं है, अपितु भेद से युक्त अभेद है। अर्थात् किसी अंश में भिन्नता है व किसी अंश में अभिन्नता भी है। इसी प्रकार गुणत्व और क्रियात्व का जहाँ ज्ञान करना होता है, वहाँ उस ग्रहण करने वाले संबन्ध को संयुक्त-तादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष कहा जाता है। भट्ट को ये तीन ही सन्निकर्ष मुख्य रूप से मान्य हैं।

इसी प्रकार अलौकिक सन्निकर्ष भी दो प्रकार का है। १-सामान्य-लक्षण, २-ज्ञानलक्षण। जहाँ पर इन्द्रिय से संबन्ध रखने वाले व्यक्ति में रहने वाली जाति का ज्ञान होने पर उस जाति के आश्रित संपूर्ण व्यक्तियों का ज्ञान होता है-वह संबन्ध सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष

१—आकृतिद्रव्ययोरत्यन्तभेदाभावात्। कदाचित् व्यक्तिरूपेण द्रव्यमभिधीयते, कदाचित्तु सामान्यरूपेण (तन्त्रवार्तिक)

२—द्रष्टव्य—तंत्रसिद्धान्तरत्नावलिः।

कहलाता है। इसी तरह "सुगन्धित चन्दन का टुकड़ा" आदि वाक्यों में चन्दन के टुकड़े में जो सुगन्धि का ज्ञान है, वह ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की देन है। समालोचक इन दोनों ही अलौकिक सन्निकर्षों का खंडन करते हैं। इन सन्निकर्षों से समुत्पन्न प्रत्यक्ष चोदना के अतिरिक्त सभी प्रमाणों का मूल आधार है।

अनुमान

जिस प्रकार धर्म और अधर्म में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं बन सकता, उसी प्रकार अनुमान भी। स्वाभाविक रूप से निश्चित संबन्ध वाले दो पदार्थों में व्याप्य के देखने पर इन्द्रियों से असंबद्ध विषय में जो ज्ञान होता है-उसे अनुमान कहा जाता है। व्याप्य से यहाँ अभिप्राय अधिक देश और काल में न रहने से है व व्यापक से अभिप्राय अधिक देश और काल में रहने से है। जिस प्रकार धूम और अग्नि का स्वाभाविक रूप से संयोग संबन्ध निश्चित है-उन दोनों में पहाड पर धुआँ दिखाई देती है-उस धुआँ को देखने पर नहीं दिखाई देने वाली (इन्द्रियों से असन्निकृष्ट) व्यापक आग में जो ज्ञान उत्पन्न होता है-वही अनुमान कहलाता है। इस उदाहरण में धुआं व्याप्य है, क्यों कि वह आग से रहित जल आदि में नहीं रहती और आग व्यापक है—क्योंकि वह धुआँ के नहीं रहते हुए भी लोहे के गोले में देखी जाती है।

अनुमान यह नाम भी इसी लिए पडा है। अनु का अर्थ पीछे और मान का अर्थ ज्ञान है। अर्थात् किसी एक बात के जान लेने पर उसी के द्वारा जब दूसरी बात भी जानी जाती है-तो वह ज्ञान पीछे होने वाला ज्ञान होने के कारण अनुमान कहलाता है। पहाड़ पर धुआं उठ रहा है—वह प्रत्यक्ष है, किन्तु आग प्रत्यक्ष नहीं है—फिर भी प्रत्यक्ष धुआं के आधार पर अप्रत्यक्ष आग का ज्ञान हो जाता है। उस पहाड़ में रहने वाली आग का निशान धुआं है, इसलिए धुआं को लिंग कहा

जाता है। वह धुआं जिस वस्तु का परिचय देती है—वह वस्तु (आग) उसका लिंगी है।।

व्याप्ति

लिंग और लिंगी के इस संबन्ध—नियम को-जिस पर अनुमान आधारित है—व्याप्ति कहा जाता है। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी वि+आप्ति अर्थात् विशिष्ट प्रकार से प्राप्ति या विशिष्ट संबन्ध अर्थ इसका होता है। धुआं को देख कर आग का अनुमान किया जाता है, क्यों कि सब जगह धुआं के साथ आग देखने में आती है। रसोई घर में धुआं है, तो वहां आग भी है। इस प्रकार आग और धुआं का यह जो अटूट साहचर्य है—वह व्याप्ति है। जो इस संबन्ध से परिचित नहीं है—वह धुआं देख कर भी आग का अनुमान नहीं लगा सकता। इसीलिए व्याप्ति को अनुमान की आधार—स्थली मानना युक्ति-संगत है। मीमांसक इसी को अनुमिति भी कहते हैं—जब की नैयायिक इसे परामर्श नामक एक बीच की चीज स्वीकार करते हुए उससे उत्पन्न पृथक् वस्तु स्वीकार करते हैं।

यह व्याप्ति दो प्रकार की है-१—अन्वय-व्याप्ति २—व्यतिरेक-व्याप्ति। जहाँ साधन के रहने पर साध्य भी रहें-वहाँ अन्वय-व्याप्ति होती है। जैसे-जहाँ जहाँ धुआं रहती है, वहाँ वहाँ आग भी है—इस उदाहरण में धुआं साधन है और उसके रहते हुए साध्य आग भी विद्यमान है इसलिए इसको अन्वय-व्याप्ति कहा जाता है। इसके ठीक विपरीत जहाँ साध्य के न रहने पर साधन भी न रहता हो, वहाँ व्यतिरेक-व्याप्ति होती है। जैसे-जहाँ जहाँ आग नहीं है-वहाँ वहाँ धुआं भी नहीं रहती। प्रथम अन्वय-व्याप्ति है, क्योंकि वहाँ एक दूसरे का अन्वय अर्थात् साहचर्य है और द्वितीय व्यतिरेक-व्याप्ति है-क्योंकि वहाँ एक दूसरे का व्यतिरेक अर्थात् अविनाभाव (वह नहीं है, तो वह भी नहीं है) है। रसोई-घर अन्वय-व्याप्ति का उदाहरण है, क्योंकि

वहाँ धूआं है, तो आग भी है। जलाशय व्यतिरेक का उदाहरण है, क्यों कि वहाँ आग भी नहीं है, तो धूआं भी नहीं है।

तीन हेतु

इस प्रकार की व्याप्ति से विशिष्ट हेतु तीन प्रकार के होते हैं—१—अन्वयव्यतिरेकी, २—केवलान्वयी, ३—केवलव्यतिरेकी। जिसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति हों-उसे अन्वय-व्यतिरेकी कहा जाता है। जैसे-जहाँ जहाँ धूआं है, वहां वहां वन्हि है, (अन्वय) जहां जहां आग नहीं है, वहां वहां धूआं भी नहीं है (व्यतिरेक) ये दोनों व्याप्तियां "पर्वत आग वाला है" इस अनुमान में मिलती हैं—अतः यह हेतु (धूम) अन्वयव्यतिरेक हुआ। जहां केवल अन्वय ही उपलब्ध होता है, व्यतिरेक नहीं-उसे केवलान्वयी कहा जाता है। जैसे-घट प्रमेय (जानने योग्य) है, अतएव अभिधेय (संज्ञावाला) भी है। इस अनुमान में व्यतिरेक नहीं मिलता। क्यों कि जो जो वस्तुएँ प्रमेय हैं, वे अभिधेय भी हैं (अन्वय)। पर यह नहीं है कि जो जो अभिधेय नहीं हैं वे प्रमेय भी नहीं, क्यों कि जो अभिधेय नहीं हो-ऐसा कोई पदार्थ ही देखने में नहीं आता। इस व्यतिरेक के न मिलने के कारण ही इस प्रकार के स्थलों में केवलान्वयी माना जाता है। इस तरह जहां केवल व्यतिरेक ही मिलता है, अन्वय नहीं-उसे केवलव्यतिरेकी कहा जाता है। जैसे-पृथ्वी अन्य सबसे भिन्न है, क्योंकि वह गन्धवाली है। यहां पर जो जो गन्धवाली है, वह वह अन्य सबसे भिन्न है-यह अन्वय दृष्टान्त नहीं प्राप्त होता। पृथ्वी पक्ष है, और दृष्टान्त सदा पक्ष से अतिरिक्त हुआ करता है। व्यतिरेक अवश्य मिलता है। कुछ एक मीमांसक पक्ष दोषात्मक हेत्वाभास में अन्तर्भाव करते हुए केवलव्यतिरेकी को स्वीकार नहीं करते। कुछ एक अर्थापत्ति से ही गतार्थ करते हुए व्यतिरेक व्याप्ति तक को नहीं मानते। उनके इस मंतव्य का समर्थन महामहोपाध्याय श्री चिन्न[1]-स्वामी शास्त्री ने भी किया है।

१—देखिये-तंत्रसिद्धान्त-रत्नावली-पृष्ठ ५६
(इदमेव च युक्तं प्रतिभाति)

अनुमान के भेद

यह अनुमान मुख्य रूप से दो प्रकार का है—१-स्वार्थानुमान, २-परार्थानुमान। जहाँ स्वयं ही हेतु को देख कर व्याप्ति आदि के स्मरण से साध्य का अनुमान कर लिया जाता है, वहाँ स्वार्थानुमान होता है। यह अनुमान अपने बोध के लिए किया जाता है, इसलिए इसे स्वार्थानुमान कहा जाता है व इसमें प्रतिज्ञा और उदाहरण की आवश्यकता नहीं रहती। जो अनुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है-उसे परार्थानुमान कहा जाता है। यहाँ पर अनुमान के द्वारा जाने हुए अर्थ को दूसरे को समझाने की दृष्टि से वाक्य का उच्चारण किया जाता है। इस वाक्य के प्रतिज्ञा (पक्ष को साध्य से विशिष्ट बना कर कहना) हेतु (लिंग बताने वाला वाक्य) उदाहरण (दृष्टान्त देते हुए व्याप्ति बताने वाला वचन) उपनय (हेतु का पक्ष के साथ संबन्ध करके कहना) निगमन (पक्ष को हेतु और साध्य से संमिलित करना) ये पांच अवयव नैयायिक स्वीकार करते हैं। पर्वत अग्नियुक्त है-यह प्रतिज्ञा, क्यों कि वह धूमयुक्त है-यह हेतु, जो जो धूआंवाला है, वह वह आगवाला है-जैसे-रसोई घर-यह उदाहरण, पर्वत भी इसी प्रकार धूमवाला है यह उपनय और इसलिए पर्वत भी आगवाला है-यह निगमन का उदाहरण है। इनके स्थान पर मीमांसक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन ही को स्वीकार करते हैं, क्यों कि निगमन का अन्तर्भाव प्रतिज्ञा और उपनय का अन्तर्भाव हेतु में हो जाता है-जिसका स्वरूप निम्न रूप से है-

"पर्वत आगवाला है, क्यों कि वहाँ धूआं है। जो जो धूआं वाला होता है, वह वह आगवाला होता है—जैसे—रसोई—घर"।

अनुमान के ये दो भेद प्रयोजन के आधार पर किये गये हैं। सामान्य रूप से उसके दो अन्य भेद और हैं-१—विशेषतो-दृष्ट संबन्ध, २—सामान्यतो दृष्टसंबन्ध। विशेषतो—दृष्ट-सबन्ध में दो विशेष वस्तुओं का संबन्ध-गृहीत होता है-जैसे—पर्वत धूआँवाला है-यहां

पर धूआं और अग्नि का। सामान्यतो-दृष्ट में केवल सामान्य ज्ञान के बल पर संबन्ध की स्थापना करते हुए लिंगी का अनुमान किया जाता है। जैसे-आत्मा के अस्तित्व का अनुमान इच्छा आदि के द्वारा होता है। इच्छा आदि गुण हैं और वे विना आधार के नहीं रह सकते। अतः सामान्य ज्ञान के बल पर वह आधार आत्मा के रूप में प्राप्त हो जाता है। यद्यपि वह अप्रत्यक्ष है। देवदत्त चाल के कारण दूसरे देश में पहुँचता है-इस सामान्य ज्ञान के आधार पर सूर्य भी एक देश से दूसरे देश पर देखा जाता है-इसलिए उसमें भी गति का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार के अनुमान सामान्यतो-दृष्ट इसी सामान्य-ज्ञान के कारण कहलाते हैं।

हेत्वाभास

अनुमान सदा सच नहीं हुआ करते-यह हम बहुधा देखते हैं। इनके असत्य होने का सबसे बड़ा कारण अनुमान के लिए प्रस्तुत किये गये हेतुओं का दोषपूर्ण होना है। हेतुओं में होने वाले उन दोषों को हेत्वाभास कहा जाता है। ये हेत्वाभास तीन प्रकार के हैं—१-असिद्धि, २—अनैकान्तिक और तीसरा बाधक। नैयायिक इन तीन के स्थान पर पाँच हेत्वाभास स्वीकार करते हैं। मानमेयोदयकार असाधारण नामक एक चौथे हेत्वाभास को और मानते हैं—जब कि पार्थसारथि मिश्र इसका खंडन करते हैं। इन सब के विशिष्ट अध्ययन के लिए शास्त्र-दीपिका (१-१-५ पृ० ६६) के इस अंश का अध्ययन करना चाहिये।

शाब्द

प्रत्यक्ष और अनुमान के अनन्तर तीसरा प्रमाण शाब्द प्रमाण है। शब्द का जो महत्व है और जिस शक्ति के कारण वह प्रमाण कहलाता है-उसका विस्तृत विवेचन हम शब्द-खंड में कर चुके हैं। यह एक स्वतन्त्र प्रमाण है-क्योंकि शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि के विश्वसनीय वचनों से जो ज्ञान प्राप्त होता है-वह न तो प्रत्यक्ष ही कहा जा सकता

है और न अनुमान ही। इस दृष्टि से पद के सुन लेने के अनन्तर पद और पदार्थ के संबन्ध जानने वाले पुरुष के पदार्थ-स्मृति होने पर उन्हीं स्मरण किये हुए पदार्थों से अज्ञात और अबाधित अर्थ वाले विशिष्ट वाक्यार्थ का-जो ज्ञान होता है, उसे शाब्द प्रमाण कहा जाता है-जिसका उत्पादक शब्द है। संपूर्ण शास्त्र इसके उदाहरण हैं।

दो धाराएँ

इसी शब्द में जब अर्थ बताने की विशेष शक्ति आ जाती है, तो यह पद कहलाने लगता है। इस पद के द्वारा पदार्थों का बोध कराया जाता है। ये ही पदार्थ लक्षणा से वाक्यार्थ का भी बोध करा देते हैं। "गाय को लाओ" इस वाक्य में "लाओ" यह क्रिया पहले लाने का अर्थ बताती है और गाय यह "गाय" का अभिधान करती है। फिर ये दोनों एक दूसरे से क्रिया और कर्म के रूप में अन्वित होकर "गाय को लाओ" इस वाक्यार्थ को सिद्ध करते हैं। इस प्रक्रिया में पहले अपने अर्थ का अभिधान कर फिर एक दूसरे से अन्वय दिखाया गया है-इसलिए वाक्यार्थ प्रतीति कराने वाली इस प्रक्रिया को अभिहितान्वयवाद कहते हैं। यही भट्ट-संप्रदाय को अभिमत है। प्रभाकर और उसके अनुयायी इस संबन्ध में विभिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि "गाय को लाओ" इसको पहले पहले सुनने पर गाय लाने से संबन्धित एक पद ही का ज्ञान होता है। ये पद ही फिर अन्वित (संबन्धित) होकर अर्थ का बोध कराते हैं, पदार्थ नहीं। इन पदों में ही स्वाभाविक शक्ति रहती है। इसलिए अन्वित रूप वाक्यार्थ पद के द्वारा ही अभिधेय है, पदार्थ के द्वारा नहीं। इसीलिए इस प्रक्रिया को "अन्विताभिधानवाद" के नाम से संबोधित करते हैं।

तीन सहायक

इन पदार्थों से वाक्यार्थ को जानने के लिए तीन सहायक कारणों को प्राचीन लोग मानते आये हैं और वे निम्न रूप से हैं। १-आकांक्षा,

२-आसत्ति, ३-योग्यता। पदों की आपस की जो अपेक्षा रहती है, (पूर्ण अर्थ प्रकट करने के लिए) उसे ही आकांक्षा कहा जाता है। जैसे "गाय को लाओ" इस वाक्य में केवल गाय से कोई वाक्यार्थ नहीं निकलता और न केवल "लाओ" से ही निकलता है। वाक्यार्थ को बताने के लिए इन दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा है, और यही आकांक्षा में संमिलित है। इन दोनों पदों का समीप में रहना भी उतना ही जरूरी है। "गाय" का एक घंटे पहले और "लाओ" का एक घंटे बाद उच्चारण करने से न उनका संबन्ध ही बैठता है और न कोई अर्थ ही निकल सकता है। अतः इन दोनों का एक साथ रहना वाक्यार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक है। इनकी इस निकटता ही को आसत्ति कहा जाता है। तीसरा सहकारी कारण योग्यता है। आकांक्षा भी हो और आसत्ति भी हो-फिर भी यदि योग्यता नहीं होगी-तो संगति नहीं बैठेगी। उदाहरण के लिए "आग से वृक्ष को सींचो" इस वाक्य में एक दूसरे की आकाङ्क्षा और आसत्ति भी है, फिर भी योग्यता नहीं है। आग का और पेड़ के सींचने का संबन्ध असंभव है। अतः योग्यता को भी सहायक कारण के रूप में अंगीकार करना अनिवार्य है।

वृत्तियाँ

पदों का अर्थ बोध कराने वाली शक्ति को वृत्ति कहा जाता है। यह वृत्ति तीन प्रकार की है। १-अभिधा, २-लक्षणा ३-गौणी[१]। पदों के मुख्य अर्थ को बताने वाली वृत्ति को अभिधा कहा जाता है। "गाय" के उच्चारण करने पर उससे सास्ना वाले पशु का जो बोध होता है-वह लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण अभिधा से बोधित अर्थ है। जहाँ अभिधा की गति रुक जाती है-वहाँ लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। "गंगा में घर है" इस उदाहरण में अभिधा द्वारा बोधित अर्थ

१- अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥

"पानी के प्रवाह में" घर का होना असंभव है, इसलिए लक्षणा के द्वारा गंगा से गंगा का किनारा ही ग्रहण किया जाता है। गौणी में शक्य अर्थ में रहने वाले गुण का उसके सजातीय गुण के साथ संबन्ध बताया जाता है। जैसे "बालक सिंह है" इस वाक्य में सिंह में रहने वाले बल के समान बल का योग होने कारण बालक में सिंह शब्द युक्त (गौण रूप से) हो गया है। लक्षणा में केवल शक्य के साथ संबन्ध मात्र होता है, किन्तु गौणी में उसमें रहने वाले गुण के समान गुण का योग रहता है। यही इन दोनों में मौलिक अन्तर है। अन्वय और तात्पर्य का न जँचना ही इन दोनों में निमित्त हैं।

गौणी—वृत्ति मीमांसकों की निजी देन है। आलंकारिक इसको न मान कर व्यंजना वृत्ति को मानते हैं। कुछ एक तात्पर्या नामक शक्ति भी स्वीकृत करते हैं। मीमांसकों ने इन सब का गौणी—वृत्ति में अन्त-र्भाव किया है।

पद के तीन प्रकार

यह पद मुख्य रूप से तीन प्रकार का है-रूढ़, यौगिक और योग-रूढ़ भेद से। जो प्रसिद्धि के आधार पर अर्थ का बोध कराता है-उसे रूढ़ कहा जाता है। यह समुदाय की शक्ति से अर्थ का बोधक होता है। जो अवयवों की शक्ति से अर्थ का ज्ञान कराता है-उसे यौगिक कहा जाता है। यह शब्द-शास्त्र के नियमों के आधार पर बना हुआ होता है। जो इन दोनों प्रकारों का संवलित रूप होता है-उसे योगरूढ कहा जाता है। घट यह रूढ, चित्रगुः (चित्र विचित्र हैं गायें जिसकी) यह यौगिक व पंकज यह योगरूढ का उदाहरण है।

वाक्य के दो भेद

इसी तरह वाक्य भी मुख्य रूप से दो प्रकार का है-१—सिद्धार्थ-बोधक, २-विधायक। सिद्ध अर्थ का बोधन कराने वाला वाक्य एक

प्रकार से इतिहास-वाक्य होता है। "एष राजा पाञ्चालः" (यह पाञ्चाल का राजा है) यह सिद्धार्थबोधक वाक्य है। विधायक विधान करता है-जो दो प्रकार का है १-औपदेशिक २-आतिदेशिक। "यह ऐसा करो इस प्रकार के वाक्य औपदेशिक हैं, क्योंकि इनके द्वारा उपदेश दिया जाता है। "यह उसकी तरह करना चाहिए" इस प्रकार के वाक्य आतिदेशिक वाक्य होते हैं।

उपमान

प्रमाणों की परिगणना में उपमान[1] का चतुर्थ स्थान है। पहले देखे हुए अर्थ को याद करने पर-दिखाई दे रहे पदार्थ में जो सादृश्य-ज्ञान होता है-वही उपमिति है। इसमें उपमा या सादृश्य के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। समझ लीजिये कि कोई नागरिक है-जिसने पहले गाय देखी है। वह जंगल में जाता है और वहां गवय (नील गाय) को देखता है। वह उसे गाय के समान लगता है। इसके अनन्तर गाय में रहने वाली गवय की समानता को याद करता है—"मेरी गाय इस गवय के समान है"। इसी प्रक्रिया को उपमिति कहा जाता है। इस उपमिति का कारण गवय के पिण्ड का देखना है। नैयायिक इसके लिए अतिरिक्त प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के लिए कर्मकांड में अतिदेश की सिद्धि की दृष्टि से उपमान की और भी अधिक उपयोगिता है।

अर्थापत्ति

मीमांसकों के मत में पंचम प्रमाण अर्थापत्ति है। निश्चित अर्थ की दूसरे अर्थ के विना अनुपपत्ति को देखकर उसकी संगति विठाने के लिए अर्थ की जो कल्पना की जाती है-उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे-हम

१—भिन्नानुमानादुपमेयतोक्ता सौर्यादिवाक्यैरसहाऽपि दृष्टम्।
सादृश्यतोऽग्न्यादियुतं कथंनु प्रत्याययेदित्युपपुज्यते नः॥
(वार्तिक)

किसी अन्य प्रमाण की सहायता से यह निश्चय कर लेते हैं कि देवदत्त जीवित है—ऐसी स्थिति में हम घर में उसको जब नहीं पाते, तो उसके बाहर रहने की कल्पना किये बिना उसका जीवन ही अनुपपन्न हो जाता है-जिसकी उपपत्ति के लिये जीवन उसके बाहर रहने की कल्पना स्वतः ही कर लेता है—यही अर्थापत्ति है। नैयायिक अर्थापत्ति का अनुमान ही में अन्तर्भाव करते हैं-जो असंगत है। यह अर्थापत्ति दो प्रकार की है- १-दृष्टार्थापत्ति, २-श्रुतार्थापत्ति। ऊपर लिखा हुआ उदाहरण ही दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण है। श्रुतार्थापत्ति में जिस प्रकार केवल "दर्वाजा" ही कहा जाये, तो उसको पूर्णता के लिये "खोलो" "बन्द करो" आदि की कल्पना करनी होती है।

अनुपलब्धि

षष्ठ प्रमाण अनुपलब्धि है। अनुपलब्धि का अर्थ है-प्राप्ति का अभाव। यह उपर्युक्त पाँचों प्रमाणों से विपरीत है। जहाँ प्रवृत्ति के योग्य ऊपर बताये हुए पाँचों ही प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है—वहीं अनुपलब्धि है-जिसे अभाव नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसका इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियों के व्यापार के न होने पर भी अभाव हो जाता है। जो सुबह घर में था-उसे जब दोपहर में पूछा जाता है कि क्या सुबह यहाँ काले आदमी को देखा था? और वह तत्काल ही बिना इन्द्रियों के व्यापार के उसके अभाव का निश्चय भी कर लेता है। अतः इन्द्रियों से सबद्ध ज्ञान नहीं होने के कारण इसका प्रत्यक्ष में एवं लिंग और लिंगी के संबन्धग्रहण न करने के कारण न अनुमान में व सादृश्य-ज्ञान न होने के कारण न उपमान ही में अन्तर्भाव हो सकता है। शब्द और अर्थापत्ति का तो प्रसंग ही नहीं है। इसलिए अनुपलब्धि प्रमाण की स्वीकृति अनिवार्य है।

प्रभाकर तो अभाव नामक पदार्थ को ही नहीं मानता, तब अभाव के ग्रहण करने के लिए किसी प्रमाण को मानने की तो उसको आवश्य-

कता ही क्यों होने लगी। केवल इसके अतिरिक्त उपर्युक्त पांच प्रमाण ही उसे अभीष्ट हैं। भट्ट के अनुयायियों ने प्रबल तर्कों के साथ अभाव और अनुपलब्धि की उपयोगिता प्रमाणित की[१] है।

ये छै ही प्रमाण मीमांसकों के भट्ट-संप्रदाय को अंगीकृत है। कुछ एक लोग संभव और ऐतिह्य को अलग प्रमाण के रूप में मानते हैं। संभव का तो अनुमान ही में अन्तर्भाव हो जाता है व द्वितीय का शब्द में। पर ये छै प्रमाण मान लेने पर भी धर्म में इनमें किसी की प्रवृत्ति नहीं है। उसके लिए तो वेद ही एक मात्र आधार है।

१—प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता"

(वार्तिक)

८—पदार्थ-निरूपण

मीमांसक पदार्थों के संबन्ध में भी अपना स्वतंत्र मत रखते हैं। भट्ट-संप्रदाय के अनुसार-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति और अभाव ये छै पदार्थ हैं, जब कि प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, संख्या और सादृश्य इन आठ प्रकार के पदार्थों को स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक सात पदार्थ मानते हैं।

द्रव्य

द्रव्य परिमाण का आश्रय होता है। यह परिमाण दो प्रकार का होता है-१—अणुत्त्व, २—महत्त्व। यह द्रव्य ११ प्रकार का है—जब कि नैयायिक इसको ६ प्रकार का मानते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, शब्द, अंधकार ये इसके प्रकार हैं। पृथ्वी गन्धवाला द्रव्य है—जो जमीन, पहाड़, पेड़, शरीर और घ्राणेन्द्रिय (नाक) के रूप में दिखाई देती है। यह शरीर चार प्रकार का होता है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से। मनुष्य, मृग आदियों का शरीर जरायुज, पक्षी, साँप आदि का अंडज, मच्छर, बिच्छू, आदि का स्वेदज और पेड़ आदि का उद्भिज्ज कहलाता है। प्रभाकर उद्भिज्ज को स्वीकार नहीं करता[1]। जल स्वाभाविक द्रवत्व का अधिकरण है। तेज गरम स्पर्शवाला होता है-जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि और चक्षु इन्द्रिय के रूप में हमें दिखाई देता है। सुवर्ण भी तैजस पदार्थ ही है। उसमें पृथ्वी के अंश के शक्तिशाली होने के कारण उष्ण स्पर्श की उपलब्धि[2]

१—"शरीरं जरायुजाण्डजस्वेदजभिन्नं त्रिविधिम्, उद्भिज्जं शरीरं न भवत्येव।
प्रकरण-पंचिका पृ० १५०

२—अभिभूतरूपस्पर्शं तेजः सुवर्णम्। अभिभवस्तु बलवद्भिः पार्थिव-रूपादिभिरिति द्रष्टव्यम्। मानमेयोदय पृ० १५५

नहीं होती। कुछ लोग तो इसको पृथ्वी ही का अंश[1] स्वीकार करते हैं। वायु रूप न रहते हुए भी स्पर्श वाला होता है। वह झंझा, मंद निश्वास और वायु एवं त्वचा इन्द्रिय के रूप में दिखाई देता है। पृथ्वी, जल, तेज आदि की तरह वायु भी प्रत्यक्ष ही है—नैयायिकों की तरह हम उसे आनुमानिक नहीं मानते। शरीर आदि को धारण करने का कारण वायु-विशेष ही प्राण कहलाता है। आकाश विशिष्ट अवकाश का आश्रय है, और वह नित्य है। शब्द द्रव्य है-इसलिए शब्द गुण-वाला आकाश है, यह नैयायिकों का लक्षण असंगत है। काल सब का आधार है—जो विभु और एक है। आँखों की पलकों के स्वाभाविक रूप से फड़कने के काल को निमेष, १८ निमेषों को एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं को एक कला, तीस कलाओं को एक मुहूर्त, १५ मुहूर्तों को एक रात व दिन, तीस दिनों को एक मास व १२ मासों को एक वर्ष कहा जाता है। इसी तरह दिशा भी एक और नित्य है। आत्मा चैतन्य का आश्रय है—जिसका निरूपण पृथक् स्तंभ में किया जा चुका है। अंधकार केवल चक्षु से ही ग्रहण करने योग्य है—जो प्रकाश के अभाव में काले काले रूप में दिखाई देता है। वह भी भाव रूप है—नैयायिकों की तरह अभाव रूप नहीं है। क्योंकि गुण और कर्मों से विशिष्ट रूप में भी उसकी प्रतीति होती है। तेज की तरह[2] यह भी ब्रह्मा का शरीर है और इसकी सृष्टि भी पृथक्[3] रूप में की गई है—इसलिए इसको पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करना[4] अनिवार्य है। शब्द श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य है—जो दो प्रकार का है—१—वर्णात्मक, २—ध्वन्यात्मक।

१—सुवर्णञ्च पार्थिवम्-परिशेषात् पार्थिवमेव सुवर्णमिति सिद्धम्।

२—यस्य तमश्शरीरं यस्य तेजश्शरीरम्।

३—तमस्ससर्ज भगवान्।

४—तमोनाम द्रव्यं बहुलविरलं मेचकचलं, प्रतीमः केनापि क्वचिदपि न बाधश्च ददृशे। अतः कल्प्यो हेतुः प्रमितिरपि शाब्दी विजयते, निरालोके चक्षुः प्रथयति हि तद्दर्शनवशात्।

वर्णात्मक शब्द द्रव्य है, विभु है और आत्मा ही की तरह नित्य भी है—वह गुण[१] नहीं है। ध्वन्यात्मक अवश्य गुण और अनित्य है। यह ही वर्णात्मक शब्द को प्रकट करने वाला है और यह वायु का गुण है, क्योंकि वायु के अभिघात से ही उसकी उत्पत्ति[२] होती है। ये द्रव्य के एकादश प्रकार हैं।

गुण

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्राकट्य, ध्वनि और संस्कार इन भेदों से गुण इक्कीस प्रकार का है। रूप केवल चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य है। वह पृथ्वी, जल, तेज और अन्धकार में रहता है। शुक्ल (सफेद) नील, पीत और रक्त इन भेदों से वह चार प्रकार का है। ये सभी नित्य हैं, केवल संसर्ग के भेद से ज्यादा सफेद, ज्यादा नीला आदि की प्रतीति होती है। इसीलिए मीमांसक चित्र रूप को स्वीकार नहीं करते। रसना इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य गुण रस है—जो मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त इन भेदों से छै प्रकार का है। यह पृथ्वी और जल में रहता है। घ्राण इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य गुण गन्ध है—जो सुरभि और असुरभि इन भेदों से दो प्रकार का है। यह केवल पृथ्वी में रहता है। केवल त्वचा से ग्रहण करने योग्य गुण स्पर्श है-जो शीत, उष्ण और मध्यम (न ठंडा हो न गरम हो) इन भेदों से तीन प्रकार का है। जल में ठंडा, आग में उष्ण एवं पृथ्वी, हवा आदि में तीसरे प्रकार का स्पर्श है। एकत्व आदि व्यवहार का कारण संख्या है। प्रभाकर इसको अलग

१—वर्णात्मकास्तु ये शब्दा, नित्यास्सर्वगतास्तथा।
पृथक्द्रव्यतया ते तु, न गुणाः कस्यचिन्मताः॥

२—अभिघातेन प्रेरिता वायवः स्तिमितानि, वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतो दिक्कान् संयोगविभागानुत्पादयन्ति (शाबर-भाष्य)

पदार्थ ही मानता है। तोल (परिमाण) के विश्वास का विषय ही परिमाण होता है। जो —अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ भेद से चार प्रकार का है। पर ये सब सापेक्ष हैं—अर्थात् यह इससे छोटा है, यह इससे बडा है—आदि प्रकारों से। नैयायिक इसके आगे पृथक्त्व नाम का एक अतिरिक्त गुण और स्वीकार करते हैं—जो हमें अभिमत नहीं है, क्योंकि वह भेद से अतिरिक्त वस्तु नहीं है। व्यवहार में भी हम देखते हैं—यह उससे पृथक् है—इसमें भिन्नता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ये मिले हुए हैं—इस विश्वास का कारण संयोग है—जो दो प्रकार का है। प्रथम कार्य और दूसरा नित्य। व्योम, काल, आत्मा, मन आदि का संयोग नित्य है और स्थाणु और गाय का संयोग कार्य है। नैयायिक और उनके अनुसार कुछ एक मीमांसक भी संयोगज[1] संयोग के नाम से एक तीसरा संयोग और मानते हैं—जो भट्ट-सिद्धान्त से प्रतिकूल[2] है। प्रभाकर के अनुयायी भी उसके समर्थक हैं। इसी तरह विभाग के विश्वास का निमित्त विभाग है—वह भी संयोग की तरह दो प्रकार है। परत्व और अपरत्व ये दोनों दिशा और काल की अपेक्षा से होते हैं। दूर वस्तु में रहने वाला परत्व और समीप वस्तु में रहने वाला अपरत्व दिशा की देन है। इसी तरह वृद्ध व्यक्ति में प्रतीत होने वाले परत्व और जवान व्यक्ति में प्रतीत होने वाला अपरत्व काल की देन है। गुरुत्व एक प्रकार का भारीपन है-जो अपने आप पतन का कारण होता है। यह पृथ्वी और जल में रहता है। द्रवत्व प्रत्यय विषय ही द्रवत्व है-जो सांसिद्धिक और पाकज भेदों से दो प्रकार का है। पानी में स्वाभाविक और घी आदि में पाकज द्रवत्व है। स्नेह भी इसी तरह का होता है-जो केवल पानी में रहता है। इन दोनों की समानता को देखते हुए ही अनेक आचार्य द्रवत्व से अतिरिक्त स्नेह की सत्ता नहीं मानते। सब व्यवहारों का कारण बुद्धि

१—मानमेयोदय पृ० २४६।

२—एतेन संयोगजसंयोगो निरस्तो वेदितव्यः (पार्थसारथि)

है। ज्ञान सकर्मक है-जो अपने कर्मभूत अर्थ में फल को पैदा करता है-पाक आदि की तरह। यही फल अपने कारण-भूत विज्ञान की कल्पना करा देता है-इसलिए यह ज्ञान अनुमेय है-प्रभाकर की तरह स्वयं प्रकाश नहीं है। तार्किक भी इसको सुख आदि की तरह मानस-प्रत्यक्ष से जानने योग्य सिद्ध करते हैं-किन्तु भट्ट-संप्रदाय में बुद्धि प्रत्यक्ष नहीं है—अपितु ज्ञान हो जाने के आधार पर उसका अनुमान किया जाता है। अपनी इच्छाओं का दूसरे की इच्छाओं के आधीन न रहना ही सुख है और इसी के विपरीत गुण दुःख है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सभी आत्मा में रहते हैं। ऐहिक और आमुष्मिक इन भेदों से सुख और दुःख ये दोनों ही दो प्रकार के हैं। इनमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये ऐहिक के तीन अवान्तर प्रकार हैं। "मेरे यह हो" आदि संकल्प ही इच्छा है—और "मेरे यह नहीं हो" यह भावना ही द्वेष है। अनुभव से उत्पन्न होने वाला और स्मरण का कारण वासना-नामक संस्कार होता है—जो आत्मा में रहता है। ज्ञान से उत्पन्न होने वाला एवं विषय में रहने वाला गुण प्राकट्य है—लौकिक व्यवहार ही इसकी सत्ता में प्रमाण है। लोक में यह व्यवहार होता है— "घट जाना जाता है। घट प्रकाशित हो रहा है"। यह व्यवहार अपनी उपपत्तिके लिए प्रकाशविशिष्ट अर्थ की कल्पना कराता है-यही प्रकाश प्राकट्य है। इसे न ज्ञान का रूप कह सकते हैं, क्योंकि इसकी सत्ता विषय में रहती है। ज्ञान तो आत्मा में रहता है और यह विषय में। न यह विषय ही है—अपितु इन दोनों से अतिरिक्त गुण है। मीमांसकों की यह एक नई सूझ है। कुछ लोग शक्ति, प्रयत्न, अदृष्ट और पृथक्त्व इनकी भी अलग गुणों के रूप में गणना करते हैं। किन्तु शक्ति स्वतंत्र पदार्थ है-प्रयत्न भावना-रूप होने के कारण क्रिया है और अदृष्ट का याग आदि की शक्ति ही में अंतर्भाव हो जाता है व पृथक्त्व भेद से अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए इनको स्वतंत्र गुण मानना संगत नहीं है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर मीमांसक केवल २१ गुण अंगीकार करते हैं।

कर्म

"चलता है" आदि प्रत्यय का विषय कर्म है। भट्ट-संप्रदाय के अनुसार वह चलनात्मक है, प्रत्यक्ष है और एक ही प्रकार है। प्रभाकर के अनुयायी कर्म को प्रत्यक्ष न मान कर संयोग, विभाग आदि से अनुमेय बताते हैं। भाट्टों ने इसकी अनुमेयता का खंडन किया है—क्योंकि यदि अनुमान किया जाने लगेगा, तो पहाड और बादल के संयोग से पहाड़ में भी कर्म का अनुमान होने लगेगा। वैशेषिक इसके ५ प्रकार मानते हैं-जिनका मीमांसक इस एक ही प्रकार में अन्तर्भाव कर लेते हैं।

सामान्य

"यह गाय है" "यह घोड़ा है" इस प्रकार संपूर्ण गाय, घोडे आदि व्यक्तियों में रहने वाला और विजातीय व्यक्तियों से व्यावृत्त कराने वाला व्यावृत्त और अनुवृत्त आकार में देशान्तर और कालान्तर में जो अबाधित ज्ञान उत्पन्न होता है-वही सामान्य है-जो प्रत्यक्ष है। यही प्रत्यक्ष सामान्य और विशेष रूप में दो प्रकार की वस्तु की व्यवस्था करता है। गोत्व, मनुष्यत्व आदि जाति उसका सामान्य आकार है और एक गाय और एक मनुष्य यह व्यक्ति उसका विशेष आकार है। इसी से जाति की सिद्धि प्रत्यक्ष रूप में हो जाती है। यह जाति व्यक्ति से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। इसी को आकृति के नाम से भी कहा जाता है। इसके दो प्रकार हैं—महासामान्य और अवान्तर सामान्य भेद से। महासामान्य ही को सत्ता कहते हैं—जो द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य इन चारों में रहता है। द्रव्य आदियों में रहने वाला द्रव्यत्व, आदि अवान्तर-सामान्य है। इसी तरह शब्दत्व, ब्राह्मणत्व आदि जाति की भी सिद्धि होती है—ये सभी प्रत्यक्ष हैं। ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ कर्म पर निर्भर न होकर माता, पिताओं की जाति के ज्ञान ही पर निर्भर हैं। जाति का विशेष निरूपण शब्द के प्रसंग में किया जा चुका है।

शक्ति

शक्ति मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्र पदार्थ है। यह लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की है। अग्नि आदि में रहने वाली जलाने आदि की शक्ति लौकिक शक्ति है। याग आदि में रहने वाली स्वर्ग आदि देने की जो शक्ति है—वह वैदिक शक्ति है। इन दोनों की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर होती है। बीज आदि में अंकुर आदि के उत्पन्न करने का सामर्थ्य रहने पर भी यदि उनको चूहा आदि सूंघ लेता है—तो अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। वह बीज में रहने वाला सामर्थ्य जब इस प्रकार अन्यथा हो गया, तब हमें यह कल्पना करनी पडी कि—बीज—जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है—उसके अतिरिक्त भी इन्द्रियों की पहुँच से दूर कोई रूप है—जिसके नष्ट हो जाने के कारण अंकुर की उत्पत्ति नहीं हुई। वही रूप शक्ति है।

इसी तरह यज्ञ, याग भी होते हैं और नष्ट हो जाते हैं—फिर उनसे स्वर्ग आदि फल की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस तरह तो वेद के द्वारा बोधित अर्थ अन्यथा होने लग जायेगा—जिसकी उपपत्ति के लिए अपूर्व नामक पदार्थ की कल्पना करनी पडती है। यह अपूर्व यज्ञ के नष्ट हो जाने पर भी जब तक फल उत्पन्न नहीं होता, तब तक अवस्थित रहता है। यही यज्ञ याग में रहने वाली वैदिक शक्ति है—जिसे अपूर्व के नाम से अभिहित किया जाता है। इसे गुण नहीं मान सकते, क्योंकि यह तो गुण में भी रहती हैं। न इसका सामान्य आदि ही में अन्तर्भाव किया जा सकता है, क्योंकि यह उनमें भी रहती है। अतः शक्ति को पृथक् पदार्थ मानना युक्ति-संगत है।

अभाव

"नहीं है" यह प्रत्यय जिससे होता है, उसे अभाव कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है —१—प्रागभाव, २— ध्वंसाभाव, ३—अत्यन्ताभाव, ४—अन्योन्याभाव। मिट्टी के पिण्ड आदि के रहने पर

भी उत्पत्ति से पूर्व घडे आदि का जो अभाव होता है—वह प्रागभाव है। इसी तरह दूध में दही का जो अभाव है—वह भी प्रागभाव ही है। घडे पर मुसलका प्रहार करने पर जो अभाव है व दही में दूध का जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है।"यह यह नहीं है"इस प्रकार की प्रतीतिका विषय जो होता है वह अन्योन्याभाव है—जैसे घोडे में गाय का। इसी को पृथक्त्व भी कहा जाता है। जिस अधिकरण में जिसका तीनों कालों में भी अभाव होता है—वह अत्यन्ताभाव कहलाता है। आकाश में फूल और खरगोश के सींग का अभाव आदि इसके उदाहरण हैं। ये चारों ही अभाव अनुपलब्धि प्रमाण से गम्य हैं।

प्रभाकर के मत में अभाव नामक कोई पदार्थ नहीं है। वह कहता है कि अभाव की जो प्रतीति है-वह भूमि की प्रतीति से अतिरिक्त नहीं है। जब अभाव नामक वस्तु ही नहीं है, तो फिर उसके ग्रहण के लिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण को मानना भी अनावश्यक है। किन्तु उसका यह मत लौकिक व्यवहार के सर्वथा विपरीत है। यदि अभाव को भूतल रूपी ही माना जायेगा, तब तो फिर घडे-वाली भूमि में घडा नहीं है, ऐसा व्यवहार होने लगेगा। होता तो नहीं है, इसी से अभाव की सिद्धि हो जाती है। ये ही छै पदार्थ भट्ट-संप्रदाय को अभिमत हैं। इनके अतिरिक्त समवाय आदि अन्य पदार्थ इस संप्रदाय की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं।

यह सब मीमांसा दर्शन् के दर्शनिक पदार्थों का संक्षिप्तसंकलन है-जो केवल इस दृष्टि से यहां प्रस्तुत किया गया है कि मीमांसा का यह भाग भी अपूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त भी रस के सम्बन्ध में भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद आदि अनेक मंतव्य इन स्वतन्त्र विचारकों के हैं। वे इस बात के साक्षी हैं कि यह दर्शन वस्तुतः दर्शन है,केवल कर्म-भाग का विवेचन ही इसका सर्वस्व नहीं है। संक्षेप में यह स्तंभ और इसका यह निरूपण उन भ्रान्त व्यक्तियों की भ्रान्ति के निराकरण के

लिए मेरी दृष्टि से पर्याप्त है-जो कि इसे केवल पुरोहितों की जीविका कहते हैं या दर्शनों में इसका स्वतन्त्र अस्तित्व अंगीकृत नहीं करते। इस भ्रान्ति का अपाकरण ही इस स्तम्भ का लक्ष्य है-जो सफल हुआ या नहीं ? यह निश्चय करना विद्वान् पाठकों का कार्य है।

कर्म-कांड

सामान्य—परिचय

कर्म ही मीमांसा का मुख्य विषय है। वस्तुतः यही कर्म-जिसे धर्म, यज्ञ, होम आदि अनेक शब्दों से अभिहित किया जाता है—इस शास्त्र का प्रतिपाद्य है। दर्शन के प्रारम्भ में महर्षि जैमिनि[1] जब विषय का विवेचन करने को प्रस्तुत होता है, तो धर्म ही को विषय के रूप में प्रतिज्ञा-वाक्य में स्थान देता है। यही कर्म या धर्म-जिसका विस्तृत विवेचन अग्रिम अध्यायों में किया जायेगा—मीमांसा के मंतव्य में ईश्वर अर्थात् सर्वतः समर्थ अतएव चरम उपास्य है। "कर्मेति मीमांसका:" आदि वाक्य मीमांसा द्वारा अभिमत कर्मयोग के आधार पर ही प्रचलित हैं। इसी कर्मयोग का प्रतिफलित रूप गीता है—जो अपनी स्पष्ट नीति और दृढ़ सिद्धान्तों के कारण कर्मयोग शास्त्र तक कहलाने लगा है। "जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" आदि गीता के अनेक वाक्य कर्म की उपासना के प्रतिपादक हैं। अस्तु, मीमांसा की कर्म या धर्मयोगता के सम्बन्ध में अधिक प्रतिपादन या निरूपण करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्यों कि वह तो एक चरम सत्य है—जो विवाद और संशय की सीमाओं तक से परे है।

अपने उसी प्रतिपाद्य विषय के व्यापक निरूपण के लिये परम कारुणिक महर्षि जैमिनि ने इस शास्त्र की रचना की। इसकी आवश्यकता एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में तो ऊपर पर्याप्त मात्रा में प्रकाश डाला ही जा चुका है। यह शास्त्र बारह अध्यायों में विभक्त है—जिनमें हजार से ऊपर अधिकरण और ६० पाद हैं। बारह[2] अध्यायों के स्वतन्त्र

१—अथतो धर्म—जिज्ञासा, जैमिनि—(१—१—१

२—धर्मो द्वादशलक्षण्या व्युत्पाद्यस्तत्र लक्षणैः प्रमाणभेदशेषत्वप्रयुक्तिक्रमसंज्ञकाः।
अधिकारोऽतिदेशच सामान्येन विशेषतः, ऊहो बाधश्च तन्त्रञ्च प्रसंगश्चोदिताः
क्रमात् ॥ (न्यायमाला ११—१२—पद्य)

स्वतन्त्र विषय हैं—जिनका सांगोपांग विवेचन महर्षि जैमिनि और उसके अनेक योग्यतम अनुयायियों ने किया है। प्रथम अध्याय का विषय प्रमाणनिरूपण है—जिसके चार पादों में क्रमशः विधि, अर्थवाद व मन्त्र स्मृति और आचार एवं नामधेय की चर्चा की गई है। कर्म के अनुष्ठान में ये सभी क्रमिक प्रमाण हैं। कर्म का भेद द्वितीय अध्याय में निरूपित किया गया है—जिसके चार पाद हैं। अंगों का विवेचन तीसरी अध्याय का विषय है—जो आठ पादों में विभक्त है। यज्ञ का प्रयोग चतुर्थ अध्याय का प्रतिपाद्य है—जिसके केवल चार पाद हैं। क्रम का निरूपण पंचम अध्याय के चार पादों में हुआ है। षष्ठ अध्याय के आठों पादों में कर्म के अधिकारी की योग्यता का विश्लेषण है। सप्तम के चार पादों में सामान्यातिदेश और अष्टम के चार पादों में विशेषातिदेश की व्याख्या है। नवम के चार पादों में ऊह, दशम के आठ पादों में बाध, ग्यारहवीं के चार पादों में तन्त्र एवं बाहरवीं के चार पादों में प्रसंग का विवेचन है। इन सब पादों में मिल कर अधिकरणों की संख्या हजार से भी ऊपर तक पहुँच गई है। यह ऊपर कहा ही जा चुका है। ये सभी विषय कर्म के नियन्त्रण और उसके अनुष्ठान की सफलता को ध्यान में रखते हुए विभाजित किये गये हैं। इनके निरूपण के प्रसंग में सैकड़ों न्याय और सिद्धान्त स्थापित हुए हैं—जिनका उपयोग वेदवाक्यों के समान आदर के साथ प्रायः सभी शास्त्रों एवं विशेषतः धर्म-शास्त्र ने किया है। इसके न्यायों के उपयोग और महत्व से परिचित होने के लिए लौकिकन्यायाञ्जलि का अध्ययन करना चाहिए। इसके विषयनिरूपण की शैली के सम्बन्ध में विचार कांड में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

शास्त्रीय मान्यता

इसी कर्म या धर्म के लिए इस शास्त्र का जन्म हुआ—यह सर्वसंमत तथ्य है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (अपनी कुल परंपरा से प्राप्त शाखाओं का गुरुमुख के उच्चारण के अनुकूल उच्चारण करे) इस

वैदिक वाक्य के द्वारा जब अध्ययन का विधान किया जाता है, तो यह विधान अध्ययन के लोकतः प्राप्त हो जाने के कारण व्यर्थ होने लगता है। ऐसी स्थिति में यह अपनी सार्थकता के लिए एक नियम का विधान करता है कि "प्रत्येक यज्ञ से होने वाला अपूर्व तभी प्राप्त होगा—जब कि उस अनुष्ठान करने वाले ने यज्ञ से संबन्धित संपूर्ण विषयों का अध्ययन "कर लिया होगा"। यह अध्ययन केवल कंठस्थ कर लेना मात्र नहीं है, अपितु उस विषय का अर्थ के साथ पूर्ण ज्ञान है। यह ज्ञान विना विचार के नहीं हो सकता। इसलिए "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह विधि ही संपूर्ण वैदिक कर्मों की फलवत्ता के लिए इस दर्शन को प्रारंभ करने की स्वतः प्रेरणा देती है। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से भी यह सर्व-मान्य है कि प्रस्तुत शास्त्र का श्री गणेश कर्म को अधिक से अधिक फलवान् बनाने के लिए हुआ।

१—धर्म का लक्षण और प्रमाण

धर्म इस दर्शन का प्रतिपाद्य है—इसीलिए उसकी जिज्ञासा होने पर महर्षि जैमिनि ने अपने सूत्र द्वारा उसकी वास्तविकता की ओर संकेत[१] किया है। वेद से बोधित होने पर साक्षात् या फल द्वारा—जो अनर्थ से परे एवं इष्ट को सिद्ध करने वाला हो—वही धर्म है—यह महामुनि जैमिनि के सूत्र का अभिप्राय है। वेद से यहाँ पर विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय वेद के ये चारों भाग अभिप्रेत हैं। धर्म में ये चारों ही भाग प्रमाण हैं अर्थात् ये ही उसके बोधक हैं। धर्म का चक्षु आदि इन्द्रियों से जानने योग्य कोई आकार प्रकार नहीं है—इसी लिए प्रत्यक्ष, और उस पर आधारित होने के कारण अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि आदि सभी प्रमाणों का यहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। फिर भी धर्म प्रमाण से रहित नहीं है, क्योंकि वह वेद-प्रमाण पर आश्रित है।

यह धर्म लोक की सामान्य रुचि का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप धार्मिक बनने का प्रयत्न करता है और इसीलिए प्रत्येक संप्रदाय के शास्त्रकारों ने अपनी सफलता के लिए अनिवार्य रूप से इसका विवेचन किया है। कहीं यह धर्म कर्तव्य का अभिप्राय लेकर आता है—तो कहीं शिष्टाचार का। कहीं इसे भिन्न भिन्न यज्ञ, अध्ययन-दान आदि क्रियाओं में विभाजित कर दिया गया है। वेद के आधार पर विहित लिङ्, लेट्, लोट, तव्य प्रत्यय आदि से अभिहित अपूर्व नाम से कार्य, नियोग आदि पर्याय रखने वाला व्यापार ही प्रभाकर के मत में धर्म है। इसी तरह वेद के द्वारा निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली

१—चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः। १-१-१

वस्तु उसके मंतव्य में अधर्म है। नैयायिक[1] और वैशेषिकों के मंतव्य में वेद के द्वारा विहित क्रिया से उत्पन्न धर्म और उससे निषिद्ध क्रिया से उत्पन्न अधर्म है-जिन्हें क्रमशः पुण्य और पाप के नाम से पुकारा जाता है-जो दोनों ही आत्मा में रहने वाले गुण हैं। याग आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न अंतःकरण की एक विशिष्ट वृत्ति को[2] सांख्य, एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान में उत्पन्न वासना को बौद्ध[3] एवं दूसरे शरीर को प्रारंभ करने वाले "पुद्गल" शब्द से वाच्य विशिष्ट परमाणुओं को जैनी[4] धर्म के नाम से पुकारते हैं। सभी ने अंधे जिस तरह हाथी को पकड़ने और जानने को कोशीश करते हैं-उसी तरह धर्म की वास्तविकता की ओर पहुँचने का पूर्ण प्रयास किया है-इसमें कोई संशय नहीं। पर वे सब प्रयास इस दर्शन के विचारकों के समक्ष उतना मूल्य नहीं रखते, क्यों कि जिस तरह धर्म को अपना मुख्य विषय इसने बनाया, उतना कोई भी नहीं बना सका। उपर्युक्त संपूर्ण लक्षण मीमांसा के भट्ट-संप्रदाय से मेल नहीं खाते, इसी लिए वह इनका खंडन करता है। उसका कहना है कि जो परिभाषायें ऊपर दिखाई गई हैं-उनमें धर्म शब्द का प्रयोग हम वेद में नहीं देखते। न इनमें कल्याण को सिद्ध करने की शक्ति ही है। जो अंतःकरण की वृत्ति, चित्त की वासना पुद्गल, पुण्य और अपूर्व तक के स्वरूप को[5] नहीं जानते, वे लौकिक भी इन इन क्रियाओं के करने व न करने वालों पर धार्मिक और अधार्मिक

१—प्रशस्तपादभाष्य पृ॰ १२८।

२—सांख्यकारिका—२३।

३—धम्मपद—१।

४—न्यायकुमुदचन्द्र पृ॰ ८११।

५—अन्तःकरणवृत्तौ वा वासनायाञ्च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि॥
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम्।
पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः॥ (वार्तिककार)

शब्द का प्रयोग करते हैं। जो जिस काम का करने वाला है-उसको उसी नाम से कहा जाता है-जिस तरह से रसोई बनाने वाले को रसोइया। इसी तरह जो यज्ञ,[१] याग आदि का अनुष्ठान करता है-उसे धार्मिक और जो ब्रह्महत्या आदि करता है-उसको अधार्मिक के नाम से लोक अपने आप कहता चला आ रहा है। इसलिए यज्ञ, याग आदि की धर्मता (वेद-विहित होने के कारण भी) और ब्रह्महत्या आदि की अधर्मता (वेद से निषिद्ध होने के कारण) लोक तक से स्वतः सिद्ध हो गई है। मीमांसकों के मत में ये ही यज्ञ याग धर्म हैं-जिनमें धर्म की सब विधाओं का समावेश हो जाता है। स्वयं वेद ने[२] उन्हें प्रथम धर्म के रूप में आदृत किया है।

इन सब तथ्यों से परिचित होते हुए ही महामना महर्षि जैमिनि ने धर्म का उपर्युक्त लक्षण किया है। फिर भी जैमिनि का यह धर्म सर्वथा अलौकिक होते हुए भी लौकिकता से परे नहीं है। प्रयोजनवान् होना धर्म के लिए आवश्यक है, क्योंकि मीमांसक इस बात से सुपरिचित हैं कि प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रवृत्ति को कराने के लिए ही धर्म में इष्टसाधनता का प्रयोजन के रूप में होना आवश्यक माना गया है। प्रयोजनवत्ता के साथ साथ धर्म के लिए दूसरी चीज जो आवश्यक समझी गई है—वह है—उसकी वेद-बोधितता। यदि वेद-बोधितता को धर्म के साथ संबद्ध नहीं किया जायेगा, तो घड़ा और चैत्यवन्दन आदि भी धर्म होने लग जायेंगे, क्योंकि ये सभी प्रयोजन वाले हैं। तीसरा विशेषण-जो धर्म के लिए अनिवार्य माना गया है-वह है-उसकी अर्थता-अर्थात् उसका अनर्थ के साथ संबन्ध न हो। यदि यह विशेषण नहीं लगायेंगे—तो श्येन—याग आदि

१—योहि यागादिकमनुतिष्ठाति, तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते-यथा पाचको लावक इति। (शबर स्वामी)

२— यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। (यजुर्वेद)

कर्म भी धर्म होने लग जायेंगे। "जो शत्रु को मारना चाहता है-वह श्येन का अनुष्ठान करे" यह विधान वेद के द्वारा किया गया है और शत्रु को मारना इसका प्रयोजन भी है। ये दोनों गुण इसमें होते हुए भी हम इसे धर्म नहीं कह सकते, क्योंकि शत्रु के मारने का संबन्ध हिंसा द्वारा नरक से भी संबद्ध है, जो निषिद्ध है। इस दृष्टि से श्येन स्वयं अनर्थकारी साक्षात् चाहे न हो, किन्तु परंपरा से तो उसका संबन्ध अनर्थ से हो ही जाता है। यज्ञ में पशु को यज्ञ के लिए जो मारा जाता है—वह हिंसा में संमिलित नहीं है, क्योंकि वह यज्ञ से होने वाले फल में समा जाने के कारण अपना स्वतंत्र फल कुछ भी नहीं रखती। इन श्येन आदि यागों में धर्मता न आये-इसीलिये धर्म के साथ अर्थ-विशेषण अनिवार्य है। संक्षेप में प्रयोजनवान् हो, वेद से विहित हो और अनर्थ से संबन्ध नहीं रखता हो-यही मीमांसकों का धर्म है—जो कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जिसमें सबका समावेश हो जाता है। इसके ठीक विपरीत अधर्म है।

प्रमाण

यह सब कुछ होने पर भी जैमिनि ने धर्म जैसी इस उच्च वस्तु को अंध-विश्वास से सर्वथा दूर रखना चाहा और उस जैसे समीक्षा-शास्त्री के लिए यह आवश्यक भी था। उसने इसी दृष्टि से कहा कि "इस प्रकार के धर्म के निमित्त की भी [2] परीक्षा करनी चाहिए"। सब तरह के प्रमाणों के आधार पर उसे परख कर ही उसका अनुष्ठान करना चाहिए—अंध-अनुकरण द्वारा नहीं। इसी दृष्टिकोण के कारण धर्म के लिए भी प्रमाणों की अनिवार्य आवश्यकता हुई। धर्म जैसी इन्द्रियों की सीमा से समपेत वस्तु तक पहुँचने की क्षमता प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द,

१—फलतोऽपि च यत्कर्म, नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्, तद्धर्म इति गीयते॥ (वार्तिककार)

२—तस्य निमित्तपरीष्टिः।

उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि इन लौकिक प्रमाणों में नहीं है—इस तथ्य का विस्तृत रूप से ज्ञान-कांड में निरूपण किया जा चुका है। फिर भी धर्म सर्वथा प्रमाणों से गम्य है। वह कोई उटपटांग वस्तु नहीं है-जिसका कोई शास्त्रीय अधार न हो। मुख्य रूप से विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष और सामर्थ्य ये आठ प्रमाण धर्म में हैं—जिनका संक्षिप्त निरूपण क्रमशः किया जा रहा है।

विधि

वेद के सब से उत्कृष्ट भाग के रूप में विधि को स्थान दिया गया है। यह विधि लिङ्, लेट-लोट और तव्य प्रत्यय इनसे अभिधीयमान अर्थ है। नैयायिक इसको इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व, और बलवद् निष्टाननुबन्धित्व इन तीन रूपों में स्वीकार करते हैं और उनके मत में इन तीनों का एक ही साथ बोध होता है। इन सब का ज्ञान प्रवृत्ति के प्रति कारण है। अर्थात् कोई भी यदि किसी कर्म में प्रवृत्त होगा तो सब से पहले वह यह देखेगा कि इस काम के करने से मेरा इष्ट सिद्ध होगा या नहीं। दूसरी बात वह यह देखेगा कि यह काम मैं कर भी सकूंगा या नहीं एवं तीसरी बात यह सोचेगा कि इसमें मेरे अनिष्टों को दूर करने की क्षमता है या नहीं। इन तीनों बातों का उचित समाधान होने पर ही कोई किसी कर्म में प्रवृत्त होता है। ये सब विधि के ही रूप हैं—जो प्रवृत्ति के प्रति कारण हैं। प्रवृत्ति के प्रति कारण होने ही के कारण विधि को प्रवर्तना कहा जाता है। उनके मत में ये सभी लिङ् के अर्थ हैं।

मीमांसक इनको इस रूप में स्वीकृत नहीं करते। उनका कहना है कि इष्टसाधनत्व, कृति साध्यत्व और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ये तीनों ही लिङ् के अर्थ नहीं है। ये तो तीनों बिना ही लिङ् के बताये हुए स्वतः आक्षिप्त हो जाते हैं। विधि वाक्य ने "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग कामो यजेत" (स्वर्ग चाहने वाला दर्शपूर्णमास याग करे) इस रूप

में दर्शपूर्ण मास का विधान किया। पर जब तक कोई भी इसमें अपने अभीष्ट फल को नहीं देखेगा. तो वह उस काम में भी प्रवृत्त नहीं होगा जब तक कोई भी इस प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त नहीं होगा, तो विधि में जो प्रवर्तकत्व शक्ति है, वह नष्ट हो जायेगी। इसलिए विधि ही अपने द्वारा विहित यज्ञ. याग आदि में अपने प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए इष्टसाधनता का आक्षेप कर लेती है। सब के लिए विश्वसनीय विधि कभी भी अनर्थ करने वाले एवं अपने से नहीं हो सकने वाले कर्म में तो किसी को प्रवृत्त करेगी ही नहीं। अतः स्वतः ही कृतिसाध्यत्व बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ये तो प्राप्त हो जाते हैं। फिर इन तीनों ही का लिङ् के अर्थ के रूप में स्वीकृत किया जाना असंगत है। वस्तुतः प्रवर्तक (जो प्रवृत्ति कराता है) पुरुष में रहने वाला 'यह इस काम में प्रवृत्त हो जाये" इस प्रकार का जो अभिप्राय है—वही लिङ्का अर्थ है। न्यायसुधाकार प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार ही को लिङ् के अर्थ के रूप में घोषित करते है जब कि पार्थसारथि मिश्र सब जगह प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाध्यनत्व को ही कारण के रूप में देखते हुए (यज्ञ, याग आदि में रहने वाले) प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार के रूप से लिङ्का[१] अभिधेय स्वीकार करते हैं। यही लिङ् आदि में रहने वाली अभिधा नाम की शक्ति प्रवृत्ति कराने के कारण प्रवर्तना के नाम से संबोधित की जाती हैं।

इस प्रकार लिङ्, लेट् तव्यप्रत्यय से अभिधीयमान यह अर्थ धर्म में प्रमाण है, क्यों कि इसके द्वारा अन्य प्रमाणों से अज्ञात और अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञ याग आदियों का विधान किया जाता है। यही इसके द्वारा विधीयमान यज्ञ याग धर्म हैं —यह तो हम पहले ही कह चुके हैं। प्रमाण का जो सारा लक्षण है—अनधिगत और और अबाधित अर्थ का बोधन कराना—वह भी इसमें अक्षरशः संगत होता है। इन यज्ञ और होम आदि में जो धर्मता है, वह क्रिया के रूप

१—अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिंगादयः ॥ (वार्तिक)

में न होकर उनके अलौकिक कल्याण के साधन के रूप में है और उनका यह रूप वैदिक शब्द के बिना और किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता। अतः यही उनका सब से प्रथम [१] प्रामाणिक आधार है।

अर्थवाद

वेद का दूसरा भाग अर्थवाद भाग है। ये अर्थवाद विधेय अर्थ की स्तुति कराते हुए प्रमाण बनते हैं। उदाहरण के लिए "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" (जो ऐश्वर्य चाहता है, वह वायव्य याग करे) इस वाक्य के द्वारा वायव्य याग का विधान किया गया। इसके अनन्तर इसके समीप में (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति" (वायु तेज चलने वाली देवता है··· वही इसको ऐश्वर्य की प्राप्ति कराती है) यह एक वाक्य श्रुत है। उसका यदि यह मुख्य अर्थ ही ग्रहण किया जायेगा, तो वह सर्वथा असंबद्ध प्रलाप होने के कारण अनर्थक होने लग जायेगा। क्योंकि हम तो यह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि जो वाक्य क्रिया या उससे संबन्धित अर्थ का ज्ञान करायेगा—वही प्रमाण है, शेष नहीं। इस तरह यदि वेद का एक एक वाक्य भी निरर्थक होने लग जायेगा, तो वेद के सर्वसंमत प्रामाण्य में महान् आपत्ति हो जायेगी। इसी से बचने के लिए इन अर्थवाद वाक्यों की सार्थकता सिद्ध की जाती है। ये अर्थवाद विधि के द्वारा अपेक्षित प्रशंसा उसे देते हैं। विधि ने किसी एक कर्म का विधान किया—फिर भी यदि उसमें कोई प्रवृत्त नहीं हुआ, तो विधि को इस बात की अपेक्षा होती है कि कोई उसके कर्म की प्रशंसा कर उसमें प्रवृत्ति कराये—जिससे उसका प्रवर्तकत्व सार्थक हो। इस तरह विधि को अपने प्राशस्त्य की अपेक्षा है। इधर अर्थवादों को उनका

१—तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता।
श्रेयसाधनता ह्येषां, नित्यं वेदात्प्रतीयते ॥
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं, तस्मान्नेन्द्रियगोचरः। (वार्तिक)

अभिधेय अर्थमात्र स्वीकार कर लेने से ही कोई संगति नहीं बैठती और व अपनी निरर्थकता से बचने के लिए किसी क्रिया से संबद्ध होने की कामना रखते हैं। इस दोनों ओर की आकाङ्क्षाओं के होने पर स्वतः उनका अन्वय हो जाता है। विधि के साथ इनकी एकवाक्यता हो जाने पर विधि को प्रशंसा मिल जाती है और अर्थवादों का विधेय अर्थ की स्तुति के द्वारा क्रिया के साथ संबन्ध हो जाता है। इससे विधि की प्रवर्तकता में चार चांद लग जाते हैं। स्पष्टीकरण के लिए उपर्युक्त उदाहरण को ही लीजिये–'वायव्य श्वेत······' इस विधि वाक्य ने वायव्य याग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा तो दी, पर जब प्रमाद, आलस्य आदि के कारण मानव इस ओर से शिथिल होने लगा–तो "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इस अर्थवादवाक्य ने वायु की प्रशंसा कर उसके द्वारा वायु देवता वाले इस यज्ञ की ओर उसको प्रवृत्त होने की प्रेरणा पुनः प्रदान की। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य कहीं विधेय क्रिया की साक्षात् कहीं उससे संबन्धित द्रव्य और देवता आदि की स्तुति कराते हुए प्रमाण बनते हैं। इनमें से कुछ एक फलविधि के एवं कुछ एक हेतुविधि के समान भी होते हैं–जिनको क्रमशः विधिवन्निगद व हेतुवन्निगद इन नामों से अभिहित किया जाता है। "औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्ग्वा उदुम्बरः"······आदि और 'शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते'···· आदि आदि इनके क्रमिक उदाहरण हैं।

वैसे शैली को ध्यान में रखते हुए इन्हें तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद के नाम से। जहाँ पर अन्य प्रमाण से विरुद्ध अर्थ इनके द्वारा बताया जाता है–वहाँ इन्हें गुणवाद के नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार "स आत्मनो वपामुदक्खिदत् तामग्नौ प्रागृह्णात्" उसने अपनी वपा को निकाल लिया और आग में होम दिया) इसी वाक्य को लीजिये। प्रजापति ने संसार की रचना करने की इच्छा की और उसके लिए कोई यज्ञ भी करना चाहा। जब यज्ञ के लिए कोई द्रव्य नहीं मिला, तो

उसने अपनी वपा ही को उखाड़ कर आग में होम दी—उससे बिना सींग का पशु पैदा हुआ—यह इसका प्रासंगिक अभिप्राय है। इसकी प्रत्यक्षविरुद्धता स्पष्ट है—भला कोई अपना वपा को निकाल व होम कर जीता रह सकता है? । इस प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध अर्थ का बोध कराने के कारण ही इसे गुणवाद माना जायेगा और इसके द्वारा प्रकृत पशुयाग की स्तुति कराई जायेगी। अर्थात् सृष्टि के आदि में इतना पशुओं का अभाव था—जो कि प्रजापति को अपनी वपा तक को हवन करने की स्थिति का सामना करना पड़ा। और यह उसी पशुयाग का सामर्थ्य है—जिसके अनुष्ठान करने मात्र से ही प्रजापति में प्रजा और और पशुओं के उत्पन्न करने की शक्ति आ गई और वह इतना महनीय बन सका। अनुवाद के द्वारा अन्य प्रमाणों से ज्ञात अर्थ का बोध कराया जाता है—जैसे "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इसी वाक्य में देख लीजिये। वायु शीघ्रगामी देवता है—यह अर्थ तो लोक से ही ज्ञात है—इसके लिए किसी भी वैदिक प्रमाण को ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी दशा में यह वाक्य अनुवाद मात्र करता है। भूतार्थवाद इन दोनों से विचित्र होता है—उसमें केवल इतिहास की तरह भूत अर्थ की ओर संकेत किया जाता है—जैसे "इन्द्रो वृत्रमहन्" (इन्द्र ने वृत्र को मारा) आदि। इसी प्रकार ये भी धर्म में प्रमाण बन जाते हैं।

मंत्र

मंत्र वेद ही का तीसरा भाग है। उन-उन कर्मों का अनुष्ठान करते समय उनसे सम्बन्धित क्रियाओं, अंगों, द्रव्यों एवं देवताओं का प्रकाशन करना मंत्रों का कार्य है और कर्मकांड में यही उनका विशाल प्रयोजन है। इस स्मरण के बिना कर्म के अंगों की संगति नहीं बैठ पाती और न उनका क्रम ही जम पाता है। विधि भी इस प्रकार कहती है कि स्मरण अन्य साधनों के द्वारा करने पर उतना फलदायक नहीं होता जितना मंत्रों के द्वारा। इसीलिए "मंत्रों से ही स्मरण करना

चाहिए" ऐसा एक नियम भी मंत्रों की सार्थकता की दृष्टि से बन गया। इस प्रकार स्मरण कराने रूप दृष्ट प्रयोजन जब मंत्रों का प्राप्त हो जाता है—तो फिर किसी अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जो मंत्र जहाँ पढ़े जाते हैं-उनके द्वारा वहीं यदि कोई अर्थप्रकाशन रूपी प्रयोजन सिद्ध हो सकता है तो उनका वहीं विनियोग कर दिया जाता है। जिनका वहाँ उपयोग नहीं होता-तो उन्हें वहाँ तक ले जाया जाता है—जहाँ उनका उपयोग हो सकता है। जैसे-पूषानुमंत्रण मंत्रों का, क्योंकि दर्शपूर्णमास में कोई पूष देवता नहीं। जिनका वहाँ भी सम्बन्ध नहीं होता और दूसरे स्थान पर भी प्रयोजन संभव नहीं दिखाई देता—उनका उसी प्रकरण में लक्षणा आदि के सहारे विनियोग कर दिया जाता है। जिस तरह "त्वं अग्ने प्रथमो मनोता" इस मनोता मंत्र का। यह अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में पढ़ा गया है वहां कोई अग्नि देवता वाला यज्ञ नहीं है—फिर भी इस मंत्र की अग्नि की अग्नीषोमीय में लक्षणा कर इसका वहीं पर सम्बन्ध कर दिया जाता है। जहाँ लक्षणा से भी सम्बन्ध नहीं बैठ पाता और उत्कर्ष भी नहीं हो पाता उन्हें केवल अदृष्टार्थ मान लिया जाता है-जिस तरह जपमंत्रों को इस तरह सबको प्रयोजनवत्ता संगत हो जाती है॥

शैली की दृष्टि से इनके तीन प्रकार हैं । १-करणमंत्र, २-क्रियमाणानुवादिमंत्र, ३-अनुमंत्रणमंत्र । जहाँ पहले मंत्र का उच्चारण कर फिर काम किया जाता है, वहाँ करणमंत्र होता है।जैसे "इषे त्वा" आदि एवं याज्यापुरोनुवाक्या आदि । जहाँ मंत्र बोलने के साथ साथ कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, वहाँ क्रियमाणानुवादिमंत्र होता है। जैसे "युवा सुवासा" आदि मंत्र बोलते जाते हैं और यूप के कपड़ा लपेटते जाते हैं। जो कर्म करने के बाद पढ़े जाते हैं, उन्हें अनुमंत्रण मंत्र कहा जाता है जैसे "अग्नेरहं देवयज्ययाऽन्नादो भूयासम्" आदि मंत्रों के सभी भागों की इस तरह फलवत्ता सिद्ध हो जाती है। अनेक आलोचक उनके प्रामाण्य में संशय करते हैं। उनका कहना है कि मंत्रों के द्वारा

बोधित अर्थ अनधिगत अर्थ नहीं है। मीमांसक पदार्थ द्वारा उनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। क्यों कि मन्त्र पदार्थ हैं, इसी लिए मंत्र का विनियोजन करने वाले वाक्यार्थ की प्रतीति कराने वाले हैं। हमारे मत में पदार्थज्ञान वाक्यार्थज्ञान के प्रति कारण हैं। इस तरह मंत्रों में भी स्वभावतः आजाता है।

नामधेय

नामधेयों के द्वारा विधेय अर्थ की अन्य अर्थों से व्यावृत्ति कराई जाती है, इसलिए वह भी धर्म में प्रमाण है। ज्योतिष्टोम आदि जो जो यज्ञ यागों के नाम हैं, वे वे उन्हें अन्य भागों से व्यावृत्त कराते हैं। विधेय अर्थ के परिच्छेद होने के कारण ही उनकी विधि के साथ भी एकवाक्यता हो जाती है यह नामधेय चार निमित्तों से सिद्ध होता है। १-मत्वर्थलक्षणाकेभय से, २-वाक्यभेद के भय से, ३-तत्प्रख्यशास्त्र से, ४-तद्व्यपदेशान्याय से। "उद्भिदा यजेत पशुकामः" यहाँ पर "उद्भिदा" इसको नामधेय प्रथम कारण से मानना पड़ता है, अन्यथा "उद्भिद् (कुदाली) वाले" ऐसा अर्थ करना पड़ता और मत्वर्थलक्षणा को अंगीकृत करना होता। "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादि स्थलों में दूसरे निमित्त से नामधेयत्व है, अन्यथा एक विधि प्रत्यय के द्वारा अनेक चित्रगुणों का विधान असंभव होता और उनके विधान करने पर वाक्य-भेद दोष हमारे सिर पर आजाता। "अग्निहोत्रं जुहोति" आदि स्थलों में नामधेयत्व तीसरे निमित्त के करण हैं, क्योंकि इसके द्वारा विधान किये जासकने वाले संपूर्ण गुण "अग्निर्ज्योति" आदि वाक्यों के द्वारा पहले ही से प्राप्त हैं। अतः विधित्सित गुण का प्रख्यापक (बोधक) अन्य शास्त्र होने के कारण यहाँ तत्प्रख्यशास्त्र नामधेय का निमित्त है। "श्येनेनाभिचरन् यजेत" यहाँ पर नामधेयत्व चतुर्थ निमित्त के कारण हैं, क्योंकि "यथावै श्येनो निपत्यादत्त एवमयं" इस अर्थवाद वाक्य में श्येनसादृश्य का व्यपदेश किया गया है। सादृश्य सदा भिन्न वस्तुओं

में होता है। इसलिए यही तद्व्यपदेश इसे नामधेय सिद्ध कर देता है। इसी तरह "वैश्वदेवेन" आदि स्थलों में भी तत्प्रख्य शास्त्र से नामधेयत्व मानना चाहिए। उनके लिए उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व आदि अतिरिक्त निमित्तों के स्वीकृत करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त इन्हीं निमित्तों से ये सब उन उन यज्ञों के नाम बन जाते हैं। इनके प्रामाण्य के विषय में ऊपर लिखा ही जा चुका है। इसी तरह वाक्यशेष भी संदिग्ध अर्थ का निर्णय कराते हुए धर्म में प्रमाण बनता है। सामर्थ्य भी इसी तरह निर्णय कराता है।

स्मृति

इन वैदिक भागों के अतिरिक्त स्मृतियां भी धर्म के प्रति प्रमाण हैं, परन्तु उनका वेद की तरह स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं हैं, अपितु वेदमूलक होने के कारण है। मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर आदियों ने—जो कि प्रायः सर्वज्ञ थे और संपूर्ण वेदों और शास्त्रों के रहस्यों से सुपरिचित थे। इधर उधर बिखरे हुए और एक दूसरी शाखाओं में गये हुए वाक्यों को उद्धृत करके आजकल के मन्दबुद्धि व्यक्तियां पर अनुग्रह करने के लिए उन्हें याद कर कर उन उन ग्रंथों में गूंथ दिया है। इस स्मरण के आधार पर ही उनका स्मृति यह नाम पड़ा है एवं इसी वेदमूलकता के कारण उनमें प्रामाण्य भी आता है। यदि स्वतत्र प्रामाण्य उनका अंगीकार किया जायेगा, तो ये पुरुषों के द्वारा निर्मित हैं, इसलिए भ्रान्ति आदि दोषों का समावेश उनमें सुशक होने के कारण उनका प्रामाण्य सर्वथा लुप्त हो जायेगा। आजकल के हम जैसे मन्दबुद्धियों में अनेक वैदिक शाखाओं में इधर उधर बिखरे हुए वाक्यों के संग्रह, विधि और अर्थवाद के विवेचन, न्यायसिद्ध अथ के निर्धारण, एवं धर्म – स्वरूप के निर्णय करने का सामर्थ्य नहीं रह गया है। इसी दृष्टि से उन स्मृतियों की रचनायें की गई हैं। उनमें कुछ एक प्रत्यक्ष वेदवाक्यों से, कुछ एक अनुमित वेदवाक्यों व कुछ अर्थवादों और मंत्रां पर आधारित हैं।

इनका प्रामाण्य स्थापित करते हुए भी महर्षि जैमिनि ने अन्ध-विश्वास आदि को स्थान नहीं पाने दिया है। विचारपूर्वक वेद-संबद्धता के निर्णय होने पर ही स्मृति का प्रामाण्य है। यदि अन्य कई एक मूल प्राप्त होते हैं-तो स्मृति अप्रमाण बन जाती है। जिस तरह "वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युः परिगृह्णाति" इस स्मृति में वैसर्जन होम के कपड़े को अध्वर्यु ग्रहण करता है इतने बड़े कपड़े को लेने में अध्वर्यु का लोभ दिखाई देता है-इसलिए लोभ-मूलक होने के कारण ऐसी स्मृतियां अप्रमाण हैं। इसी तरह जहां वेद से विरोध दिखाई देता है-वहाँ भी स्मृति को अप्रमाण माना जाता है। जैसे-"औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" यह स्मृति। इसके द्वारा संपूर्ण औदुम्बरी का वेष्टन विहित है-जो औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" (औदुम्बरी को छू कर गान करे) इस स्मृति से विरुद्ध पड़ती है, क्योंकि वेष्टन (स्मृति के अनुसार) होने के अनन्तर स्पर्श असंभव है। इसी प्रकार पद-पदार्थ के निर्णय में व्याकरण[१] स्मृति प्रमाण है।

शिष्टाचार

शिष्टों के आचार भी इसी प्रकार धर्म में प्रमाण है। इन शिष्टों को आचार्य बोधायन[२] ने इन शब्दों में परिभाषित किया है। जिनके किसी प्रकार की ईर्ष्या, अहंकार, लोभ, दंभ, दर्प, मोह और क्रोध न हो और जिनके पास केवल एक, घड़े भर अनाज हो। घड़े भर अनाज होने से संतोष और अपरिग्रह वृत्ति की ओर संकेत होता है। इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट शिष्टों का आचार भला धर्म से कम क्यों होने लगा, इसी लिए उसकी प्रमाणता संगत है। स्मृति का वेद से सीधा संबन्ध है, जब कि आचार का स्मृति के द्वारा। आचार के आधार पर

१—साधुपद-प्रयुक्त्यधिकरण (१-३-६)।

२—धर्मेणाधिगतो येषां वेदस्सपरिबृंहणः।
शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥

स्मृति की कल्पना और स्मृति के द्वारा श्रुति का अनुमान किया जाता है। श्रुति और स्मृति का विरोध होने पर श्रुति और स्मृति एवं आचार का विरोध होने पर स्मृति ही प्रबल प्रमाण ठहरता है। दाक्षिणात्यों में मामा की लड़की के साथ विवाह आचार सिद्ध है, फिर भी स्मृति के विपरीत पड़ने के कारण वह[1] अप्रमाण है। ये आचार भिन्न भिन्न देशों के अनुसार भिन्न भिन्न हैं और सभी अपने[2] अपने क्षेत्रों में प्रमाण हैं। शब्दों के अर्थों के प्रसंग में भी आर्य[3] और म्लेच्छों में आर्यों के अर्थ को प्रमाण माना गया है, क्योंकि वह शास्त्र के अधिक निकट होता है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि म्लेच्छों[4] में प्रचलित अर्थ उचित होते हुए भी ग्रहण न किया जाये। यह आचार ही लोक में धर्म के प्रत्यक्ष निर्णायक के रूप में प्रचलित है। ये आठों प्रमाण धर्म के आधार हैं।

१—मातुलस्य सुतामुद्वा मातृगोत्रां तथैव च।
समानप्रवरां चैव त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

२—होलाकाधिकरण (१-३-८)

३—आर्यम्लेच्छाधिकरण (१-३-५)

४—पिकनेमधिकरण

२–भावना

मीमांसकों का सर्वस्व भावना है। यह भावना कोई विचार नहीं है—जैसा कि लोक में प्रचलित है–अपितु एक विशेष प्रकार का व्यापार है। होने वाले कर्म की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजक में रहने वाले विशेष व्यापार को मीमांसकों ने भावना का पारिभाषिक रूप बताया है। "यजेत" आदि विधायक प्रत्ययों में मीमांसक दो रूप मानते हैं—प्रथम लिङ्त्व और द्वितीय आख्यातत्व। ये दोनों ही मिल कर भावना को कहते हैं। यह भावना दो प्रकार की है—१-शाब्दी भावना, २-आर्थी भावना। इनमें पुरुष की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयोजक आचार्य आदि अथवा शब्द में रहने वाला विशिष्ट व्यापार शाब्दी भावना है। यह लिङ्त्व के द्वारा कही जाती है। क्योंकि लिङ के सुनने पर "यह मुझे प्रवृत्त करता है या मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार कर रहा है"—ऐसी नियम से प्रतीति होती है। यह प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार-विशेष लोक में तो पुरुष में रहने वाला अभिप्राय विशेष है—किन्तु वेद में उसके अपौरुषेय होने के कारण पुरुष का प्रवेश तो संभव नहीं है—वहां तो लिङ आदि शब्द ही हैं—इसलिए यह व्यापार वहाँ पुरुष में न रह कर इन शब्दों में ही रहता है–इसीलिए इसका "शाब्दी भावना" यह नामकरण भी हो गया है। इस शाब्दी भावना को तीन अंशों की अपेक्षा होती है—१-साध्य, २—साधन ३—इतिकर्तव्यता। साध्य की आकांक्षा होने पर वक्ष्यमाण आर्थी भावना का साध्य के रूप में, साधन की आकांक्षा होने पर लिङ आदि ज्ञान का उस रूप में एवं इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्राशस्त्य—ज्ञान का इतिकर्तव्यता के रूप में अन्वय हो जाता है।

शाब्दी-भावना के साध्य के रूप में आर्थी-भावना को हम प्रस्तावना कर चुके हैं। वस्तुतः पुरुष में स्वर्ग की इच्छा से उत्पन्न याग-विषयक जो प्रयत्न है, वह आर्थी भावना है। प्रवृत्ति का कराना शाब्दी भावना का कार्य है और उसका साध्य ही प्रयत्न के रूप में हमारे सामने आता है। आख्यातत्व द्वारा इसका अभिधान किया जाता है, क्योंकि "यजेत" इस आख्यात के सुनने पर "याग में यत्न करे" ऐसी प्रतीति होती है। यही प्रयत्न आख्यात का वाच्य है। यह भी उन्हीं तीनों अंशों की अकाङ्क्षा करती है। इसमें साध्य की आकाङ्क्षा होने पर स्वर्ग आदि फलों का भाव्यत्वेन अन्वय हो जाता है। साधन की आकाङ्क्षा होने पर यज्ञ आदि का करण के रूप में, इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होने पर प्रयाज आदि का उस रूप में अन्वय हो जाता है।

उपर्युक्त आख्यातत्व और लिङ्त्व इन दोनों प्रकारों में आख्यातत्व दशों लकारों में रहता है, जब कि लिङ्त्व, केवल लिङ् ही में रहता है। इस सर्व-सामान्य आख्यात का अर्थ भावना है—ऐसा मीमांसकों का सिद्धान्त है—जब कि वैयाकरण इसके विपरीत कर्ता को आख्यात का वाच्य मानते हैं। संक्षेप में जहां वैयाकरण कर्तृप्रधान शाब्दबोध करते हैं, वहां मीमांसक भावना-प्रधान शाब्दबोध को अपनाते हैं। कर्ता आक्षेप से प्राप्त हो जाता है—अर्थ के रूप में उसको स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि अर्थ वह ही होता है—जो दूसरे प्रकारों से प्राप्त नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में आख्यात से वाच्य भावना जब कर्ता के बिना अनुपपन्न होने लगती है, तो अपने ही आप कर्ता का आक्षेप कर लेती है, फिर उसे आख्यात का अर्थ मानने की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार की भावना प्रथम शब्द से संबद्ध होने के कारण शाब्दी-भावना कहलाती है। अर्थ का अर्थ फल है—और फल से सम्बन्धित होने के कारण ही इस द्वितीय भावना का आर्थी-भावना यह नाम पड़ा है।

अपूर्व

आर्थी-भावना से संबन्धित यह फल विनश्वर यज्ञ, याग आदि इसके कारणों से साक्षात् नहीं प्राप्त हो सकता ? क्योंकि आर्थी भावना के संपूर्णकरण यज्ञ, याग आदि शीघ्र हो विनष्ट हो जाते हैं और फल की उत्पत्ति होने तक नहीं ठहर पाते। इसलिए आर्थी भावना के साध्य स्वर्ग आदि फल और आर्थी भावना के साधन यज्ञ, होम आदि के मध्य में एक वस्तु की कल्पना करनी होती है-जिसको अपूर्व के नाम से अभिहित किया जाता है। यह आचार्य[१] श्री शंकर के शब्दों में कर्म की सूक्ष्म उत्तर अवस्था है एवं फल की पूर्व अवस्था है। जिस तरह अंगारों से होने वाली गरमी अंगारों के शान्त होजाने पर भी पानी आदि में आ जाती है, उसी तरह याग से होने वाला अपूर्व याग के नष्ट हो जाने पर भी कर्ता की आत्मा में अवस्थित हो रहता है और फल को उत्पन्न करा कर नष्ट हो जाता है। यह अपूर्व चार प्रकार का है-परमापूर्व, समुदायापूर्व, उत्पत्त्यपूर्व और अंगापूर्व भेद से। प्रधान के अनुष्ठान के मात्र से ही जो एक अपूर्व उत्पन्न होता है, वह उत्पत्त्यपूर्व कहलाता है। इसके अनन्तर उत्तर अंगों से जो अपूर्व पैदा होते हैं, वे अंगापूर्व कहलाते हैं। इन अंगापूर्वों से उपकृत प्रधान अपूर्व परमापूर्व को उत्पन्न करके नष्ट होजाता है। यह परमापूर्व फल के उदय होने तक यजमान की आत्मा में अवस्थित रहता है और फल को उत्पन्न करा कर नष्ट होजाता है। इस व्यवस्था से एक एक कर्म से बार बार फल की उत्पत्ति का प्रसंग भी नहीं आ पाता। कहीं कहीं समुदायापूर्व भी होता है। जैसे-दर्शपूर्णमास याग में दर्श के तीन प्रधान याग अपने अंगों के साथ एक समुदायापूर्व को पैदा करते हैं, उसी तरह पूर्णमास के भी। ये दोनों समुदायापूर्व मिल कर एक परमापूर्व को जन्म दे देते हैं-जो फल की उत्पत्ति करा देता है।

१—न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दतुं शक्नोति। अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थपूर्वं नामास्तीति तर्क्यंते।

३—अध्यायों की रूपरेखा

कर्मभेद

उपरि प्रतिपादित अपूर्व याग, होम, दान आदि धात्वर्थों से उत्पन्न होता है। याग में देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग किया जाता है, वही जब आहवनीय आदि अग्नि को अधिकरण मान कर किया जाता है, तो होम कहलाता है। याग "यजति" से एवं होम "जुहोति" से बोधित है। जैसे "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" यह याग व "अग्निहोत्रं जुहोति" यह होम का उदाहरण है। दान में अपना अपनापन सब तरह से हटा कर दूसरे का अपनापन उसमें स्थापित किया जाता है। इनको परस्पर एक दूसरे से भिन्न करने के लिए विचार-शास्त्रियों ने छै प्रमाण अंगीकृत किये हैं-१-शब्दान्तर २-अभ्यास, ३-संख्या, ४-संज्ञा, ५-गुण, ६-प्रकरणान्तर। एक ही प्रकरण में जब भिन्न-भिन्न धातुओं से बने हुए आख्यातों का प्रयोग होता है-तो वहां शब्दान्तर होने के कारण भिन्न-भिन्न कर्म मान लिये जाते हैं-जैसे "तेन सोमेन यजेत", हिरण्य-मात्रेयाय ददाति, दाक्षिणानि जुहोति" आदि स्थलों में यजेत, ददाति और जुहोति ये तीनों भिन्न भिन्न धात्वर्थ हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न भावनाओं, भिन्न भिन्न अपूर्व और भिन्न भिन्न फलों के आश्रय हैं। इसी प्रकार जब एक ही धात्वर्थ (विधि) का बार-बार अभ्यास किया जाता है तो वहां भी कर्म भेद हो जाता है-जैसे—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति" इन वाक्यों

में एक ही यजति पांच बार श्रुत है-इसलिए इन्हें भिन्न-भिन्न कर्म माना जाता है। काम्येष्टिकाण्ड में "वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः" इसके द्वारा विहित सांग्रहणी इष्टि की सन्निधि में श्रुत है—

"आमनमस्यामनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति।

यहां आहुतियों की तीन संख्या श्रुत है-जिसका अपने आश्रित कर्म की भिन्नता के बिना निवेश असंभव है इसलिए ऐसे स्थलों में संख्या के आधार पर कर्मभेद ग्राह्य है। "अथैष ज्योतिः, अथैष विश्वज्योतिः, अथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यतो" इस वाक्य में भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है-जिससे ये भिन्न-भिन्न कर्म सिद्ध होते हैं। इसी तरह जब पहले कर्म में किसी गुण का प्रवेश न हो सके तो वह गुण भी कर्म-भेद की स्थिति उत्पन्न कर देता है-जैसे-"यदाग्नेयोऽष्टाकपालो-ऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति" इस वाक्य में अग्निदेवता पुरोडाश, कपाल, उनकी संख्या और काल इन अनेक गुणों के विधान करने से उत्पद्यमान वाक्य भेद पहले कर्म से पृथक् कर्म का विधान करा देता है। अनुपादेय गुण से विशिष्ट पहले कर्म की अनुपस्थिति प्रकरणान्तर कहलाती है-जो भी कर्मभेद का मूल है। एक सत्रविशेष के निकट श्रुत है। "उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वति। मासं-दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते" आदि यहां मास अनुपादेय गुण है और पूर्व कर्म अग्निहोत्र की उपस्थिति में भी कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए इसे नित्य अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास से पृथक् कर्म स्वीकार करना होता है इसी तरह देश, निमित्त, फल और संस्कार्य आदि के योग होने पर भी प्रकरणान्तर से कर्मभेद होता है। ये सब प्रमाण कर्म-स्वरूप मात्र का बोध कराने वाली उत्पत्ति विधि के सहायक हैं। इसी उत्पत्ति विधि का निरूपण विस्तरशः प्रथम और द्वितीय अध्याय का विषय रहा है। "अग्निहोत्रं जुहोति" आदि उत्पत्ति विधि ही के उदाहरण हैं। यह विधि का पहला प्रकार है।

अंगत्व

उत्पत्तिविधि के अनन्तर दूसरा प्रकार विनियोगविधि है—जिसका निरूपण तृतीय अध्याय में किया गया है। विनियोग का अर्थ अङ्गत्वबोधन है और इसीलिए इसे अर्थात् अङ्गत्व बोधन कराने वाली विधि को विनियोग.विधि कहा जाता है। यह अंगत्व दूसरे के उद्देश्य से प्रवृत्त क्रिया के कारक के रूप में विहित होना है। इसके बोधन करने के लिए श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समख्या ये छै सहायक प्रमाण हैं। जिसके सुनने मात्र ही से अंगत्व का बोध हो जाता है-ऐसे शब्द को श्रुति कहा जाता है। सब विभक्तियों में तृतीया के द्वारा सीधा ही अङ्गत्व का बोध करा दिया जाता है। यह श्रुति तीन प्रकार की है-१—विभक्तिरूप, २—समानाभिधानरूप, ३—एक-पदरूप। विभक्तिरूप श्रुति में प्रथमा और षष्ठी विभक्ति से रहित संपूर्ण बिभक्तियों का समावेश है "व्रीहीन् प्रोक्षति" यह द्वितीया श्रुति और "दध्ना जुहोति" यह तृतीयाश्रुति का उदाहरण है। व्रीहि प्रोक्षण के प्रति और दधि होम के प्रति द्वितीया और तृतीया विभक्ति के द्वारा अङ्ग बनते हैं। "यजेत" आदि में भावना में संख्या आदि की अङ्गता समानाभिधान श्रुति और धात्वर्थ की भावना के प्रति अङ्गत एकपदश्रुति के द्वारा होती है। श्रुति-कल्पना के अनुकूल शब्द और अर्थ में रहने वाला सामर्थ्य लिंग है-जो दूसरा अङ्गत्वबोधक प्रमाण है। "बर्हिर्देवसदनं दामि" यहाँ पर शब्दगत लिंग है-जिसके द्वारा इस मंत्र का बर्हियों के काढ़ने में विनियोग किया जाता है। 'स्रु वेणावद्यति' आदि में यह सामर्थ्य अर्थगत है। यह लिंग सामान्यसबन्धप्रमणान्तर-सापेक्ष और निरपेक्ष इन भेदों से द प्रकार का है। तीसरा प्रमाण वाक्य है-जो अङ्ग और अङ्गीभाव के योग्य पदों का एक साथ उच्चारण है। "खादिरो यूपो भवति" इस वाक्य में अंगत्वबोधक कोई भी श्रुति नहीं होने पर भी खादिर और यूप के साथ उच्चारण होने के कारण खादिर (खैरो) यूप के प्रति अंग बनता है। प्रकरण चौथा

प्रमाण है–जिसमें फल वाले और बिना फलवाले कर्मों में एक दूसरे की उपकार्य और उपकारक की आकांक्षा रहती है। जैसे दर्शपूर्णमास और प्रयाज आदि का। दर्शपूर्णमास को यह आकांक्षा है कि स्वर्ग के संपादन में उसकी कोई सहायता करे, इसी तरह प्रयाज को यह आकांक्षा है कि वे किसी फल से संबन्धित हों–इस तरह एक दूसरे की यह आकांक्षा प्रकरण द्वारा अंगत्व से अन्वित हो जाने पर शान्त हो जाती है। यह प्रकरण क्रिया ही का विनियोग करता है, द्रव्य और गुण आदि सिद्ध वस्तुओं का नहीं। यदि उनका कहीं ग्रहण कराया भी जाता है, तो क्रिया के द्वारा हो–साक्षात् नहीं। यह प्रकरण दो प्रकार का है— महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण के भेद से। फल भावना का प्रकरण महाप्रकरण होता है। जैसे दर्शपूर्णमास आदि का। यह प्रकृति में ही होता है, विकृति में नहीं। जहाँ संपूर्ण अपेक्षित अंगों का उपदेश होता है, उसे प्रकृति कहते हैं और जहां प्रकृति से आवश्यक अंगों को ग्रहण किया जाता है, वहां विकृतिकर्म होता है। फलभावना के बीच में पड़ी हुई अंग भावना का जो प्रकरण होता है–वह अवान्तरप्रकरण कहलाता है। जैसे अभिक्रमण आदि की प्रयाजांगता। स्थान पंचम प्रमाण है–जो देश-सामान्य होता है–अर्थात् एक देश में होना। यह दो प्रकार का है। पाठ से और अनुष्ठान से। पाठ भी दो प्रकार का होता है–यथासंख्यपाठ और संनिधिपाठ भेद से। काम्येष्टिकांड में "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामः" "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत वर्धमान" इन वाक्यों द्वारा विहित इष्टियों के "उभा वामिन्द्राग्नी" इन्द्राग्नी नवतिं पुरः" यज्यापुरोनुवाक्या-युगल क्रमशः प्रथम प्रथम का और द्वितीय द्वितीय का अंग बन जाता है, स्थान प्रमाण से। इसी तरह अनुष्ठान क्रम भी होता है। समाख्या इस क्षेत्र में अन्तिम प्रमाण है जो यौगिक शब्द के रूप में परिभाषित की गई है। यह भी लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की है। आध्वर्यव, हौत्र आदि याज्ञिकों द्वारा कल्पित आख्याएं लौकिक एवं होतृचमस, मैत्रावरुण

प्रयोग-विधि का कार्य है। अपने इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रयोग-विधि को विधेय पदार्थों के नियत क्रम की अपेक्षा होती है-जिसके आधार पर अनुष्ठान शीघ्रता से हो सके। यह क्रम एक प्रकार का आनन्तर्य है—अर्थात् "इसके बाद यह" आदि रूप में आता है। इसके बोध के लिए भी मीमांसकों ने श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति को सहायक कारण के रूप में स्वीकार किया है। जहाँ अर्थ, ततः, क्त्वा, ल्यप् आदि क्रम बोधक शब्दों के द्वारा ही साक्षात् क्रम का ज्ञान कराया जाता है—वहाँ श्रुति प्रमाण होता है। जिस तरह "वेदं कृत्वा वेदिं करोति" यहाँ "कृत्वा" (करके) इसके द्वारा वेदकरण के अनन्तर वेदिकरण के क्रम का बोध श्रुति ही के द्वारा करा दिया गया है। इससे आगे प्रयोजन के अनुरोध से जो क्रम निश्चित किया जाता है-वह अर्थ-क्रम होता है। जैसे—अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति" (होम करता है और लप्सी पकाता है) ।यहाँ पर यवागू के पाक का बाद में पाठ होने पर भी पहले अनुष्ठान होता है, क्योंकि उसका होम में प्रयोजन है। मंत्रपाठ या ब्राह्मणपाठों से अनुष्ठान किये जाने वाले पदार्थों में जो क्रम बता दिया जाता है—वह पाठक्रम का उदाहरण है—"समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु" तनूनपादग्न आज्यस्यवन्तु" आदि मंत्र-पाठ के क्रम से ही प्रयाज आदियों में क्रम का आश्रयण किया जाता है। स्थान के आधार पर होने वाले क्रम को स्थान क्रम कहा जाता है। भिन्न भिन्न काल में होने वाले अनेक पदार्थ अतिदेश से जब विकृति में जाते हैं और उन सबका वचन के बल से जब एक ही समय में अनुष्ठान प्राप्त होता है-ऐसी दशा में पहले उपस्थित होने वाले का पहले और बाद में आने वाले का बाद में अनुष्ठान हो-ऐसा जो निर्णय किया जाता है-वही स्थान क्रम है। जिस प्रकार एक दिन साध्य साद्यस्क सोमयाग में सवनीय पशु का पहले उपाकरण इसी के बल पर होता है। प्रधान के अनुष्ठान के क्रम से ही जहाँ अंगों के अनुष्ठान का क्रम ग्रहण किया जाता है—वहां मुख्य क्रम होता है। जैसे—आग्नेय और अग्नीषोमीय के पौर्वापर्य के क्रम से ही

उनके निर्वाप और पुरोडाशश्रपण आदि का क्रम लिया जाता है—जिससे कि उन दोनों में अपने अंगों के साथ समान व्यवधान रह जाता है। इनमें सबसे अंतिम प्रमाण प्रवृत्ति क्रम है। प्रवृत्ति से यहां अभिप्राय प्रथम अंग का अनुष्ठान है और उसी क्रम से जब द्वितीय, तृतीय आदि अंगों का अनुष्ठान किया जाता है-तो उसे प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है। जिस तरह अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य इन तीनों पशुयागों में उपाकरण स्थान-क्रम द्वारा हुआ, तो नियोजन आदि प्रवृत्ति क्रम से होता है-जिससे अपने अंग के साथ उनका समान व्यवधान रह जाता है। इन सब में भी श्रुति, लिंग आदि अंगत्व-बोधक प्रमाणों की तरह ही एक दूसरे की अपेक्षा दौर्बल्य है—अर्थात् श्रुति की अपेक्षा अर्थ, अर्थ की अपेक्षा पाठ, पाठ की अपेक्षा स्थान, स्थान की अपेक्षा मुख्य और मुख्य की अपेक्षा प्रवृत्तिक्रम दुर्बल होता है। और परस्पर विरोध उपस्थित होने पर इसी क्रम से एक दूसरे को बाध लेता है। यही क्रम-निरूपण पंचम अध्याय का विषय है।

अधिकार

अधिकार का निरूपण षष्ठ अध्याय का विषय है। "कौन अधिकारी है,और कौन नहीं है"इस प्रकार के अधिकार का बोधन करने वाली विधि अधिकारविधि कहलाती है। "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्य अधिकार-विधि के उदाहरण हैं जिनमें स्वर्गकाम आदि का अधिकारी के रूप में उपादान किया गया है। पर कर्म में यह अधिकार केवल फल कामना वाले पुरुष मात्र को ही प्राप्त नहीं होता; अर्थात् उस अधिकारी में स्वाध्यय अध्ययन से संपादित अक्षरग्रहणों से विशिष्ट उस उस क्रतुविषयक अर्थज्ञान, आधान से सिद्ध अग्निमत्ता और उस कर्म के अनुष्ठान की शक्ति भी योग्यता के रूप में होना अनिवार्य है। ये सब अधिकारी की सामान्य योग्यता हैं। प्रत्येक क्रतु के लिए कुछ एक विशेष योग्यताएँ भी होती हैं। सामर्थ्य भी इन्हीं सामान्य योग्यताओं में संनि-

लित है। आधान सिद्ध अग्नि और अध्ययन के न होने के कारण शूद्रों के लिए कर्म का अधिकार नहीं है। इसी तरह पक्षियों का भी नहीं है। देवता मीमांसकों के मत में शरीरधारी नहीं है। इसलिए उनका भी कर्म में अधिकार नहीं है। इसी प्रकार अंगहीन मनुष्यों का भी कर्मानुष्ठान में अधिकार नहीं है, क्यों कि वे विधि-विधान के अनुसार कर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकते। अंधा घी आदि को नहीं देख सकता, मूक मंत्र का उच्चारण नहीं करसकता, पंगू इधर उधर की परिक्रमा आदि नहीं कर सकता और वधिर मन्त्र आदि को सुन नहीं सकता, अतः इन्हें अधिकार का न मिलना व्यावहारिक है। "वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीत" (वर्षाओं में रथकार अग्नि का आधान करे) "एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" आदि विशेष वाक्यों के द्वारा रथकार और निषादस्थपति (खाती और गुह) जैसे शूद्रों को भी विशेष अधिकार प्राप्त होजाता है। प्रायः अग्निहोत्र आदि कर्मों में स्त्रीसंवलित पुरुष ही का सामान्य अधिकार है।

इन सब अधिकारों में प्रतिनिधि को भी स्थान दिया गया है। जब विहित द्रव्य प्राप्त नहीं होता हो, तब उसके समान उतना ही कार्य करने में समर्थ दूसरा द्रव्य उसके स्थान पर अपना लिया जाता है-जिसे प्रतिनिधि कहा जाता है। जिस तरह दर्शपूर्णमास याग में "व्रीहिभिर्यजेत" इस वाक्य के द्वारा विहित व्रीहि जब प्राप्त नहीं होते, तो उनके स्थान पर नीवारों को अपना लिया जाता है। यह प्रतिनिधि-ग्रहण केवल दृष्ट अर्थ ही के स्थल में होता है-यहीं से सिद्ध प्रतिनिधि-परिग्रह न्याय लोक में भी सर्वथा प्रचलित है-जहां वादी प्रतिवादी अपने प्रतिनिधि के रूप में वकील को प्रस्तुत कर देते हैं और राजा भिन्न-भिन्न अधिकारियों को।

अतिदेश

षष्ठ अध्याय तक उपदेश से संबन्धित विषयों का निरूपण किया गया है। सप्तम से चलने वाले उत्तरषट्क में अतिदेश से सम्बन्धित

विषयों पर विचार किया जाता है। एक जगह सुने हुए अंगों को दूसरे स्थान पर पहुंचाने वाले शास्त्र को अतिदेश कहा जाता है। यह अतिदेश मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है–१–वचनातिदेश, २–नामातिदेश और चोदनालिंगातिदेश भेद से। जहाँ प्रत्यक्ष वचन से ही अतिदेश श्रुत होता है, उसे प्रत्यक्ष-वचनातिदेश कहा जाता है। जैसे-वैश्वदेव के वरुण-प्रधास नामक पर्व में "एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि" आदि वाक्य श्रुत हैं–जो सम्पूर्ण ब्राह्मण-विहित पदार्थों की "एतद्ब्राह्मणान्येव" इस प्रत्यक्ष वचन से प्राप्ति कराता है। नाम के सादृश्य पर जहाँ पदार्थों की प्राप्ति होती है–वहाँ नामातिदेश होता है। जिस प्रकार "उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य में श्रुत अग्निहोत्र यह नाम प्रसिद्ध अग्निहोत्र से धर्मों को आकृष्ट कर लेता है, इसलिए यह नामातिदेश है। शब्दगत या अर्थगत लिंग से सामान्य रूप से जहां पदार्थों की कल्पना की जाती है–वहाँ चोदनालिंगातिदेश होता है। जैसे-सौर्य याग में निर्वाप, एक देवता, औषध द्रव्य ये तीन लिंग हैं। ये सभी आग्नेय याग में भी है। इसलिए आग्नेय की समानता होने के कारण सौर्ययाग में इन सब धर्मों का अतिदेश हो जाता है। कहीं कहीं स्थानापत्ति और आश्रय से भी धर्मों का अतिदेश हो जाता है। इन तीनों अतिदेशों में प्रत्यक्षवचनातिदेश सबसे प्रबल है, क्योंकि वह, प्रत्यक्ष श्रुत वाक्य के आधार पर होता है। नामातिदेश उसकी अपेक्षा और चोदनालिंगातिदेश नामातिदेश की अपेक्षा भी दुर्बल है। यही अतिदेश सामान्य और विशेष रूप से सप्तम और अष्टम इन दोनों अध्यायों का विषय है।

ऊह

ऊह नवम अध्याय का विषय है। यह अतिदेश के बाद होता है–इसीलिए अतिदेश के निरूपण करने के अनन्तर इसकी चर्चा की जाती है। प्रकृति के पदार्थ विकृति में कार्य के मुख से प्राप्त हुए,

किन्तु जब विकृति में उस प्रकार का कार्य न होकर दूसरे प्रकार का कार्य होता है, तो उस आये हुए पदार्थ को उसी कार्य के अनुसार बनाकर जिस शास्त्र से ग्रहण किया जाता है–वह शास्त्र ऊह कहलाता है। यह ऊह तीन प्रकार का है–मंत्रोह, समोह और संस्कारोह भेद से। "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" यह निर्वापमंत्र जब सौर्य याग में अतिदेश से प्राप्त होता है, तो प्रकृत याग के देवता के प्रकाशन के लिए इस मंत्र में अग्नि के स्थान पर सूर्य का ग्रहण कर लिया जाता है इसी लिए यह मंत्रोह है। इसी तरह प्रकृति के साम में यदि आई भाव आदि रूप होते हैं, तो वे विकृति की स्थिति के अनुसार एकार आदि के रूप में बदल जाते हैं, यही सामोह है। प्रोक्षण आदि संस्कार व्रीहियों के स्थान पर आये हुये नीवार आदि के भी होते हैं—वे संस्कारोह के उदाहरण हैं। यह ऊह तभी होता है, जब कि हम संपूर्ण धर्मों को अपूर्व के लिए स्वीकार करते हैं।

बाध

बाध दशम अध्याय का विषय है–जिसका अभिप्राय निवृत्ति है। प्रकृति के अतिदेश से जिन अंगों की प्राप्ति संभव हो–उनका किसी भी कारण से विकृति में अनुष्ठान न होना बाध है। यह तीन निमित्तों से होता है–अर्थलोप से, प्रत्याम्नान से और प्रतिषेध से। जैसे "प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः" इस आयुष्काम इष्टि में द्रव्य के रूप में विहित कृष्णल (सोने के टुकड़े) व्रीहियों के स्थान पर हैं—इसीलिये व्रीहियों की तरह अतिदेश से उनका भी अवघात प्राप्त होता है। किन्तु वह यहाँ नहीं होता, क्योंकि यहाँ तुष नहीं होने के कारण अवघात का कोई प्रयोजन नहीं है। अवघात का यह बाध प्रयोजन के लोप से होने वाला बाध है। विकृति विशेष में "नैवारश्चरुर्भवति" ऐसा आम्नान है। इसके द्वारा अतिदेश से प्राप्त व्रीहियों का नीवार से बाध हो जाता है। यह बाध प्रत्याम्नान बाध का उदाहरण है। प्रतिषेध बाध

में अतिदेश से प्राप्त होतृवरण आदि की "नार्षेयं वृणीते, न होतारम्" आदि निषेध वाक्यों से निवृत्ति कराई जाती है। इन तीनों निमित्तों से होने वाला बाध प्राप्तबाध और अप्राप्त बाध ये दो भेद रखता है—जिसमें प्राप्तबाध दशम अध्याय और अप्राप्त बाध तृतीय अध्याय का विषय है।

तन्त्र

तन्त्र एकादश अध्याय का विषय है। अतिदेश से प्राप्त हुए पदार्थों की बाध और समुच्चय के द्वारा मात्रा निर्धारित हो जाने पर भी कहीं कहीं अनेक प्रधान जब एक साथ अनुष्ठित किये जाते हैं—तब उनके उद्देश्य से अंगों के एक अनुष्ठान ही को प्रयोग विधि बोधित करती है। यही एक बार अनुष्ठान तंत्र है—जिसको "अनेकों के उद्देश्य से अंगों का एक ही बार अनुष्ठान तंत्र है" इस रूप में परिभाषित किया जाता है। यह प्रकृति और विकृति दोनों में होता है। प्रकृति में दर्श और पूर्णमास के आग्नेय आदि तीनों यागों के उद्देश्य से प्रयाज और अनुयाज आदि का एक ही बार अनुष्ठान तंत्र के कारण होता है। इसी प्रकार विकृति में भी चातुर्मास्य के वैश्वदेव आदि पर्वों में प्राप्त आग्नेय आदि के उद्देश्य से अतिदिष्ट प्रयाज, अनुयाज आदि का एक ही बार अनुष्ठान होता है। इसीलिए प्रकृति और विकृति दोनों ही तंत्र के क्षेत्र हैं। इसी तरह कहीं कहीं विशेषताओं के कारण आवृत्ति भी होती है-जिसको आवाप के नाम से अभिहित किया जाता है।

प्रसंग

प्रसंग द्वादश अध्याय का विषय है। दूसरे से उपकार का लाभ हो जाने के कारण प्रयुक्त अंगों का अनुष्ठान न करना प्रसंग है। जिस प्रकार भोजन गुरु के लिए बनाया गया था और उसी समय दामाद आ गया, तो उसके स्वागत का काम भी उसी से हो गया और उसके लिए पृथक आयोजन नहीं करना पड़ा। वैदिक दृष्टि से पशुयाग के लिए

प्रयाज का अनुष्ठान किया, उसी से पशुपुरोडाश का भी उपकार हो गया। उसके लिए प्रयाज के पृथक अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रह गई। यही प्रसंग है। तंत्र में अनेकों के उद्देश्य से एक का अनुष्ठान किया जाता है, जब कि प्रसंग में दूसरे के लिए अनुष्ठित ही स्वयं का उपकार कर देता है। इस प्रकार ये बारह अध्यायों के बारह स्वतंत्र पदार्थ हैं जिनकी रूपरेखा इस स्तंभ में प्रस्तुत की गई है। विस्तृत ज्ञान के लिए महामहोपाध्याय श्री चिन्न स्वामी शास्त्री द्वारा रचित तत्रं–सिद्धान्त रत्नावली या शास्त्रदीपिका का अध्ययन करना चाहिए।

इन्हीं द्वादश अध्यायों के प्रकरण में संक्षेपशः उत्पत्तिविधि, बिनियोगविधि, प्रयोगविधि और अधिकारविधि इन विधि के प्रमुख भेदों का निरूपण किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भी अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि ये तीन विधि के प्रकार शैली की दृष्टि से अभिमत हैं। अपूर्व विधि में सर्वथा अप्राप्त अर्थ का बोध कराया जाता है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति"। इस विधि की प्रवृत्ति से पूर्व अग्निहोत्र सर्वथा अप्राप्त था। नियम विधि में पक्ष में अप्राप्त अर्थ की प्राप्ति कराई जाती है। "व्रीहीनवहन्ति" आदि विधियां इसके उदाहरण हैं। इस विधि के अभाव में व्रीहियों का तुष-विमोक (पुरोडाश बनाने के लिए) ऊखल, मुसल, पत्थर से कूटना, नाखूनों से छीलना आदि अनेक साधनों से प्राप्त होता है। पर इन सब साधनों का एक ही क्षण में तो उपयोग नहीं हो सकता। तब एक एक बार में एक एक को अपनाना होगा। जिस समय पत्थर से कूटना प्राप्त होगा, उस समय नखविदलन नहीं होगा और जिस समय नखविदलन प्राप्त होगा, उस समय अवहनन प्राप्त नहीं होगा। इस क्रम से अवहनन की भी कभी तो प्राप्ति हुई, पर वह पाक्षिक है। अर्थात् एक पक्ष में है और एक में नहीं है। जिस पक्ष में अवहनन की प्राप्ति नहीं है। उसको हटा कर यह विधि उसकी प्राप्ति कराती है अर्थात् सब पक्षों में अवहनन ही किया जाये। "अवघात से निष्पन्न तंडुल ही अपूर्व के उत्पादक हैं, अन्य साधन से निष्पन्न नहीं", यह नियम ऐसी दशा में इस

विधि के द्वारा सिद्ध होता है, इसी लिए इसे नियमविधि कहा जाता है। इस नियम का दृष्ट फल न हो कर केवल अदृष्ट फल ही है। परिसंख्या-विधि में एक ही स्थान पर दो अंगों को या दो कर्मों में एक अंग की एक साथ प्राप्ति होती है, उन दोनों में एक की निवृत्ति कराई जाती है। परिसंख्या का अर्थ वर्जन है। गृहमेधीय इष्टि में आज्यभाग और अन्य अंगों की एक साथ प्राप्ति हुई-उसको "आज्यभागौ यजति" इस विधि ने केवल आज्यभाग तक ही सीमित कर अन्य अंगों की व्यावृत्ति करा दी, इसलिए यह विधि परिसंख्याविधि हुई। लाक्षणिक और श्रौत ये दो इसके मुख्य प्रकार हैं-जिनमें लाक्षणिक परिसंख्या स्वार्थहानि, परार्थ-स्वीकार और प्राप्तबाध इन तीन दोषों से ग्रस्त होती है, पर श्रौती परि-संख्या में ये दोष नहीं होते। इन्हीं[१] अभिप्रायों को सूत्ररूप में वार्तिक-कार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है "विधिरत्यन्तमप्राप्ते, नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्ते, परिसंख्येति गीयते"। नियमविधि सत्ता का बोध कराती है, जब कि परिसंख्याविधि वर्जित करती है। यही इन दोनों में मौलिक अंतर है। "सोमेन यजेत" आदि स्थलों में विशिष्ट-विधि भी मानी जाती है।

उपसंहार

ये तीनों कांड मीमांसा-दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखाओं के परिचायक हैं। विचार-कांड इस दर्शन की औपरिक रूपरेखा है, तो ज्ञान और कर्मकांड इसके आन्तरिक स्वरूप के संकलन हैं। ये तीनों मिल कर यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि यह दर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा कितना विशाल और विचार-प्रधान है। इसके अध्ययन के लिए विस्तृत विचार-शक्ति के साथ साथ गंभीर वैदुष्य की भी आवश्यकता है। कर्म-कांड का विषय आज के युग में ज्ञान-कांड के विषय से भी अधिक दुर्भर हो गया

१—विधि-भाग के विशेष मनन के लिए अप्पय्य दीक्षित जी का "विधि रसायन" पढ़ना चाहिए

है—यह हमारा दुर्भाग्य है। एक वह युग था—जब कि हमारे देश के घर घर की स्त्रियां तक चाकी, चूल्हे के संपूर्ण साधनों की तरह इसके विषय पर पूर्ण अधिकार रखती थीं। घर घर में यज्ञ, याग का प्रचार था। स्थान स्थान पर इस विषय का प्रायोगिक स्वरूप देखने को मिलता था। आज यह केवल शास्त्र-चर्चा का विषय रह गया है—यही इसकी कठिनता का मौलिक कारण है। कर्म-कांड के अध्ययन से पूर्व उन उन वैदिक शाखाओं का व्यापक अध्ययन अनिवार्य है और उसी के द्वारा इस विषय की गहराई तक पहुँचा जा सकता है। विशेष रूप से यदि विचार किया जाये, तब तो इसका ज्ञानभाग भी इसी भाग पर अवलंबित है, क्योंकि यही इसका प्रतिपाद्य है। मीमांसकों ने इस कर्म-कांड के प्रतिपादन के अतिरिक्त वेद का कोई प्रतिपाद्य ही नहीं माना, किन्तु उनका यह कर्म-कांड कोई छोटा मोटा विषय नहीं है, अपितु इसमें संपूर्ण ज्ञान विज्ञान और संपन्नताओं का समावेश है। इसीलिए हमारे यहाँ के महान् विचारकों ने इसे अपने जीवन के सर्वस्व के रूप में संमानित किया है। गीता और उसका कर्म-योग इसी समान का ज्वलन्त प्रतीक है। उपनिषद् आदि के द्वारा भी आत्मा की स्तुति कर इसी के कर्ता को प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार यथार्थ कर्म में आदर्श ज्ञान का समन्वय कर इस दर्शन ने दर्शनों के क्षेत्र में एक अपूर्व और महनीय प्रतिष्ठा प्राप्त की है—इसमें कोई संशय नहीं। इसके द्वारा यह स्पष्ट उद्घोषित कर दिया गया है कि दर्शन केवल कन्दराओं में बैठ कर चिन्तन करने का विषय नहीं है, अपितु उसे कर्म से भी देखा जा सकता है। इसी कर्म में संपूर्ण दार्शनिक स्वरूप की प्रतिष्ठा इस दर्शन की सबसे बडी देन है—जिसका संक्षिप्त संकलन यह ग्रन्थ है।